विज्ञान

और

व्यावहारिक ज्ञान

जेम्स बी० कॉनेण्ट

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6

VIGYAN AUR VYAVHARIK GYAN
(Hindi version of 'Science and Common Sense')
by
James B. Conant
Translated by
Vishwa Mitra Sharma
Edited by
Ramesh Verma

Rs.

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6
शाखाएँ
हौज खास, नई दिल्ली
माई हीरां गेट, जालन्धर
चौड़ा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
नीलकंठ कॉलोनी, इन्दौर
महानगर, लखनऊ

10=00

मूल्य : सात रुपया पचास नए पैसे
प्रथम संस्करण : 1962

मुद्रक
एवरेस्ट प्रेस
4, चमेलियान रोड
दिल्ली-6

प्राक्कथन

येल विश्वविद्यालय में 1946 के दौरान एक 'टैरी व्याख्यान-माला' का आयोजन किया गया था और मुझे उसके अन्तर्गत व्याख्यान देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैंने अपने व्याख्यानों में एक इस प्रश्न की विवेचना की थी कि हम अपने उन कॉलेजी विद्यार्थियों की विज्ञान सम्बन्धी समझ कैसे और अच्छी बना सकते हैं जो आगे चलकर वैज्ञानिक बनने की कोई चाह नहीं रखते और जिनकी विज्ञान की जानकारी कालिजों में प्रकृति-विज्ञान के अधिक से अधिक एक-दो पाठ्यक्रमों तक ही सीमित रहती है। शिक्षण सम्बन्धी यह समस्या देखने में बड़ी आसान लगती है, पर है सचमुच कठिन। मैंने इस समस्या का एक हल पेश किया था। उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता : उनको विज्ञान की 'कार्य-पद्धति और संयोजना' के बुनियादी सिद्धान्त सिखाए जाएँ और उसे सिखाने के लिए उनके सामने वैज्ञानिकों के जीवन और कृतित्व को वृतान्त के रूप में पेश किया जाये। इससे मेरा तात्पर्य क्या था ?—यह समझाने के लिए गालवेनी मुझे नमूने के तौर पर कुछ वृतान्तों के उदाहरण भी संक्षेप में देने पड़े थे—जैसे वातिकी ('न्यूमैटिक्स') के क्षेत्र में रावर्ट बॉयल के कृतित्व, विद्युत के क्षेत्र में गालवेनी और वोल्टा द्वारा की गई खोजों और लावासिये द्वारा रसायन-विज्ञान के क्षेत्र में लाई गई क्रान्ति को वृतान्तों के रूप में पेश करना। मैंने अपनी एक छोटी-सी पुस्तिका में वैज्ञानिकों

के जीवन तथा कृतित्व के इन वृतान्तों की एक रूपरेखा के साथ-साथ, विज्ञान की कार्य-पद्धति और संयोजना की अपनी व्याख्या भी जनता के सामने रखी थी पुस्तिका का नाम था : **'ऑन अन्डरस्टैंडिंग साइंस, एन हिस्टारिकल एप्रोच' (विज्ञान की समझ के सम्बन्ध में, एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण)** ।

फिर, आज से लगभग बारह महीने पहले उस पुस्तिका का द्वितीय संस्करण तैयार करने का प्रश्न उठा । तब तक यह बिलकुल स्पष्ट हो गया था कि प्रथम संस्करण के संशोधनभर से काम नहीं चलेगा ।

मैंने उस पुस्तिका में अपने दो लक्ष्य रखे थे । मैंने सामान्य पाठकों में विज्ञान की पद्धति की थोड़ी-बहुत समझ पैदा करने के साथ ही, यह कोशिश भी की थी कि एक विशेष प्रकार का शिक्षण देने के तरीकों की एक रूपरेखा कालिजों के शिक्षकों के लिए तैयार की जाए ।

लेकिन अब समय बदल चुका है । और, विज्ञान से सीधा सम्बन्ध न रखने वाले लोगों को विज्ञान की शिक्षा देने के मेरे उस प्रस्ताव पर अब यदि आज आगे विचार करना हो, तो गत पाँच वर्षों के दौरान विज्ञान के क्षेत्र में कॉलेजी स्तर पर जो प्रगति हुई है, उस सबको भी लेखना पड़ेगा । लेकिन उस प्रगति का विवरण जुटाने के सिलसिले में शिक्षण सम्बन्धी कुछ ऐसा ब्यौरा भी जुटाना पड़ेगा, जिसमें शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य किसी को कोई दिलचस्पी नहीं होगी । और फिर, मैंने पिछले तीन वर्षों के दौरान हार्वर्ड कालिज में सामान्य शिक्षा के साथ प्रकृति-विज्ञान पढ़ाने के कार्यक्रम के अन्तर्गत स्नातक-पूर्व (अन्डर-ग्रेजुएट) पाठ्यक्रम पढ़ाने का कुछ अनुभव भी प्राप्त कर लिया है । उस अनुभव ने विज्ञान की कार्य-पद्धति सम्बन्धी मेरे विचारों में थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया है और पर्याप्त ठोस सामग्री जुटा दी है ।

मैंने इसीलिए दो लक्ष्यों को एक साथ लेकर चलने वाली, दो भिन्न प्रकार के पाठकों के लिए लिखी गई उस छोटी पुस्तिका को ही संशोधित और परि-वर्द्धित करने का विचार त्याग दिया और उसके बजाय विज्ञान की पद्धति के बारे में सामान्य पाठकों के लिए एक अधिक बड़ी पुस्तक तैयार करने का संकल्प किया । मैंने इस पुस्तक में अपनी पिछली पुस्तिका—**'ऑन अन्डर-स्टैंडिंग साइंस'**—के वे अंश शामिल कर लिए हैं जो विज्ञान की कार्य-पद्धति और संयोजना सम्बन्धी मेरे नए विचारों से मेल खाते थे । विज्ञान की शिक्षण-पद्धति से सम्बन्धित सभी अंशों को छोड़ दिया गया है । लेकिन जो पाठक कृतित्व और जीवन के वृत्तान्तों के जरिये विज्ञान तथा वैज्ञानिकों के बारे में ज्यादा समझ पैदा करने के लिए चलाए जाने वाले नौसीखिओं के पाठ्यक्रमों के

विकास में रुचि लेते हों, वे 'हार्वर्ड केस-हिस्ट्रीज़ इन एक्सपेरिमेन्टल साइंस' नामक ग्रन्थ अवश्य देखें। हार्वर्ड के उस पाठ्यक्रम के साथ मेरा नाम भी जुड़ा हुआ है। इस पुस्तक में उस पाठ्यक्रम को भी लिया गया है, लेकिन उतने विस्तृत और विशद रूप में नहीं। फिर भी, आशा है कि यह पुस्तक काम-धन्धों में अत्यधिक व्यस्त नागरिकों को भी वैज्ञानिकों के काम करने के तरीकों की खासी जानकारी करा सकेगी।

किसी चीज़ को सामान्य पाठकों के सामने जिस ढंग से पेश किया जाता है, वह कॉलेजी कक्षाओं के लिए उपयुक्त ढंग से सर्वथा भिन्न होता है। पुरानी कहावत है कि "सारा सीखा-पढ़ा भूल चुकने के वाद जो बच रहे वही शिक्षा है।" यह कहावत अध्ययन की एक बड़ी श्रम-साध्य प्रक्रिया की ओर इंगित करती है। लेकिन उस श्रम-साध्य अध्ययन के विना, कालिजों के पाठ्यक्रम भी प्रभाव की दृष्टि से उतने ही क्षण-स्थायी हो जाएँगे जितने कि महिला क्लबों में दिए गए भाषण हुआ करते हैं। परन्तु सामान्य पाठकों से तो उतने श्रम-साध्य अध्ययन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके लिए तो दूसरा ही ढंग अपनाया जाना चाहिए। उनके सामने तो एक रूपरेखा-भर रखी जानी चाहिए। फिर यदि उनके पास पर्याप्त अवकाश हो और वे चाहें तो स्वयं अपने अनुसन्धानों या विशेषज्ञों से चर्चाओं या पुस्तकों के अध्ययन द्वारा उसकी और अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

इसके दसवें अध्याय (**'स्टडी ऑफ दि' पास्ट'**) के अतिरिक्त, शेष सारी पुस्तक में जितने भी विचारों का खुलासा किया गया है और जो तकनीकी सामग्री पेश की गई है उसका अधिकांश मैं स्नातक-पूर्व (अन्डर-ग्रेजुएट) विद्यार्थियों के सामने वार-बार रख चुका हूँ। मुझे उसका कई बार का अनुभव है। इस-लिए यह कहने की जरूरत नहीं रह जाती कि उस अनुभव के परिणामस्वरूप मेरे अपने विचारों ही नहीं, उनको पेश करने के तरीके में भी कई बार काफी रद्दोवदल की जा चुकी है। इसलिए यह पुस्तक शिक्षकों पर विद्यार्थियों के प्रभाव को व्यक्त करती है, वल्कि कहना चाहिए कि यह पुस्तक लेखक पर कई शिक्षकों के प्रभाव का परिणाम है। मुझे हार्वर्ड में अपने तीन वर्षों के कार्य-काल में साप्ताहिक भोज के अवसरों पर अपने उन सहयोगी प्राध्यापकों के साथ चर्चा करने के अवसर बहुधा मिलते रहे जिन्होंने प्रकृति विज्ञान के इस पाठ्य-क्रम की तैयारी में हाथ बँटाया है। 'टैरी व्याख्यान-माला' में प्रस्तुत मेरे विचारों में जो थोड़ा परिवर्तन हुआ है, इस पुस्तक में जो भी कुछ नया है, वह उन वैठकों में हुए विचारों के आदान-प्रदान का ही परिणाम है। उनमें से

विज्ञान और अमरीकी नागरिक

परीक्षणात्मक विज्ञान की प्रणालियों के सम्बन्ध में यह एक प्रारम्भिक पुस्तक है। इसके पाठक से आशा की जाती है कि वैज्ञानिक की अनुसन्धान-शाला की क्रियाविधि में उसकी रुचि तो अवश्य है, परन्तु प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्तों से परिचय-मात्र है। पुस्तक का ध्येय है कि पाठक समझ सकें कि भौतिकशास्त्री, रसायनज्ञ, जीवरसायनज्ञ और परीक्षणात्मक जीव-विज्ञानशास्त्री अपनी समस्याओं का समाधान किस प्रकार करते हैं और जान सकें कि उनके प्रयत्न किस प्रकार यंत्र, कृपि और औपध-विज्ञान की उन्नति से सम्बन्धित हैं।

दूसरे शब्दों में परीक्षणात्मक विज्ञान की प्रणालियों के सम्बन्ध में यह पुस्तक साधारण नागरिक के लिए पथ-प्रदर्शक का काम करेगी। आगे दी गई व्याख्या उस प्रवुद्ध नागरिक के लिए है, जो मतदाता के रूप में संसद् की वैज्ञानिक मामलों से सम्बन्धित गतिविधियों में काफी सीमा तक रुचि रखता है। यह व्याख्या वकील, बैंकर, उद्योगपति, सरकारी अफसर, राजनीतिज्ञ अथवा पत्र-कार के लिए भी है जो बीसवीं शताब्दी की रोजमर्रा की कठिनाइयों में बुरी तरह फंसे हुए हैं। हम सभी का वैज्ञानिकों के कार्यों अथवा उनके कार्य के परिणामों से प्रतिदिन वास्ता पड़ता है। उद्योगों, चिकित्सालयों, परीक्षण-केन्द्रों और विश्वविद्यालयों में प्रतिवर्प ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनमें 'गवेपणा' और 'विकास' अथवा 'वैज्ञानिक परीक्षण' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन शब्दों के साथ-साथ 'वजट' और 'कीमत' जैसे कम आकर्षक शब्दों का भी प्रयोग होता है। वैज्ञानिक प्रशिक्षण के बिना किसी भी व्यक्ति के लिए यह जानना कठिन होता है कि रसायनज्ञ, चिकित्सक अथवा इंजीनियर किसी योजना में धन व्यय करने के लिए जो दलीलें दे रहा है, वे उचित भी हैं या नहीं। व्यापार-केन्द्रों के निदेशक-संघों, चिकित्सालयों, विश्वविद्यालयों के संरक्षकों, राज्य अधि-कारियों और संसद् के सदस्यों द्वारा प्रतिदिन किये जाने वाले निर्णयों के प्रति भी यही बात सही है।

किसी व्यक्ति को किसी विपय के विशेषज्ञ जैसा योग्य बनाने के लिए कोई जादू नहीं किया जा सकता, परन्तु लम्बे अनुभव द्वारा परीक्षणों में लगे

वैज्ञानिक के कार्य करने की रीति-नीति और समस्याओं को सुलझाने के ढंग को समझना सम्भव है। अनेक अमरीकी नागरिकों ने अपने जीवन-व्यापार से सम्वन्धित आधुनिक विज्ञान के पहलू को समझने की क्षमता स्वयं उपार्जित ज्ञान द्वारा प्राप्त कर ली है। कुछ घटनाओं की स्थायी छापें उनके दिमाग पर लग गयी हैं, जो उनके लिए स्थिर विन्दुओं का काम देती हैं। वे एक तरह के मान-चित्र का काम देती हैं, जिसके द्वारा वे वैज्ञानिक की हर योजना की परख कर सकते हैं।

अपना व्यावसायिक जीवन आरम्भ करने वाले लोगों के लिए, विज्ञान की प्रणालियों के सम्वन्ध में आगे दी गई व्याख्या उपयोगी सिद्ध होगी। दूसरे लोगों को भी, जिन्हें काफी क्रियात्मक अनुभव तो है, परन्तु वैज्ञानिकों अथवा इंजीनियरों के कार्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, आधुनिक विज्ञान की प्रणालियों की झलक मिल जायगी। वे उस विवेक बुद्धि का भी कुछ परिचय प्राप्त करेंगे, जो थोड़े से साधारण व्यक्तियों में अनेक वर्षो की विशेष जिम्मेदारियों के कारण उत्पन्न हो चुकी है। और प्रत्येक ओजस्वी तथा महत्त्वाकांक्षी अमरीकी नागरिक में अपने समाज का नेता बनने और अन्तिम निर्णयों और व्यय का उत्तरदायित्व वहन करने की संभावनाएँ हैं। जन-स्वास्थ्य के कामों में प्रवन्धक अथवा मज़दूरों के नेता की हैसियत से व्यापार में उसे विज्ञान अथवा उसके उपयोगों से सम्वन्धित मामलों में नीति निर्धारित करने में कठिनाई आ सकती है; अथवा संभव है कि सामान्य मतदाता के रूप में, गवेषणा और विकास की महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय योजनाओं में, जिन पर जनता का धन व्यय होता है, उसे अपनी सम्मति देनी पड़े। 1951 से शुरू होने वाले दशक के दुःखद दिनों में अस्त्र-शस्त्रों के विकास को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। हम चाहें या न चाहें, परन्तु हम ऐसे युग में हैं जिसमें पग-पग पर वैज्ञानिक परीक्षणों के फलस्वरूप निर्मित चीजों से हमारा वास्ता पड़ता है। हम वैज्ञानिक उपलब्धियों से घृणा कर सकते हैं, उनके विचार मात्र से काँप सकते हैं, अपने किसी प्रियजन को उनके द्वारा किसी कष्ट से आराम मिलने अथवा मृत्यु के मुख से वच जाने पर उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, लेकिन एक काम नहीं कर सकते—उन्हें समाप्त नहीं कर सकते। इसलिए इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रहने वाले प्रत्येक अमरीकी नागरिक का कल्याण इसी में है कि वह विज्ञान और वैज्ञानिकों को यथासम्भव समझने का यत्न करे।

प्रश्न हो सकता है कि सामान्य व्यक्ति की विज्ञान सम्बन्धी समझ की

वात से मेरा क्या अभिप्राय है। मैं इसका उत्तर बताता हूँ। यह मेरे अपने अनुभव की वात है। परीक्षणात्मक विज्ञान के किसी क्षेत्र में शोध करने में सफल व्यक्ति विशुद्ध अथवा रचनात्मक विज्ञान की समस्या का समाधान भी, फिर चाहे उस क्षेत्र में उसका ज्ञान शून्य हो, एक विशिष्ट दृष्टिकोण से ही पाने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टिकोण को हम 'विज्ञान की समझ' कह सकते हैं। यह वात ध्यान देने योग्य है कि जिस नवीन क्षेत्र में वह प्रवेश करता है उसके वैज्ञानिक तथ्यों और कार्यविधियों का कोई सम्वन्ध 'विज्ञान की समझ' के साथ नहीं है। अत्यधिक शिक्षित और समझदार व्यक्ति भी, अनुसन्धान-अनुभव के अभाव में, किसी विशिष्ट समस्या से सम्वन्धित वाद-विवाद के आवश्यक तथ्यों को समझने में असफल रहेगा। इसका कारण यह नहीं है कि उस साधारण नागरिक के पास वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है अथवा वह वैज्ञानिकों की पारिभाषिक शव्दावली को समझने में असमर्थ है। इसका कारण वहुत हद तक यह है कि उसको मूल रूप से इस वात का ज्ञान नहीं है कि विज्ञान क्या कर सकता है और क्या नहीं। फलतः भविष्य की किसी अनुसन्धान योजना सम्वन्धी विचार-विमर्श के समय वह उलझन में पड़ जाता है। विज्ञान की गतिविधि और रीति-नीति उसके मन में 'उतर' नहीं पाती।

पिछले दस वर्षों में मुझको साधारण व्यक्तियों की ऐसी उलझनों के अनेक उदाहरण मिले हैं। यदि मेरा यह विचार ठीक है (और इस पुस्तक को लिखने की मूल धारणा यही है) तो इस त्रुटि को दूर करने का उपाय यह नहीं है कि गैर-वैज्ञानिकों में विज्ञान सम्वन्धी जानकारी अधिकाधिक वढ़ायी जाय। विज्ञान के वारे में अच्छी जानकारी होना एक वात है और विज्ञान सम्वन्धी समझ विल्कुल दूसरी वात, यद्यपि इन दोनों वातों में परस्पर विरोधाभास नहीं है। आवश्यकता ऐसी विधियों की है जिनसे विज्ञान सम्वन्धी रीति-नीति और मंतव्य के विषय में उन लोगों को जानकारी हो सके जो वैज्ञानिक नहीं। किसी गैर-वैज्ञानिक व्यक्ति के मस्तिष्क में वैज्ञानिक समस्याओं के प्रति वैज्ञानिकों जैसी स्वाभाविक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने का कोई सीधा सरल रास्ता नहीं है ; फिर भी मुझे विश्वास है कि विज्ञान का ही व्यवसाय करने के कारण विज्ञान को समझने वाले लोगों और केवल वैज्ञानिक खोज के परिणामों का अध्ययन करने वाले वुद्धिमान व्यक्तियों अर्थात् सामान्यजन के वीच की खाई को काफी हद तक पाटा जा सकता है।

इस कार्य को करने का एक ढंग यह है कि हरेक व्यक्ति कुछ वर्षों का समय वैज्ञानिक संस्थानों में व्यतीत करे। जैसे, छः महीने किसी वड़ी रसायन कम्पनी

की अनुसन्धानशाला के मुखिया के साथ बिताये, फिर बिजली उद्योग की किसी अनुसन्धानशाला में चला जाये, तब किसी विश्वविद्यालय की भौतिकी या रसायन की प्रयोगशाला और अन्त में किसी चिकित्सालय अथवा कोयले के प्रयोग के सम्बन्ध में नये उपायों की खोज करने वाली इंजीनियरिंग संस्थाओं में चला जाय। वैज्ञानिक को कार्यरत देखने की अनेक योजनाएँ आसानी से बनायी जा सकती हैं। इन योजनाओं की छोटी-छोटी बातों में भेद हो सकता है। इस बात पर भी विवाद हो सकता है कि अधिक समय विश्वविद्यालयों में लगाना उचित होगा अथवा औद्योगिक अनुसंधानशालाएँ अधिक उपयोगी होंगी। परन्तु हम सब इस बात पर अवश्य एकमत हो सकते हैं कि इस विधि से एक व्यक्ति जिसे भौतिक, रसायन और जीव-विज्ञान आदि विषयों का हाई स्कूल के स्तर तक का भी ज्ञान नहीं, कुछ वर्षों में विज्ञान और उसकी प्रणालियों को समझने की योग्यता प्राप्त कर लेगा।

परन्तु दुर्भाग्य से इस काम में समय बहुत लगता है। इसके अतिरिक्त कुछ और दूसरी कठिनाइयाँ भी हैं। दर्शक किसी भी प्रयोगशाला में भारी सिरदर्द साबित हो सकते हैं। फिर काफी लम्बे-लम्बे समय तक वहाँ दर्शकों की दिलचस्पी की कोई बात ही नहीं होती। इसके अलावा हमें कोई ऐसा ढंग अपनाना होगा कि दर्शक कुछ खास दिनों में ही प्रयोगशालाओं में जाएँ और वहाँ जाकर ऐसे बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्न ही पूछें, जिनका उत्तर वैज्ञानिक धैर्यपूर्वक दें। और उत्तर देने में ही उनके समय का अपव्यय न हो जाय। और सचमुच हमें कोई ऐसा जादू करना पड़ेगा कि जो व्यक्ति पहली बार के परीक्षण के समय प्रयोगशाला में उपस्थित नहीं रह सके, उनके लिये पुनः सम्पूर्ण व्यवस्था हो जाय। यथा हम विद्यार्थियों को एक से अधिक बार शिक्षा सम्बन्धी चलचित्र दिखा सकते हैं।

परन्तु इस प्रकार की कल्पना पर मैंने आवश्यकता से अधिक बल दिया है। इस पुस्तक के अध्यायों के शीर्षकों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि मेरा मन्तव्य क्या है। विज्ञान सम्बन्धी इतिहास की कुछ पुरानी घटनाएँ पाठकों के सामने रखकर मैं प्रयोगशालाओं के उपरोक्त अद्भुत दौरे के बराबर वज़न का ही काम करने जा रहा हूँ। 'बराबर वज़न' आवश्यकता से अधिक जोरदार है। कहना यह चाहिए कि विभिन्न प्रयोगशालाओं के दौरे से जैसा अनुभव प्राप्त होता है, बहुत कुछ वैसा ही अनुभव उन प्रणालियों पर विचार द्वारा भी किया जा सकता है जिनके द्वारा वैज्ञानिकों ने ज्ञान में वृद्धि की है। आखिर जितना समय लगाया जाएगा उसके अनुसार उतना ज्ञान अथवा समझ तो प्राप्त

होगी ही। अनेक व्यक्ति आपत्ति कर सकते हैं (जैसा कि अनेक व्यक्ति पहले कर चुके हैं) कि मेरे उदाहरण उस समय के हैं जब विज्ञान की वह शाखा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी, और मैं उन्हें इतिहास की बातें बता रहा हूँ जबकि आवश्यकता विज्ञान की वर्तमान जानकारी की है। ऐसे लोगों के लिये मेरा उत्तर है कि विज्ञान की प्रणालियाँ आज भी वही हैं जो पहले थीं और केवल ऐतिहासिक बातें बताकर ही सरल व्याख्या पेश की जा सकती है।

वैज्ञानिक अथवा उसके काम में रुचि रखने वालों (अथवा वैज्ञानिक द्वारा धन की माँग करने पर उसके कार्य का मूल्याँकन करने वालों) के लिए महत्त्व वर्तमान का नहीं, भविष्य का है। इसी बात पर इस पुस्तक में आद्योपान्त विशेष ज़ोर दिया गया है। वर्तमान वैज्ञानिक जानकारी केवल विश्वकोश रचयिताओं की दिलचस्पी की होती है। यदि काम करने के नये उपायों की खोज और गवेषणा को एकाएक त्याग दिया जाय तो नागरिक और वैज्ञानिक दोनों की ही दिलचस्पी समाप्त हो जाएगी। हमारे आधुनिक काल में विज्ञान का महत्त्व यही है कि असंख्य प्रयोगशालाओं, कारखानों और चिकित्सालयों में प्रतिदिन कुछ न कुछ हो रहा है। यह नये कार्य इसलिये हो रहे हैं क्योंकि गत तीन सौ वर्षों में मानवीय व्यवहार के कुछ जटिल ढाँचे बन चुके हैं। इन्हीं को हम परीक्षणात्मक विज्ञान की प्रणालियाँ कह सकते हैं। आधुनिक विज्ञान के अत्यधिक जटिल ढाँचे के किसी एक उप-विभाग की जटिल रूपरेखा को सुलझाना बड़ा मुश्किल काम है—एक पुस्तक में पूरा करना तो सर्वथा असम्भव ही है। परन्तु एक क्षेत्र के इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओं की महत्त्वपूर्ण प्रगति के अध्ययन से आधुनिक विज्ञान की उलझनों से उत्पन्न भ्रमों से कुछ हद तक हम बच सकते हैं। निस्सन्देह, ऐसा करते वक्त भूल जाने की पूरी सम्भावना है कि आज का विज्ञान एक घने ताने-बाने के समान है, जिसमें अनेक सूत्र अपना-अपना लम्बा और पृथक् इतिहास लिये हुए एक दूसरे का समर्थन करते हैं। हम अपने समय से पहले के दिनों का कोई सरल उदाहरण लेकर अपनी शताब्दी के छठवें दशक की वर्तमान स्थिति की बात करते रहेंगे।

वैज्ञानिक जाँच की परम्पराएँ

इस समय जो महत्त्वपूर्ण विवाद चल रहे हैं उनमें एक यह है कि जिन विधियों के उपयोग से भौतिकी और जैविकी में अद्भुत परिणाम प्राप्त हुए हैं उन्हें किस सीमा तक अन्य मानवीय गतिविधियों में प्रयुक्त किया जा सकता है।

निम्न प्रश्नों पर विद्वान और गम्भीर व्यक्तियों में मतभेद है—क्या मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक रूप से लागू होने वाली वैज्ञानिक प्रणाली जैसी कोई चीज़ है ? क्या सामाजिक विज्ञानों को वास्तव में विज्ञान कहा जा सकता है ?

इन और इनसे सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर स्वतन्त्र राष्ट्रों के भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। एक ओर हमारी शिक्षा सम्बन्धी कार्यविधियाँ और दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति हमारे सामूहिक कार्य, इस तथ्य पर निर्भर होंगे कि सामाजिक विज्ञानों के भविष्य को हम क्या समझते हैं। स्पष्ट है कि यदि कोई सामान्य व्यक्ति भौतिकी, रसायन और जैविकी की प्रणालियों तथा शिक्षा अथवा मानवीय समस्याओं की जाँच के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझना चाहता है तो उसे उन प्रणालियों को भी अवश्य समझना होगा। प्राकृतिक विज्ञान की प्रणालियों के सम्बन्ध में प्रचलित विचारों के स्पष्टीकरण की भी अत्यधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि सब प्रकार की मानवीय समस्याओं के अध्ययन और समाधान के लिए तर्कसंगत विधियों के उपयोग के ढंगों पर श्रेष्ठतर विचार-विमर्श का आधार तैयार किया जा सके।

एक चरमस्थिति, जिसे अनेक वर्षों के दौरान ज़ोर डालकर बनाये रखा गया है, तो यह है कि वैज्ञानिक विधि को सभी सापेक्षतः निष्पक्ष एवं तर्कसंगत अनुसंधान-विधियों के समकक्ष माना जाय। उदाहरणतः, 60 वर्ष से कुछ अधिक समय पूर्व अपनी 'ग्रामर आफ साइन्स' (Grammar of Science) में कार्ल पिअर्सन ने घोषित किया था कि 'आधुनिक विज्ञान चूँकि तथ्यों के निष्पक्ष और सही विवेचन के लिए मस्तिष्क को प्रशिक्षित करता है, इसलिए सुदृढ़ नागरिकता को प्रोत्साहित करने में सर्वाधिक अनुकूल ज्ञान है।' उन्होंने साधारणतः व्यस्त रहने वाले मामूली आदमी के लिए सुझाव भी रखे थे ; कहा था कि, जन-साधारण को कुछ तथ्यों का ज्ञान, उनके आपसी सम्बन्धों की पहचान, तथा उनके अनुक्रम को वैज्ञानिक ढंग से व्यक्त करने वाले सूत्रों और नियमों का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार मस्तिष्क वैज्ञानिक प्रणाली से परिचित हो जाता है और कोई निष्कर्ष स्थिर करते समय व्यक्तिगत पूर्वाग्रह से स्वतन्त्र होता है—और हमने देखा है, आदर्श नागरिकता के लिए यह एक आवश्यकता है। वैज्ञानिक प्रशिक्षण का प्रथम दावा है कि वह कार्यविधि की शिक्षा देता है। यह मेरे विचार में बहुत जोरदार दावा है और उसे समर्थन मिलना चाहिए।'

वैज्ञानिक प्रणाली के सम्वन्ध में श्री पिअर्सन के बयान से अपने मतभेद का उल्लेख मैं वाद में करूँगा। इस समय हमें अपना ध्यान उनकी पुस्तक के प्रथम भाग में निहित दो वातों पर लगाना है। प्रथम यह कि तथ्यों का सही और निष्पक्ष विवेचन केवल विज्ञान के क्षेत्र में सम्भव है ; तथा दूसरे, इस प्रकार के अनुशासन से ऐसी मानसिक प्रवृत्ति का निर्माण होगा जो सव मामलों में निष्पक्ष विवेचन कर सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विज्ञान सम्बन्धी जाँच के लिए यह आवश्यक है कि तथ्यों का सही और निष्पक्ष विवेचन किया जाय। परन्तु इस दृष्टिकोण का आविष्कार उन लोगों ने नहीं किया था जिन्होंने वैज्ञानिक अनुसंधान का सूत्रपात किया था। और इस वात की सर्वोपरि महत्ता भी एकदम नहीं स्वीकार की गई। प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञान की हर शाखा की अरिपक्वावस्थाओं में तर्कसंगत विचारों के वजाय आवेशपूर्ण वाग्युद्ध अधिक लिखे गये। यदि मैं ठीक समझता हूँ तो सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में ही यह भावना क्रमशः विकसित हुई कि वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ता को प्रयोगशाला में घुसते ही अपने पर आत्मानुशासन लागू करना चाहिए। प्रत्येक नई पीढ़ी यह अनुभव करती गई कि किस प्रकार उसके पूर्ववर्तियों के पूर्वाग्रह और मिथ्याभिमान उन्नति के मार्ग में विघ्न बने रहे हैं, और यथार्थता एवं निष्पक्षता के मानदण्ड क्रमशः उन्नत होते गये। परन्तु जब तक विज्ञान शौक मात्र रहा—जैसा कि 19 वीं शताब्दी तक था—प्रत्येक अनुसंधानकर्त्ता अपनी खोजों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता रहा। वह अपनी खोज को अन्य अनुसंधानकर्त्ताओं की खोजों से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता था और यदि इस दौरान उसकी खोज का महत्त्व कुछ अधिक हो जाता तो विरोधी को फौरन परले सिरे का झूठा करार दिया जाता था।

विज्ञान-संस्थाओं के निर्माण, उनके वढ़ते हुए महत्त्व और विज्ञान को विशेष वृत्ति मानने की भावना के उदय से धीरे-धीरे वातावरण में परिवर्तन आया। गैलीलियों के उदाहरण से शिक्षा लेकर कुछ असाधारण प्रतिभावान व्यक्तियों ने आत्मनियन्त्रण की आवश्यकता को समझा और उनकी यह प्रवृत्ति ही कसौटी वन गई। राजनीति अथवा धर्म सम्वन्धी शास्त्रार्थों में प्रयुक्त विधियों का उपयोग 'दर्शन' सम्बन्धी शास्त्रार्थों में भी करने वाले व्यक्ति का स्थान आधुनिक वैज्ञानिक ने ले लिया जो अलंकारिक भापा द्वारा अपने प्रतिपक्षी को अपनी बात मनवाने या निन्दा द्वारा उसे अपने क्षेत्र से निकालने पर विश्वास नहीं करता।

आज उसके निर्णायिकों में अनेक सुविज्ञ जन शामिल हैं, जिनके सामने कम से कम भावुकतापूर्ण केवल तथ्यपूर्ण रिपोर्ट ही उपस्थित करनी होती है। यहाँ मैं उन्हीं वैज्ञानिकों की बात कर रहा हूँ जिन्हें दूसरे वैज्ञानिकों के सामने ही अपनी बात रखनी है। विज्ञान की लोकप्रियता बढ़ाने वाले महान व्यक्तियों (जैसे, हक्सले) के लिए यह बात नहीं है, क्योंकि वे तो वास्तव में शिक्षाशास्त्री हैं।

प्रस्तुत समाज-शास्त्रीय वातावरण के कारण प्राकृतिक विज्ञानों में भी यह बात बहुत सरल हो गई है कि भावनात्मक रूप से असंतुलित व्यक्ति भी अपनी प्रयोगशाला में सुस्पष्ट और निष्पक्ष रह सकता है। विरासत में मिली परम्पराएँ, उपकरण, अत्युच्च विशेषज्ञता और (यदि वह अपने परिणामों को प्रकाशित करे) उसके गवाह—इनके कारण वह 'अपने' विज्ञान सम्बन्धी मामलों में अपने आप निष्पक्ष बन जाता है। निष्पक्ष प्रयोगकर्त्ता अथवा प्रेक्षक न रहने पर उसकी ही हानि होती है। वह भली प्रकार जानता है कि गलत सिद्ध हो चुके प्रेक्षणों अथवा सिद्धान्त पर बिना सोचे-समझे चलकर अमुक व्यक्ति ने किस प्रकार स्वयं को महामूर्ख प्रमाणित कर दिया है। परन्तु एक बार अपनी प्रयोगशाला छोड़ने पर वह अपनी इच्छानुसार काम कर सकता है और शायद ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है। क्योंकि उस समय वह अपने व्यवसायगत नियन्त्रण से मुक्त होता है। इसलिए यदि प्रयोगशाला में काम करने वाला अपने व्यवसाय के अतिरिक्त बातों में अन्य लोगों से कम निष्पक्ष और आत्मानुशासित हो तो यह हैरानी की बात नहीं। यद्यपि मेरे अवलोकन में यही परिणाम निकला है कि मानव प्राणी होने के नाते वैज्ञानिक खोज करने वालों की संख्या बुद्धिमत्ता और मूर्खता में दूसरे व्यक्तियों के ही समान है।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में सही और निष्पक्ष वैज्ञानिक अनुसंधान के मान स्थिर करने वाले उन आरम्भिक अनुसंधानकर्त्ताओं के अग्रणी कौन थे? कोपरनिकस, गैलीलियों और वेसालियस के आध्यात्मिक पुरखे कौन थे? निश्चय ही वे शौकिया प्रयोगकर्त्ता अथवा मध्ययुग में हमारा प्रयोग-सिद्ध ज्ञान क्रमशः बढ़ाने वाले यान्त्रिक उपकरणों के चतुर आविष्कारक नहीं थे। इन व्यक्तियों ने आगामी पीढ़ियों को अनेक तथ्य तथा प्रायोगिक परिणामों तक पहुँचने की मूल्यवान विधियाँ तो अवश्य बतलाई; किन्तु वैज्ञानिक शोध की आत्मा नहीं। क्रमबद्ध बौद्धिक अन्वेषण की नवीन प्रगति को समझने के लिए हमें सुकराती परम्परा में डूबे कुछ लोगों तथा उन आरम्भिक विद्वानों के बारे में विचार करना होगा जिन्होंने पुरातत्व विज्ञान की आदिकालीन प्रणालियों द्वारा यूनान और

रोम की संस्कृति को समझा और अपनाया। पुनर्जागरण के पहले युग में सत्य की निष्पक्ष खोज का कार्य उन लोगों ने आगे बढ़ाया जिनका सम्बन्ध निर्जीव अथवा सजीव प्रकृति की बजाय मानव और उसके कार्यो से था। मध्य काल में मानवीय समस्याओं के लेखकों ने मानव विवेक को आलोचनात्मक दृष्टि से तथा पूर्वाग्रहहीन ढंग से प्रयोग में लाने तथा बिना किसी भय अथवा पक्षपात के अनुसंधान करने की दिलचस्पी जीवित रखी। ज्ञान के पुनरुत्थान के आरम्भिक दिनों में मानववादियों द्वारा प्राचीन की खोज ही आधुनिक निष्पक्ष अनुसंधान के समान थी। वैज्ञानिक उत्सुकता का ज्वार आने से पूर्व प्राकृतिक विज्ञान में अनुसंधान के प्रति शिक्षित वर्ग तक की दिलचस्पी न थी। वैज्ञानिक सिद्धियों का तब तक कोई विशेष महत्त्व न समझा जाता था, जब तक तत्कालीन संसृति-विज्ञान पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ता हो, और वे समुद्र में फेंके गए कंकड़ के समान लुप्त हो जाती थीं।

वैज्ञानिक उत्सुकता का ज्वार क्यों और कैसे बढ़ने लगा ? ये दोनों बेहद दिलचस्प और कठिन ऐतिहासिक प्रश्न हैं। इनके उत्तर सरल नहीं हैं। विज्ञान के उषाकाल के सम्बन्ध में कोई भी व्याख्या एक या दूसरे जटिल तथ्यों—जो स्पष्ट रूप से हमारे युग का निर्माण कर रहे थे—पर अनुचित महत्त्व देने से गलत हो जाएगी। मैंने मध्य युग की सभ्यता के एक इतिहासवेत्ता की यह घोषणा सुनी है, कि मानववादियों ने आधुनिक विज्ञान के जन्म में कुछ भी योग नहीं दिया। वस्तुतः उनकी गतिविधियाँ हानिकारक रही हैं। दूसरी ओर यह कहना कि मानववादियों द्वारा पुरातन कृतित्व और आत्मा की पुनर्प्राप्ति विज्ञान के विकास में एक निर्णायात्मक पहलू है, निश्चित रूप से अतिरंजित है।

सर्वमान्य है कि गैलीलियो ने युवावस्था में आर्कमिदीज़ की कृतियों को पढ़कर प्रेरणा और विचार प्राप्त किये। इससे यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि विज्ञान के विकास में ज्ञान के पुनरुत्थान का बहुत अधिक हाथ था। तीन सौ साल पहले गैलीलियो जैसी प्रतिभा और झुकाव वाले व्यक्ति के हाथ में यूनानी पुस्तक का लातीनी अनुवाद नहीं आ सकता था। क्योंकि आर्कमिदीज़ का सब से पहला लातीनी अनुवाद विलियम आफ मोरबेक ने किया था, जिसका प्रकाशन 1543 में हुआ था। 1575 में सिकन्दरिया के हीरो की पुस्तक के लातीनी अनुवाद के प्रकाशन ने जलशक्ति विषयक प्रक्रियाओं में रुचि जागृत की।

परन्तु प्राचीन संसार के साथ सम्पर्क और मुद्रण कला के आविष्कार के

कारण ज्ञान के निरन्तर अधिकाधिक व्यापक प्रसार से अधिक महत्त्वपूर्ण थी बौद्धिक साहसिकता की भावना, जो उत्कर्षकालीन इटालियन नगर-गण राज्यों की विशेषता थी। वासारी द्वारा कही गई फिलिप्पो ब्रुनेलिसी की कहानी मुझे सदा पुनर्जागरण की जिज्ञासा और रचनात्मक शक्ति की, जो अन्ततः वैज्ञानिक अनुसंधान में अभिव्यक्त हुई, प्रतीक मालूम पड़ती है। यह कहानी संक्षेप में इस प्रकार है —"अपनी वापसी के कुछ महीने बाद एक दिन सुबह फिलिप्पो दोनतो और कुछ दूसरे कलाकारों के साथ सैंट मारिया क्षेत्र फीयोर के चौराहे पर खड़ा प्राचीन मूर्तिकला के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर रहा था। दोनतो सुना रहा था कि कैसे उसने ओरविती की यात्रा की और बाद में कार्टोना से गुजरने पर उसने संगमरमर की एक प्राचीन शवपेटिका देखी, जिस पर चित्र उत्कीर्ण थे। उत्कीर्ण चित्र उन दिनों बहुत कम थे। दोनतो ने इस प्रकार फिलिप्पो के दिल में उसे देखने की बलवती इच्छा पैदा कर दी। और वह अपने उसी अटपटे वेष में और लकड़ी के जूते पहने हुए ही उनसे बिना एक शब्द कहे, कला के प्रति अपने प्रेम के कारण, कार्टोना की ओर चल पड़ा।"

इसी सम्बन्ध में चार्ल्स सिंगर ने अपनी पुस्तक 'शार्ट हिस्ट्री आफ़ बायोलाजी' में लिखा है : "पौधों के अध्ययन का प्रारम्भ मानववादी ज्ञान, पुनर्जागरण युग की कला और मुद्रणकला के पूर्ण विकास के संयोग से हुआ। यही बात जीवों के शरीर के अध्ययन के बारे में सत्य है।"

मेरे विचार में जब इटालियन पुनर्जागरण की हलचल में परिवर्तन हुआ और वह युवा व्यक्तियों की नई पीढ़ियों में फैला, विज्ञान ने स्वयं प्रसरणशील सामाजिक प्रक्रिया का रूप धारण कर लिया। विचार-बिन्दु कला, पुरातत्व विज्ञान और साहित्य से हटकर पौधों, प्राणियों, तारों और यांत्रिक विधियों पर हो गया। यह नवीन हलचल वहाँ भी प्रविष्ट हो गयी जिसे अब तक बंजर माध्यम माना जाता था। इटालियन नगरवासियों की अपेक्षा कविता और कला के प्रति कम दिलचस्पी रखने वाले लोग मानव-शरीर, तारों अथवा गिरने वाले पदार्थों या किसी स्थान को वायुशून्य करने के तरीकों की खोज करने वाले लोगों के उत्साह में अधिक दिलचस्पी ले सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गैलीलियों की प्रवृत्तियाँ ब्रुनेलिसी के समान ही थीं। 1650 के आक्सफोर्ड में बॉयल और उसके मित्र (बाद के एक अध्याय में मैं इनका जिक्र करूँगा) आदि बहुत कुछ गैलीलियों के समान ही होते, परन्तु मैं उनके ब्रुनेलिसी के समकालीन होने की कल्पना तक नहीं कर सकता। अनेक अर्थों में भिन्नता के साथ उनकी

अधिक समानता थी।

यदि इतिहास का यह पूर्व विवेचन सही है, तो कीमियागरों की अपेक्षा पीट्रार्क, बोकेशियो, मेकियावेली, और ईरासमस को आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ताओं के आध्यात्मिक अग्रणी समझा जाना चाहिए। इसी तरह रावेलेस और मॉन्टेन, जो समीक्षात्मक वैचारिक प्रवृत्ति को आगे ले गये, आधुनिक वैज्ञानिकों के अग्रज गिने जाने चाहिएँ। पुनर्जागरण काल के प्राचीन-वेत्ता और कुछ सन्देहवादी व्यक्तियों को ही नहीं बल्कि ईमानदार खोजियों और दृढ़चित्त राजनीतिज्ञों को भी उन व्यक्तियों का अग्रणी समझना चाहिए, जिन्होंने तब से लेकर आज तक पुराने प्रश्नों के नये उत्तर खोजने का प्रयत्न किया है, और जो पूर्वाग्रह छोड़ने तथा तथ्यों का निष्पक्ष परीक्षण करने के हामी हैं। जैसा कि मेरा विचार है आज के वैज्ञानिक उस वंश की सन्तति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो कुछ शताब्दियों पहले उर्वरभूमि की ओर आकर्षित हुए थे। एक बार विज्ञान स्वयं प्रसरणशील बन गया। इन लोगों के लिए अपने पुरखों की परम्परा को कायम रखना और भी आसान हो गया।

इसलिए वैज्ञानिक को केवल इसलिए कि वह निष्पक्ष खोजी है, एक उच्च स्थान पर रखना सारी स्थिति को गलत समझना है। यदि हम बिना पूर्वाग्रह के तथ्यों को जानने की इच्छा का जनता में अधिकाधिक प्रसार करना चाहते हैं तो हमें विज्ञानेतर क्षेत्रों से आधुनिक उदाहरण लेने चाहिएँ। हमें उन थोड़े से लोगों के आचरण की भी प्रशंसा करनी चाहिए जो अपने अथवा दूसरों के हितों की परवाह न करके, मानवीय कार्यों की भीड़ में साहसपूर्वक, ईमानदारी से तथा चातुर्यपूर्वक तर्कसंगत परिणामों तक पहुँच सकते हैं, उन्हें दूसरों के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं, उन पर स्थिर रह सकते हैं और उनके अनुसार कार्य कर सकते हैं।

यह कहना कि तथ्यों के सभी निष्पक्ष और सही विवेचन वैज्ञानिक प्रणाली के उदाहरण हैं, विज्ञान को समझने की समस्याओं को और भी उलझाना है। यह कहना कि जो युवक मानवीय मामलों के निष्पक्ष विवेचक बनने की इच्छा रखते हैं उनके लिए विज्ञान का अध्ययन ही सबसे उत्तम शिक्षा है, वास्तव में अधिक से अधिक एक संदिग्ध शिक्षण-नीति है। कुछ लोगों की धारणा है कि वैज्ञानिक के रूप में वैज्ञानिक का विचार करने का स्वभाव और दृष्टिकोण दूसरी मानवीय गतिविधियों पर भी लागू किया जा सकता है। किन्तु इस बात को प्रमाणित करना कठिन है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि विज्ञान के प्रति अत्यधिक पूजा-भावना के प्रति

मेरी सहानुभूति नहीं। फिर भी साधारण व्यक्ति में प्राकृतिक विज्ञान की विधियों को अधिक समझने की अधिक आवश्यकता तो है ही। चूंकि वैज्ञानिक खोजें समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक और कभी-कभी नाटकीय उदाहरण उपस्थित करती हैं, इसलिए स्कूलों और कालेजों में वैज्ञानिक विधियों की उत्पत्ति की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। आज जिन कृत्रिम सीमाओं के भीतर वैज्ञानिक अचेतन रूप से परीक्षण करते हैं उनसे तथ्यपूर्ण विवेचन प्रायः प्रतिदिन का ही काम हो गया है और दिन प्रतिदिन इन विधियों की सफलताओं ने जनता को बहुत प्रभावित किया है। यह प्रदर्शन हमारे नागरिक जीवन के अन्य तत्त्वों को पुष्ट करता है, और इसे ठीक तरह से समझने के लिए समाज वैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम मानना चाहिए, जिसका इतिहास तीन शताब्दियों का है। विज्ञान की विधियों को समझने के साथ-साथ नागरिक को एक मानवीय कार्य के रूप में विज्ञान के कार्यों को भी समझना चाहिए।

विज्ञान : एक संगठित गतिविधि

आज भौतिक और जीव विज्ञान में एक दूसरे से सम्बद्ध अनेक सिद्धान्त, नियम और बहुत-सी वर्गीकृत सूचनाएँ हैं। वे एक सजीव संगठन की उपज भी हैं। सिद्धान्त, नियम और आंकड़े पुस्तकालयों और संग्रहालयों में पाये जा सकते हैं; ये लाभदायक अवशेष, अतीत के संग्रह परन्तु निर्जीव सामग्री हैं। 'विज्ञान' शब्द के साथ हम जिस गतिविधि को सम्बद्ध करते हैं, वह प्रयोगशालाओं में काम करने वाले लोगों की सम्भावित खोजों का जोड़ है, इसमें कार्य-प्रक्रिया की उनकी योजनाएँ, आशाएँ और महत्त्वाकाँक्षाएँ सम्मिलित हैं, और यही आधुनिक विज्ञान का निचोड़ है। अब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि विज्ञान वास्तव में विभिन्न अंशों के समूह से अलग कुछ है। यदि कल प्रयोगशालाओं में जाने वाले हजारों प्रयोगशील वैज्ञानिक शीघ्रता और आसानी से एक-दूसरे से सम्पर्क न स्थापित कर सकें तो आधुनिक विज्ञान नाम की कोई चीज न रहेगी।

यह इतना अधिक उलझनपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है जितना प्रायः साधारण व्यक्ति नहीं समझ पाता। आज विज्ञान को एक संगठित सामाजिक गतिविधि समझने की गलती के कारण हैं अनेक मूर्खतापूर्ण बयान और क्रियात्मक भूलें। यह आश्चर्य की बात है कि इन अनाड़ियों अथवा असली नीमहकीमों को कितना महत्त्व दिया जाता है और किंवदंतियाँ कई बार वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त कर गई हैं। विज्ञान की जादू-टोने के साथ तुलना करने की प्रवृत्ति सभी ओर दिखाई

देती है। एक व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक बताता है कि वह ऐसे आदमी को जानता है जो एक मील की दूरी से खास स्वर में सीटी बजाकर मोटर के चलते हुए इंजन को बंद कर सकता है। दूसरा विश्वास करता है कि अमुक अप्रशिक्षित शौकिया वैज्ञानिक कूड़े से एक बार में ही असली रबड़ बना सकता है। चिकित्सा के क्षेत्र में बोगस और छलपूर्ण वैज्ञानिक 'इलाजों' की तो इतनी भरमार है कि कुछ न पूछिए।

भौतिकी, रसायन और जीव-विज्ञान के तथाकथित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिए गए बेहूदा बयानों की जाँच-पड़ताल न कर सकने के कारण किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। हम सब लोगों को भी, जो वर्षों से इन विषयों को पढ़ाते आए हैं या इनकी पाठ्य-पुस्तकें लिखते आए हैं, ज्ञान की प्रगति के साथ कदम मिलाए रखने के लिए अपने विचारों में आमूल परिवर्तन करना पड़ा है। परन्तु किसी तथाकथित नये कदम की अफवाह के प्रति किसी वैज्ञानिक के मन में सबसे पहले अविश्वास ही उपजता है। शायद यह कदम गलत हो—और उसे अपने ही क्षेत्र के ऐसे अनेक अनुभवों की याद हो आती है। परन्तु उसे पूर्ण विश्वास होता है कि मामला थोड़े ही समय में शान्त हो जाएगा बशर्ते कि कोई अत्यन्त क्रांतिपूर्ण बात न होने जा रही हो। 'प्रकाशन' द्वारा किसी भी नये विचार अथवा नई खोज की सूचना विश्व-भर के वैज्ञानिकों को दी जा सकती है। यदि मामला वास्तविक महत्त्व का हुआ तो वैज्ञानिक शीघ्र ही उस रिपोर्ट की छानबीन करने लगेंगे। कोई भी तथाकथित आश्चर्यजनक अथवा आकर्षक खोज अपनी ओर ध्यान खींचे बिना नहीं रह सकती।

छानबीन का अर्थ यह नहीं है कि गणनाओं को दोहरा लिया जाय या प्रायोगिक परिणामों की शुद्धि की जाँच कर ली जाय। उसी क्षेत्र अथवा उस जाँच से सम्बन्धित क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं पर बेहद प्रभाव पड़ सकता है और उन पर आगे काम किया जायगा। यदि वे कार्यकर्त्ता प्रत्याशित परिणाम प्राप्त करने में असफल रहे तो वैज्ञानिक संसार उसे एक और खामख्याली कहकर रद्द कर देगा। यह भी संभव है कि रद्द किए गए निबंध का लेखक अपनी गलती पा जाएगा और उसका सुधार प्रकाशित करेगा अथवा सारा मामला ही साधारण रूप से समाप्त हो जाने दिया जाएगा। गत सौ वर्ष में भौतिकी, रसायन, व जीव-रसायन में जितने भ्रान्तिमूलक प्रायोगिक परिणाम प्रकाशित हुए हैं, उन पर कोई भी व्यक्ति एक बड़ा पोथा लिख सकता है। और एक दूसरा बड़ा पोथा निष्फल विचारों, परस्पर खण्डन करने वाले सिद्धान्तों और सामान्य अनु-

मानों से भर सकता है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य जिसका पता परीक्षणात्मक विज्ञान के अभी हाल के (लगभग 1850 से) इतिहास के सतही अध्ययन से भी चलता है, यह है कि परस्पर सम्बन्धित व्यक्तिगत वैज्ञानिकों का एक सगठन है। इस संगठन के कारण नए विचार जल्दी व्यापक बनते हैं, एक खोज से दूसरी नई खोज निकलती है और गलत धारणाओं तथा विचारों का जल्दी ही संशोधन हो जाता है। इस संगठन की महत्ता को अक्सर वही लोग नहीं समझ पाते जिन्हें विज्ञान का नवीनतम अनुभव नहीं है, पर जो उसकी चर्चा हमेशा करते हैं। वैज्ञानिक किस प्रकार अपनी जानकारी को एकत्र करते हैं और इस प्रकार विचारों के संसार में नवीन विचारों को जन्म देते हैं, इस तथ्य का ज्ञान न होने के कारण अमरीका में भी राजनीतिज्ञों ने कुछ विचित्र प्रस्ताव रखे हैं। और सोवियत संघ में तो जान-बूझकर विज्ञान की संगठित सामाजिक गतिविधि की प्रकृति को ही बदलने का यत्न किया जा रहा है।

स्मरणीय है कि व्यवसाय के रूप में विज्ञान एक नया आविष्कार है। भौतिकी और रसायन के आरम्भिक विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रगति शौकिया वैज्ञानिकों ने की थी। विज्ञान की विधियों पर प्रकाश डालने के लिये अगले अध्यायों में दिए गए उदाहरणों में ऐसे बहुत ही थोड़े व्यक्ति हैं जो विज्ञान सम्बन्धी खोजों अथवा उसके अध्यापन से आजीविका उपार्जित करते रहे हों। साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान 16 वीं शताब्दी में इटालियन विश्वविद्यालयों में आरम्भ हुआ, 17 वीं शताब्दी के मध्य तक उसी वातावरण में फूलता-फलता रहा और उसके बाद गतिविधियों के केन्द्र वहाँ से उठकर पेरिस तथा लन्दन में आ गये। 19 वीं शताब्दी तक विश्वविद्यालयों ने पुनः महत्त्व नहीं प्राप्त किया। 17 वीं और 18 वीं शताब्दी का समय सुशिक्षित पाण्डित्यपूर्ण-संस्थाओं, विशेष रूप से लन्दन की रायल सोसाइटी और पेरिस की साइंस अकादमी का रहा।

रायल सोसाइटी और फ्रांसीसी विज्ञान अकादमी का महत्त्व यह है कि ये रस्मी संस्थाएँ ही आधुनिक विज्ञान के गैररस्मी परन्तु बहुत ही पेचीदा संगठनों के प्रादुर्भाव का कारण बनीं। रायल सोसाइटी को चार्ल्स द्वितीय ने 'रेस्टोरेशन' के बाद गद्दी पर बैठते ही मान्यता दी, परन्तु इसका उद्‌गम शौकिया वैज्ञानिकों के उत्साह में है, जिनको आपसी दलबन्दी के कारण क्रामवेल के काल (1650-60) में आक्सफोर्ड में स्थान मिला था। फ्रांसीसी अकादमी का निर्माण कोलबर्ट

के परामर्श से 14 वें लुई ने 1666 में किया। इन दोनों का बौद्धिक जन्मदाता सामान्यतया फ्रांसिस वेकन को कहा जाता है। अपनी अपूर्ण पुस्तक 'न्यू अटलाण्टिस' में, जो 1626 में उसकी मृत्यु के तत्काल बाद प्रकाशित हुई, 'नवीन प्रयोगात्मक दर्शन' (जिसे वह केवल अंशतः समझता ही था और जिसका कभी उसने परीक्षण नहीं किया था) के इस उत्साही प्रवक्ता ने 'हाउस आफ सालोमेन' का वर्णन किया है, जो खोजियों और दार्शनिकों का एक समुदाय था। एक वास्तविक संस्था, 'अकादमिया दी लिन्सी' का निर्माण रोम में 1600 में हुआ, जो वेकन के आदर्श के अनुरूप दीखती है। गैलीलियो इस अकादमी का सदस्य था। इस अकादमी के आरम्भिक काल 1612 में इसके बारे में कहा गया है कि यह एक ऐसा 'समूह था जो अब तक अल्पज्ञात बातों के गंभीर और सपरिश्रम अध्ययन के लिए प्रेरित करता था।' एक पीढ़ी बाद गैलीलियो के कुछ शिष्यों ने 1657 में फ्लोरेंस में एक 'अकादमिया दॅल सीमान्तो' की स्थापना की, जो दस वर्ष तक मेडीसी वन्धुओं, फर्डीनेण्ड द्वितीय और लियोपोल्ड, के संरक्षण में फली-फूली। ये दोनों गैलीलियो के शिष्य थे। यह परीक्षण-अकादमी 18वीं शताब्दी की सुशिक्षित पाण्डित्यपूर्ण संस्थाओं की बजाय 20वीं शताब्दी के परीक्षण केन्द्रों की अगुआ मानी जा सकती है। क्योंकि उसके सदस्य संयुक्त परीक्षणों में लगे रहते थे। इसका अधिक वर्णन किसी अन्य अध्याय में किया जाएगा।

ये दोनों इटालियन विज्ञान-संस्थाएँ पुनर्जागरण-संस्कृति के केन्द्रों में फूलने-फलने वाली साहित्यिक क्लबों की परम्परा में थीं। रायल सोसायटी और फ्रांस की अकादमी दोनों का इतिहास दो लक्ष्यों के मध्य भ्रम को प्रकट करता है। एक ओर तो इनके सदस्य सक्रिय प्रयोगशीलों के सहयोगी दल के रूप में दीखते थे और दूसरी ओर ऐसा दीखता है कि ये संस्थाएँ अपने परीक्षणात्मक निर्णयों और व्यक्तिगत आधार पर उत्पन्न नए विचारों के आदान-प्रदान के लिए मिलकर बैठने की जगह भर थीं। रायल सोसाइटी को सम्राट् के आशीर्वाद के अतिरिक्त सरकार से और अधिक सहायता नहीं मिली। इसलिए वह केवल विचार-विमर्श का केन्द्र बनने के अतिरिक्त और कोई गम्भीर काम न कर सकी। दूसरी ओर फ्रांस की सरकार अकादमी के कुछ वैज्ञानिकों को अनुदान देकर सहायता करती रही, और एक शताब्दी के दौरान कभी-कभी वैज्ञानिकों की चित्रकारों अथवा विद्वानों के समान सहायता करती रही।

विज्ञान के इतिहास में इन सोसाइटियों द्वारा संगठित और सहायता देकर किये

गए अभियानों का महत्त्व है। परन्तु इन विज्ञान संस्थाओं का प्रमुख महत्त्व इस बात में है कि दोनों ने नियमित रूप से अपनी पत्रिकाएँ प्रकाशित करनी आरम्भ कीं, जिनमें सदस्य और दूसरे लोग अपने विचार और परीक्षणों के परिणाम प्रकाशित करते थे। रायल सोसाइटी के 'ट्रैन्जैक्शन्स' का प्रकाशन 1665 में आरम्भ हुआ। इसके बारे में हक्सले ने एक बार लिखा था—"यदि 'फिलॉसफिकल ट्रैन्जैक्शन्स' के अतिरिक्त संसार की सब पुस्तकें नष्ट कर दी जाएँ तो भी, यह कहा जा सकता है कि, प्राकृतिक विज्ञान के मूलाधार को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, और पिछली दो शताब्दियों की बौद्धिक उन्नति, काफी हद तक, किन्तु अपूर्ण अंकित की जा सकेगी।" [खनिज विज्ञान और कार्बनिक (आर्गेनिक) रसायन आदि अधिक विवरणात्मक विज्ञान से सम्बन्धित व्यक्ति 19वीं शताब्दी में कही गई इस बात से सहमत होंगे, इसमें सन्देह ही है।]

विज्ञान सम्बन्धी संस्थाओं के बनने और त्रैमासिक अथवा मासिक पत्रों में भौतिक कार्यों के परिणामों के नियमित प्रकाशन से पूर्व वैज्ञानिक अनुसन्धानों का समाचार केवल चिट्ठी-पत्री द्वारा फैलता था। यदा-कदा कोई वैज्ञानिक अपने परीक्षणों और विचारों की पुस्तक प्रकाशित कर देता था। पत्रिकाओं में लिखने की बजाय, वैज्ञानिक खोजों के लिए पृथक् पुस्तकों के प्रकाशन की प्रथा 19वीं शताब्दी के अन्तर्गत चलती रही। परन्तु विज्ञान सम्बन्धी पत्र अधिक महत्त्व पकड़ते गए और अब पुस्तकें केवल अन्यत्र प्रकाशित परिणामों के सार अथवा उनके और अधिक प्रसार के लिए ही रह गई हैं। आज विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों के बजाय, विज्ञान सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ ही वैज्ञानिकों की गतिविधियों की सूचना देती हैं।

किसी नये व्यक्ति के लिए ढेरों लेखों और रिपोर्टों के दसियों हजार पृष्ठों में से कुछ निकालना कठिन है। इस काम में काफी समय तो लगता ही है, अनुसंधानकर्त्ता के लिए इसके अध्ययन, जो वैज्ञानिकों के अनुसार 'सामयिक साहित्य' कहलाता है, की रीति बहुत निराशाजनक कार्य है। सबसे पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ-साथ विज्ञान के विभाग और उपविभाग काफी अधिक हो गए थे। वैज्ञानिक संस्थाओं के पत्र अब भी अनेक विषयों के लेख स्वीकृत करते हैं। परन्तु विशेष विषयों के विशिष्ट पत्रों का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हो गया था। इसलिए जाँच के किसी विशेष क्षेत्र की प्रगति की जानकारी कुछ विशेष मासिक पत्रों में प्रकाशित प्रबन्धों को पढ़कर ही प्राप्त की जा सकती है। दूसरे, सूची निर्माण और सार संक्षेप तैयार

करने की अनेक व्यवस्थाएँ निकल आई हैं। विज्ञान के कुछ विभागों में विस्तृत विश्व कोश प्रकाशित हो गए हैं, जिनमें प्राप्त परिणाम उपर्युक्त शीर्पकों के अन्तर्गत सार रूप में दिए गए हैं। अनुसन्धानकर्त्ता वनने का इच्छुक छात्र जल्दी ही इस साहित्य का उपयोग सीख लेता है। तीसरे विषय से सम्वन्धित पूर्ववर्ती प्रकाशनों का हवाला देने का रिवाज भी चल चुका है। अन्ततः असम्बद्ध सिद्धान्तों और भद्दे ढंग से तैयार की हुई रिपोर्टों को पत्रों के सम्पादक ठीक रूप दे देते हैं। परन्तु इस कार्य प्रणाली में एक भय भी है। अनेक ऐतिहासिक उदाहरण हैं, जब अत्यधिक अनुदार सम्पादक वर्ग ने मौलिकता के असाधारण रूप को समझ न पाने के कारण निवन्ध को गलत समझा अथवा इतना विचित्र समझा कि अस्वीकृत कर दिया। लेकिन आज इतनी प्रकार की पत्रिकाएँ हैं कि प्रकाशन में कुछ भी विलम्व नहीं होता। विज्ञ आलोचक यही कहेंगे कि वहुत कुछ ऐसा प्रकाशित होता है जो अस्वीकृत किया जा सकता था; कोई यह नहीं कह सकता कि सम्पादकों ने कठोरता से काम लिया है।

व्यावहारिक ढंग के अनुसन्धानों और खोजों के रिकार्ड करने के प्रश्न पर विचार अन्तिम अध्याय में किया जायगा जव कि विशुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान के आपसी सम्वन्धों पर भी विचार हो जायगा। उसी समय पेटेण्ट्स और पेटेण्ट साहित्य के सम्वन्ध में कुछ कहना ठीक होगा। यहाँ पर मैं केवल इस वात पर जोर देना चाहता हूँ कि आज वैज्ञानिक समाचारों के संचार का जो विश्वस्त ढंग विकसित हो चुका है, उसमें किसी महत्त्वपूर्ण खोज के प्रकाश में आने से रह जाने का खतरा वहुत ही कम है। यदि विज्ञान जादू होता तो उसकी कुछ गुप्त विधियाँ कुछ व्यक्तिगत लोगों के अधिकार में होतीं और वह ज्ञान का भेद दिए विना उसकी मदद से लोगों को करिश्मे दिखाते। 18 वीं शताव्दी तक, जब रसायन का कीमियागिरी से विकास हो रहा था, कुछ नई अनुसन्धान-प्रक्रियाएँ गुप्त रखी गई। विज्ञान के औद्योगिक प्रयोग के अतिरिक्त अव प्रक्रियाएँ गुप्त नहीं रखी जातीं। कम से कम 1940 से पहले तक हम यही सोचते थे। आज परमाणु भौतिकी के कुछ नवीन ज्ञान का शस्त्र निर्माण से निकट का सम्बन्ध है, इसलिए वैज्ञानिक खोजों के विना सेंसर के और उन्मुक्त प्रकाशन पर उसी तरह नियन्त्रण रखा जा रहा है। लौह-आवरण के दूसरी ओर साम्यवादी दल की नीति के कारण इसमें यह और बढ़ा देने की जरूरत है कि इनकी सूचना 1950 की तरह उन्हीं को दी जाए जो स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ काम करते हैं या सहयोग रखते हैं।

हम बीसवीं शताब्दी के मध्य की इन दो असंगतियों पर फिर विचार करेंगे। शताब्दियों के दौरान परिवर्तित होते रहने वाले वैज्ञानिक की स्थिति का विवेचन किसी आगे के अध्याय में किया जाएगा। विज्ञान और राजनीति सामयिक महत्त्व के विषय हैं। विज्ञान और समाज के परस्पर सम्बन्ध में उन लोगों की दिलचस्पी है, जो जन-कल्याण से सम्बन्धित कार्य करते हैं। 1930 के आस-पास इस प्रसंग पर विचार करने वाले लोग उन समस्याओं की कल्पना नहीं कर सकते थे जो एक ओर परमाणु बम के विकास और दूसरी ओर क्रैमलिन की तानाशाही के अधिक दृढ़ होने से वैज्ञानिकों और समाज के सम्मुख आई। परन्तु इस प्रकार के सब प्रश्नों पर उपयोगी विचार-विमर्श के लिए विज्ञान को समझने की आवश्यकता है। आइये, हम विज्ञान की विधियों पर विचार करें और पहले इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न करें कि विज्ञान क्या है ?

विज्ञान क्या है ?

विज्ञान की परिभाषा बताने वाले उद्धरणों से अनेक पृष्ठ भरे जा सकते हैं। परन्तु किसी साधारण व्यक्ति के लिए विज्ञान का क्या अर्थ है, यह प्रायः स्पष्ट है। उसके लिए विज्ञान का अर्थ है उन व्यक्तियों की गतिविधियाँ जो प्रयोगशालाओं में काम करते हैं अथवा जिनकी खोजों के कारण ही आधुनिक उद्योग और चिकित्सा सम्भव हो सके हैं। जो परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से विज्ञान की निन्दा करते हैं, उनके दिमाग में सब से प्रमुख विचार होता है युद्ध में विज्ञान के, विशेषकर परमाणुशक्ति के, उपयोग का। दूसरे प्रकार के लोग अपने विचार को बढ़ावा देने के लिए 'विज्ञान-सम्मत' कहते हैं; वे ऐसा विज्ञान के विश्वव्यापी और अत्यधिक कल्याणकारी (विशेषतः चिकित्सा के क्षेत्र में) महत्त्व के कारण करते हैं। संक्षेप में, जब किसी वस्तु की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है, जैसा अक्सर किसी तर्क को पुष्ट करने के लिए किया जाता है, तो वक्ता की पूर्व धारणा के अनुसार प्रशंसा की कोटि भिन्न होती है। इस पुस्तक की बातें अनेक लोगों को इसी प्रकार की मालूम पड़ सकती हैं। इस पुस्तक का मूल ध्येय साधारण व्यक्ति को यह समझने में सहायता देना है कि आधुनिक प्रयोगशालाओं में क्या होता है। उसके बाद वह उसका सम्बन्ध अन्य सम्बद्ध गतिविधियों से जोड़ सकता है, जो वैज्ञानिक भी हो सकती हैं और नहीं भी। परन्तु 'विज्ञान और सामान्य बुद्धि' जैसे व्यापक विषय पर लिखते हुए भी प्रायोगिक विज्ञान की बात करना बेशक तर्कसंगत है। कारण यही है कि विज्ञान की किसी भी व्याख्या में भौतिकी, रसायन और प्रायोगिक जीव-विज्ञान अवश्य होते हैं। और इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन क्षेत्रों में हुई तीव्र प्रगति और इस प्रकार प्राप्त ज्ञान के आश्चर्यजनक उपयोगों द्वारा ही विज्ञान को आधुनिक सभ्यता में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

परन्तु केवल प्रायोगिक विज्ञान तक सीमित रहने पर भी, 'विज्ञान क्या है' का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। कारण, मानव की गतिविधि के इस सीमित क्षेत्र के उद्देश्यों और विधियों के विषय में मत-वैभिन्न्य है। वैज्ञानिक कार्य की सत्य-प्रकृति के सम्बन्ध में मतभेद से ही भिन्नता पैदा होती है। परन्तु इस विभि-

न्नता की उत्पत्ति का दूसरा कारण है भौतिकी और जीव विज्ञान के विकास के एक अथवा दूसरे पहलू पर अधिक जोर देने की लेखक की भावना। विज्ञान का एक दृष्टिकोण स्थिर है और दूसरा गत्यात्मक। स्थिर दृष्टिकोण में आधुनिक परस्पर सम्बद्ध नियमों, सिद्धान्तों तथा व्यापक सुसंगठित जानकारी एकत्र होते हैं। दूसरे शब्दों में, विज्ञान इस ब्रह्माण्ड को, जिसमें हम रहते हैं, समझने का एक ढंग है। इस विचार के समर्थक कहते हैं, 'कितनी शानदार बात है कि हमारा ज्ञान इतना विशाल है!' यदि हम विज्ञान को ज्ञान का ताना-बाना मात्र मान लें तो चाहे सारी प्रयोगशालाएँ बन्द कर दी जाएँ फिर भी विज्ञान के सांस्कृतिक और क्रियात्मक लाभ संसार को मिलते रहेंगे। निस्सन्देह यह ताना-बाना अधूरा होगा, परन्तु जो लोग विज्ञान को 'व्याख्या' मात्र मानकर महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उन्हें इससे ही विशेष सन्तोष हो जायगा। किन्तु प्रश्न है कि यह सन्तोष रहेगा कब तक?

विज्ञान का गत्यात्मक दृष्टिकोण

स्थिर दृष्टिकोण की तुलना में गत्यात्मक दृष्टिकोण में विज्ञान को एक हल-चल—एक गतिविधि माना जाता है। अतः, ज्ञान की वर्तमान स्थिति इस मानी में महत्त्वपूर्ण है कि वह आगामी कार्य-कलापों का आधार है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, यदि सब प्रयोगशालाएँ बन्द कर दी जाएँ, तो विज्ञान पूर्ण रूप से समाप्त हो जाएगा; सब सिद्धान्त और पुस्तकों में वर्णित नियम आदि अंधविश्वास मात्र रह जाएँगे। कारण, यदि प्रयोगशालाएँ बन्द हो जाएँ और आगे के सब अनुसंधान रुक जाएँ तो किसी भी नई परिकल्पना का पुनःपरीक्षण न हो सकेगा। मैंने जान-बूझकर इस स्थिति को अतिरंजित किया है। विवाद के मूड में होने की बात और है वरना कोई भी व्यक्ति प्राकृतिक विज्ञानों की चरम-स्थिर अथवा चरम-गतिमान व्याख्या का समर्थन नहीं करेगा। परन्तु शालाओं और विद्यालयों में आरम्भिक विज्ञान की शिक्षा इस प्रकार दी जाती है और लोकप्रिय ढंग से इस प्रकार लिखा जाता है कि अंधविश्वास-सा हो जाता है और इसलिए अमरीकी नागरिक के लिए एक दिशा में अधिक दूर तक बढ़ जाने का खतरा है। प्रयोग-शाला में काम करने वाला कार्यकर्त्ता, यदि मूलतः एक जिज्ञासु के रूप में विज्ञान से सम्बन्धित न होता तो वहाँ होता ही नहीं। उसे और उसके अग्रणियों को, जिन्होंने सोहलवीं शताब्दी से विज्ञान को प्रगति के पथ पर पहुँचाया है, समझने के लिए विज्ञान के गत्यात्मक स्वरूप पर जितना अधिक जोर दिया जाय कम है।

कुल मिलाकर यह मेरा अपना पूर्वाग्रह है, और मैं इसे छिपाने का प्रयत्न नहीं करूँगा। इसलिए विज्ञान की मेरी व्याख्या कुछ इस प्रकार है : "विज्ञान परस्पर सम्बन्धित धारणाओं और धारणा-पद्धतियों की श्रृंखला है जिसका विकास परीक्षणों और प्रेक्षणों के फलस्वरूप हुआ है और जो आगे के परीक्षण और प्रेक्षण के लिए लाभप्रद है। इस व्याख्या में 'लाभप्रद' शब्द पर जोर दिया गया है। विज्ञान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अनेक अनुमान लगाये जाते हैं। नये विचारों और नयी प्रायोगिक खोजों के महत्त्व की माप उनके परिणाम से की जाती है—परिणाम, अर्थात् अन्य विचार तथा अन्य प्रयोग। इस प्रकार मान लेने पर, विज्ञान निश्चयात्मकता की खोज नहीं है। वल्कि यह एक ऐसी खोज है, जो इसी हद तक सफल है कि यह निरन्तर जारी है।

इस अन्तिम वक्तव्य को पढ़कर कुछ लोग यह समझेंगे कि वैज्ञानिक क्रियाशीलता एक प्रकार का दीवानापन है। यदि धारणाओं और धारणा-प्रणालियों का महत्त्व केवल यही है कि वे नये परीक्षणों को जन्म देती हैं और नये परीक्षण पुनः नयी धारणाओं और धारणा-प्रणालियों को जन्म देते हैं और यह सिलसिला अनन्त समय तक चलता जाता है तो फिर आखिर धारणाओं और धारणा-प्रणालियों की यह खोज क्यों की जाय ? यदि आप विज्ञान का औचित्य उसके उपयोग में ही समझते हैं (जैसा कि मैं नहीं समझता) तो क्या यह गत्यात्मक दृष्टिकोण पराजयवादी दृष्टिकोण नहीं ? ऐसी अवस्था में स्पष्ट रूप में यह क्यों न कहा जाए (जैसा कि अतीत में अनेक वैज्ञानिक कह चुके हैं) कि भौतिक और रसायनशास्त्री यही खोज करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यह निर्जीव ब्रह्माण्ड कैसे बना और कैसे काम कर रहा है? यदि यही लक्ष्य है तो कम से कम सिद्धान्त रूप में एक अन्तिम विन्दु अवश्य है। अर्थात् जब यह समस्या सुलझ जायगी और ब्रह्माण्ड की संरचना मालूम कर ली जायगी तो प्रयोगशालाएँ वन्द कर दी जाएँगी और मानव दूसरे काम में लग जाएँगे। आप कह सकते हैं कि यह सामान्य बुद्धि की वात है ; धारणाओं और धारणा-प्रणालियों की खोखली बातें साधारण व्यक्तियों और वैज्ञानिकों को विज्ञान के 'अनिवार्य तथ्यों', जिन पर विज्ञान टिका है, से अलग ले जाती हैं।

यदि इन समस्याओं पर ठीक ढंग से विचार किया जाय तो एक दार्शनिक समूह को सम्मिलित रूप से एक पृथक् पुस्तक लिखनी पड़ेगी। 'समूह' शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि कुछ जटिल प्रश्नों के सर्वमान्य उत्तर नहीं हैं। वैज्ञानिक विधियों की प्रारम्भिक व्याख्या में बहुत सीमा तक उन

विद्वानों की कठिनाइयों को नज़र-अन्दाज किया जा सकता है जो इस समस्या में उलझे हुए हैं कि मानव जाति कैसे कुछ जान पाए या फिर 'जानने' का अर्थ क्या है ? किन्तु वैज्ञानिकों के बारे में आम धारणा है कि वे यह जानते हैं कि ब्रह्माण्ड का निर्माण 'सचमुच' किस प्रकार हुआ । मैं वैज्ञानिक उपलब्धियों के बारे में बड़ी सावधानी से लिख रहा हूँ, इसलिए अपनी सावधानी के औचित्य के बारे में कुछ लिखूंगा ।

विज्ञान और यथार्थ; एक संदेहवादी दृष्टिकोण

जैसा कि इस पुस्तक के शीर्षक से प्रकट है, मुझे आशा है, विज्ञान और सामान्य बुद्धि का आपसी सम्बन्ध जोड़ने से वैज्ञानिकों के कार्य को समझना और भी सरल हो जायगा । लोगों में एक ऐसी भ्रामक धारणा है कि विज्ञान अत्यधिक गणितपूर्ण, इतना दुरूह, इतना तकनीकी हो गया है कि यदि उसका साधारण बुद्धि से कोई नाता था भी तो वह कभी का समाप्त हो चुका है । यह सच है कि बीसवीं शताब्दी में हुई भौतिकी की क्रान्ति का मुख्य कारण यही है कि वैज्ञानिकों ने पहले की अपेक्षा सामान्य बुद्धि के विचारों का अधिक गहन विश्लेपण किया है । इसी पुनर्विवेचन से दिक् और काल के सम्बन्ध में भौतिक-शास्त्रियों के विचारों में गम्भीर परिवर्तन हुआ है । परन्तु यदि साधारण व्यक्ति सापेक्षिकता और क्वांटम सिद्धान्तों से विज्ञान का अध्ययन आरम्भ करे तो निश्चय ही वह बुरी तरह भ्रम में पड़ जायगा । मेरा सुझाव इससे बिलकुल विपरीत है । हम सामान्य बुद्धि और विज्ञान के आपसी ऐतिहासिक सम्बन्ध से प्रारम्भ करके प्राप्त परिणामों को आधुनिक विज्ञान के विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में भी देखेंगे कि इस शताब्दी में भी उन सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं आया है । मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक में प्रस्तुत सतर्क अथवा संदेहवादी दृष्टिकोण तथा विज्ञान की विधियों के विश्लेषण से उन लोगों को भी कोई कठिनाई न होगी जो बाद में आधुनिक विज्ञान के किसी पहलू के सम्बन्ध में अधिक अध्ययन करना चाहेंगे ।

19वीं शताब्दी में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने वालों का कार्य आसान था । इसके विपरीत इस शताब्दी के भौतिक-शास्त्रियों के कार्य के परिणामों को लिखना अत्यन्त कठिन है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि 1900 के आस-पास विज्ञान में एक अप्रत्याशित परिवर्तन हुआ । पहले विज्ञान के इतिहास में एकाधिक क्रान्तिकारी सिद्धान्त और अनेक युगप्रवर्तक अन्वेषण हुए थे । परन्तु 1900 और 1930 के मध्य बिलकुल भिन्न बात हुई । परीक्षणों के फलस्वरूप जो भविष्य-

वाणियाँ की गई थीं वे सब निष्फल हुईं। सब वैज्ञानिक सिद्धान्तों और व्याख्यानों को अल्पकालीन समझने का औचित्य सिद्ध करने के लिए यही प्रसंग काफी है। निश्चय ही जो लोग भौतिक-शास्त्रियों के परिवर्तित रवैये के परिणामों को समझते हैं, उनके लिए आज विज्ञान की एकमात्र परिभाषा यही हो सकती है कि विज्ञान "परीक्षणों से उत्पन्न धारणाओं का पुंज है जो अन्य परीक्षणों की जन्मदात्री है।"

प्रोफेसर ब्रिजमैन ने अभी कुछ समय पूर्व कहा था कि "बीसवीं शताब्दी आरम्भ होने के साथ ऐसे प्रायोगिक तथ्यों की खोज हुई है जिनकी कल्पना तक पहले न की गई थी और जिनकी सम्भावना का ख्याल तक न था और इस कारण भौतिक-शास्त्री एक बौद्धिक युग से गुजरे थे।" प्रोफेसर ब्रिजमैन मुख्यतः तीव्र वेग के क्षेत्र से सम्बन्धित प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कह रहे थे, जिसकी व्याख्या आज सापेक्षिकता के विशेष सिद्धान्त से स्पष्टतः की जा सकती है। इसी तरह जो स्वयं भौतिक-शास्त्री नहीं हैं, परन्तु जिन्होंने भौतिक-शास्त्रियों की बातें 40 वर्ष से अधिक समय तक सुनी हैं, उनके दृष्टिकोण से प्रकाश (दृश्य और अदृश्य दोनों) के अध्ययन के सम्बन्ध में भी जो कुछ हुआ, वह भी असाधारण था। संक्षेप में, कथा इस प्रकार है: "प्रकाश की अनेक सामान्य प्रक्रियाएँ इस सिद्धान्त के बल पर समझायी जा सकती हैं कि प्रकाश वास्तव में तरंग-गति है। इसी तरह कुछ उन्हीं प्रक्रियाओं की व्याख्या इस सिद्धान्त के अन्तर्गत की जा सकती है, जिसमें प्रकाश किरण को अत्यन्त सूक्ष्म कणों का प्रवाह माना गया है। दूसरे सिद्धान्त को कण-सिद्धान्त कहा गया है। पहले इसका बड़ा बोलबाला था। परन्तु 1800 के करीब कुछ ऐसी प्रक्रियाओं की खोजें हुईं, जिनकी व्याख्या कण-सिद्धान्त के अन्तर्गत असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य थी और तरंग सिद्धान्त से ही की जा सकती थी। 19वीं शताब्दी के मध्य तक यह समझा जाता था कि प्रकाश का प्रकृति सम्बन्धी यह सिद्धान्त 'सुस्थापित' हो चुका है। 1870 में हार्वर्ड के एक सनकी प्रोफेसर कहा करते थे कि "प्रकाश के तरंग सिद्धान्त में अब विश्वास इसलिए किया जाता है कि कणिका-सिद्धान्त को मानने वाले सभी लोग मर चुके हैं।"

1912 में कैम्ब्रिज (मेसाच्यूसेट्स, अमरीका) में यह अच्छा मजाक था, परन्तु तब भी यदि कोई व्यक्ति प्रकाश को कण-प्रकृति की बात करता था तो अतीत के विचारों से चिपके रहने के अतिरिक्त कुछ और भी समझा जाता था। क्योंकि उस समय तक यह स्पष्ट हो चुका था कि प्रकाश के अवशोषण और उत्सर्जन से सम्बन्धित अनेक प्रक्रियाओं की सन्तोषप्रद व्याख्या प्रकाश के कण-सिद्धान्त के

आधार पर ही की जा सकती है। यह तो दुविधा की बात थी। उपयुक्त परीक्षण द्वारा इस कठिनाई का समाधान हो सकता है, ऐसा शायद ही किसी ने चालीस साल पहले सोचा होगा। मुझे याद है कि उस समय हार्वर्ड में प्रकाश-विज्ञान के एक अधिकारी विद्वान् ने अपने छात्रों से यह कहा था कि प्रकाश कणात्मक और तरंगात्मक दोनों नहीं हो सकता। ऐसा मानना बेहूदा बात होगी। उन्होंने यह घोषणा भी की थी कि कभी कोई प्रामाणिक प्रयोग अवश्य यह सिद्ध कर देगा कि दोनों विरोधी धारणाओं में से कौन सम्मत और सही है। परन्तु आज 1950 में भी मुझे सन्देह है कि भौतिकशास्त्री इस बात से असहमत होंगे कि इस दुविधा को दूर करने के लिए कोई परीक्षण किया जा सकता है। प्रकाश सम्बन्धी सभी ज्ञात प्रतिक्रियाओं की व्याख्या सन्तोषजनक ढंग से जिस धारणा-प्रणाली में की जा सकती है (और कई दशकों से की जा रही है) वह ऐसी है कि कुछ परीक्षण कण-सिद्धान्त पर ठीक उतरते हैं और दूसरे परीक्षण तरंग सिद्धान्त पर। ऐसा कोई परीक्षण नहीं है जो एक समय के अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दे सके कि प्रकाश वास्तव में कणात्मक है या तरंगात्मक ?

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के 1929 के संस्करण में 'प्रकाश' पर निबन्ध इस वक्तव्य से आरम्भ होता है : "शायद यह आशा की जाती हो कि हम अपने निबन्ध का आरम्भ यों करें कि 'वास्तव' में 'प्रकाश' क्या है, और उसकी प्रकृति का वर्णन करें। परन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं—क्योंकि निश्चय ही प्रकाश उन सारी चीजों से अधिक प्राचीन है जिनकी सहायता से हम उसकी व्याख्या का प्रयत्न कर सकते हैं। प्रकाश की प्रकृति का वर्णन केवल उसके गुणों की गणना और उन्हें सरलतम नियमों पर आधारित करके किया जा सकता है। चूँकि ये नियम हमारे सामान्य अनुभव से परे हैं, अतः उनका विशुद्ध तर्कसंगत अथवा यों कहिये कि गणित के रूप में प्रगट किया जाना आवश्यक है। इसलिए हम प्रकाश के व्यवहार का वर्णन उदाहरणों द्वारा करेंगे और प्रकाश का 'असली' रूप यही है।"

यह उद्धरण एक भौतिकशास्त्री का है। (अपनी पुस्तक में मैंने जो दृष्टि-कोण अपनाया है उसके प्रमाणस्वरूप मैंने यह उद्धरण दिया है।) इसकी तुलना 'ब्रिटेनिका' के 1911 के संस्करण के 'प्रकाश पर निबन्ध' की भूमिका से करना कितना मनोरंजक है (जिसे एक ज्योतिर्विद ने लिखा था, किन्तु जिसमें उस समय के भौतिकशास्त्रियों का दृष्टिकोण स्पष्ट झलकता है)। लेखक कहता है 'प्रकाश' की व्याख्या विषयानुसार की जा सकती है, परन्तु वस्तुपरक परि-

भाषा या 'प्रकाश की प्रकृति' प्रकाश-अनुसंधान का केन्द्र है। पहले 'प्रकाश' की यथार्थ प्रकृति को जानने पर ज़ोर दिया जाता था, अब उसकी प्रक्रियाओं की वास्तविकता से समानता करने पर ज़ोर दिया जाने लगा। यह परिवर्तन भौतिकी के सम्बन्ध में कुछ न जानने वाले पाठक को भी स्पष्ट है। आधुनिक भौतिकी से अच्छी तरह परिचित व्यक्ति यदि इन पृष्ठों को पढ़ें तो वे सम्भवतः यह अनुभव करेंगे कि मैंने बहुत उलझनपूर्ण ऐतिहासिक विकास-क्रम को नज़र-अन्दाज कर दिया है। प्रकाश की प्रकृति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के रवैये में अन्तर प्रकट करने का कारण यह है कि, जिससे यह पता चले कि 50 वर्ष पूर्व प्रयोग में आने वाली परिभाषाओं के शब्दों में, आज विज्ञान की परिभाषा बताना कितना कठिन है।

मेरे जिन वैज्ञानिक मित्रों को विज्ञान के सम्बन्ध में मेरी इस संशयात्मक-वृत्ति (जो मेरी सम्पूर्ण पुस्तक में मौजूद है) के सम्बन्ध में आपत्ति हो तो उनके लिए मेरा सुझाव है कि जब हम "प्रकाश 'वास्तव में' क्या है ?" जैसे प्रत्यक्षतः साधारण प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने में भी हमें इतनी सावधानी की ज़रूरत है तो फिर यथार्थता की बात करना कितना मुश्किल काम है। इसके अतिरिक्त मैं विशुद्ध अध्यापन की दृष्टि से यह कहूँगा कि विज्ञान से अपरिचित लोगों के लिए संशयात्मकता से सिद्धान्त की ओर बढ़ना सरल है। सिद्धान्त से संशयात्मकता की ओर बढ़ना कठिन। चूँकि विज्ञान के सभी लोकप्रिय विवरण आज पूर्णतया सिद्धान्तों के रूप में हैं और अनेक शक्तियाँ काम कर रही हैं। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद यदि पाठकों को वैज्ञानिक 'यथार्थ' पर विश्वास जमाने की आवश्यकता प्रतीत होगी तो ये शक्तियाँ उसकी सहायक होंगी। अन्त में मुझे यह कहना है कि भौतिकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में सन्देह न करने वाले लोग भी यह स्वीकार करेंगे कि किसी नये सिद्धान्त के विकास के आरम्भिक काल में सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति अनिर्णायक दृष्टिकोण ही अपनाते रहे हैं। इसलिए प्राचीन उदाहरण देकर मैंने प्रयोगात्मक विज्ञान की प्रक्रिया का आगे जो विवेचन किया है, उसे समझने के लिए मैं पाठकों से आग्रह करता हूँ कि वैज्ञानिक विवेचन के प्रति वे अधिक से अधिक संशयात्मक बनें।

धारणामूलक प्रणालियों की उपयुक्तता में वृद्धि

अब फिर सामान्य बुद्धि की बात। इस विषय पर विवाद करना अनावश्यक है कि वैज्ञानिक ध्येय के लिए परीक्षणों का विकास व्यावहारिक ध्येय के लिए

लने के प्रति दिन के कार्य में कोई भाग नहीं लेते। यानी वह देवताओं को कार्य में सहायक नहीं मानता। गैलीलियो द्वारा तोप के गोले के पथ में दिलचस्पी लेना आरम्भ करने से पूर्व सेनानायकों को तोप बनाना आता था। 16वीं शताब्दी के पदुआ के शरीरविज्ञान-शास्त्रियों ने विज्ञान की एक शाखा में बहुत कुछ किया, और वे यह जानते थे कि किसी सीमा तक मानव शरीरों के ढाँचे के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। इसी तरह सदियों पुराने साधारण बुद्धिगम्य प्रेक्षण ही कृषि के आधार थे।

कुछ इतिहासज्ञों का कहना है कि आध्यात्मिक आधार के बिना 17वीं शताब्दी का प्रयोगात्मक दर्शन विकसित ही नहीं हो सकता था। कुछ आधुनिक लेखकों का दावा है कि कोई भी नास्तिक प्रकृति की एकरूपता में इतना विश्वास नहीं रख सकता था कि वैज्ञानिक कार्य कर सके। मनुष्य की अवचेतन धारणाओं के विभिन्न अवयवों का विवेचन बहुत कठिन कार्य है। निस्सन्देह सभी वैज्ञानिक सिद्धान्तों में प्रकृति की एकरूपता के प्रति काफी हद तक विश्वास स्पष्ट है, परन्तु यह विश्वास उन प्रयोगात्मक कलाकारों में भी उतना ही दृढ़ होना चाहिए। तीन शताब्दी पहले प्रयोगात्मक विज्ञान के आरम्भ से पूर्व यह बात सही थी।

आगामी अध्यायों में हम उन प्रयोगों के सम्बन्ध में विचार करेंगे जिन्हें बार-बार दोहराने पर भी परिणाम वही रहे (अशुद्धि की सीमा के अन्दर)। हम यह मानकर चलेंगे कि समान परिस्थितियों में प्रक्रियाएँ पुनरावर्तनशील हैं। इन मान्यताओं को आँख मूँदकर विश्वास करना कहा जा सकता है, परन्तु धातुओं के पिघलाने वाले, कृषक, नाविक, पम्प-चालक, काँच को फुलाने वाले और इसी तरह अन्य असंख्य शिल्पकार भी तो यही मानते हैं। भौतिक वस्तुओं की कार्यप्रणाली के प्रति विद्वानों की रुचि जागने से बहुत पहले ही पीढ़ियों तक व्यावहारिक ज्ञान को प्रमाणित किया जा चुका था। मैं सम्पूर्ण पुस्तक में 'तथ्य' जैसे अनिश्चित शब्द का प्रयोग करूँगा। इससे मेरा अभिप्राय विगत प्रयोग ही नहीं, अपितु सामान्यीकृत कथन भी है; जिसके बल पर पूर्व घोषणा की जा सकती है कि अमुक परिस्थितियों में प्रयोग को दोहराया जा सकता है। यह एक तथ्य है कि यदि समुद्र की सतह पर चूषण पम्प को चलाया जाएगा तो उससे 34 फुट की गहराई तक (और अधिक नहीं) से पानी खींचा जा सकेगा। किन्तु पूर्ववर्णित सावधानीपूर्ण ढंग के अनुसार मैं नहीं कह सकता कि यह तथ्य है कि "जिस भूमि पर हम रहते हैं वह वायु-मंडल से घिरी हुई है, और अपने भार के कारण वायु दबाव डालती है," यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें कोई

सन्देह नहीं है। जिस प्रकार की खोज हम करने जा रहे हैं—उसमें उद्धृत कथन को धारणामूलक व्यवस्था कहना ही ठीक होगा। निश्चय ही जब यह पहले-पहल उपस्थित किया गया था तो यह अनिवार्यतः इस तरह के बयान से अधिक भिन्न न था कि "परमाणु नाभिक प्रोटोन और न्यूट्रोन से निर्मित है," जिसे आज भी अनेक वैज्ञानिक इस बात की परिकल्पना अथवा नियम ही मानते हैं, तथ्य नहीं।

कभी-कभी आजकल के कुछ लोकोपयोगी लेखों में विज्ञान के सम्बन्ध में इस तरह की घोषणा देखने को मिलती है : "आधुनिक भौतिकी ने सिद्ध कर दिया है कि लकड़ी की मेज 'वास्तव में' इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन से बनी है।" इस वाक्य में प्रयुक्त 'वास्तव में' का अर्थ संदेहास्पद है। इसी बात को अधिक अच्छी तरह इस प्रकार कहा जा सकता है : "मेज से सम्बन्धित धारणा सामान्य संसार के लिए लाभदायक रही है और दार्शनिकों ने (दार्शनिकता की अभिव्यक्ति के लिए) बिना कठिनाई उसका उपयोग किया है; अनेक व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए भी 'लकड़ी' सम्बन्धी धारणा लाभप्रद है, और लकड़ी के विगत इतिहास के कारण हम उसे काफी जानते हैं। लकड़ी के रसायन सम्बन्धी परिवर्तनों को 'सैल्यूलोज़' और 'लैगनिन' नामक दो तत्त्वों की मदद से वर्णित किया जा सकता है, और इससे भी अधिक लाभप्रद रूप में परमाणुओं और परमाणुओं के समूह अथवा अणुओं की धारणामूलक व्यवस्था के रूप में वर्णित किया जा सकता है। फिर भी मैं नहीं जानता कि इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन ले आने पर भी कोई व्यक्ति लकड़ी को और अधिक उपयोगी कैसे बना पायेगा। (यूरेनियम के सम्बन्ध में यह कहना अलग बात है !)"

संक्षेप में, मेज अथवा लकड़ी की सामान्य बुद्धिगम्य धारणा की वास्तविकता का प्रश्न जितना आसान है, उतनी ही आसान वैज्ञानिकों की अनेक धारणा-मूलक व्यवस्थाएँ हैं। सचेत न रहने पर अथवा साधारण व्यक्ति के लिए वास्तविकता की मात्रा इस बात पर निर्भर है कि वे किसी धारणा या धारणा-मूलक व्यवस्था से किस हद तक परिचित हैं। और यह परिचय काफी समय के दौरान किसी धारणा की उपयोगिता पर निर्भर है। सामान्य बुद्धिगम्य बातों के समान विज्ञान में भविष्यवाणी की प्रायिकता वास्तव में कम या अधिक संभावना का प्रश्न है। हम अपने अधिकांश व्यावहारिक कार्यों में, इस तरह की निश्चया-त्मकता के लिए अपनी जेब का आखिरी रुपया भी दाँव पर लगाने के लिए तैयार हो जाते हैं कि पत्थर ऊपर उछाले जाने पर भूमि पर ही गिरेगा। दार्शनिक का एक सम्प्रदाय यह कहेगा कि अपनी प्रतिदिन की घटनाओं में से

जिन पर हमें 'निश्चय' होता है, वे वास्तव में वह ज्ञान हैं जिसमें प्रायिकता की मात्रा अधिक है। इतने पर भी भूत के सम्बन्ध में कुछ कहना, भविष्यवाणी और किस घटना के बाद क्या होगा, ये सारी बातें संशयवादी के लिए उपकरण ही हैं। इस पुस्तक के दसवें अध्याय में संशयवाद की अनेक श्रेणियों के परिणामों का संक्षिप्त विवरण है। आधुनिक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में कैसे कार्य करता है, इस बात को समझने के लिए पाठकों के सहायक होंगे मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति (सान्तायन के शब्दों में) एक पशुवत विश्वास तथा विज्ञान के प्रति संशय। सब कुछ हो जाने पर, प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के श्रम के विवरणों का आधार आखिर विश्वसनीयता और अविश्वसनीयता का कोई न कोई मिश्रण ही तो होगा।

संचित ज्ञान

'विज्ञान क्या है?' इस विषय पर विचार समाप्त करने से पूर्व हमें उन लोगों के दृष्टिकोणों पर भी विचार करना है जो इस शब्द द्वारा मानव क्रिया-कलाप के व्यापक समूह को लेना चाहते हैं। इसी भावना से जर्मन भाषा में 'विसेनशाफ़्ट' नामक एक पृथक् शब्द है। मैंने पहले ही इस बात का संकेत दिया है कि मैं विज्ञान शब्द के सीमित उपयोग को लाभप्रद क्यों समझता हूँ। व्यापक क्षेत्र के लिए मैं 'संचित ज्ञान' अधिक उपयुक्त समझता हूँ। 'संचित ज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत भौतिकी और जीव-विज्ञान सम्बन्धी तथा गणित, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र, भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र और इतिहास का बहुत-सा भाग रखा जा सकता है। विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि गत तीन शताब्दियों में इन विषयों में महान प्रगति हुई है। दर्शन, कविता, और ललित-कलाओं के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। यदि आप इस बात पर सन्देह करते हैं और प्रश्न करते हैं कि शैक्षिक मामलों में प्रगति का लेखा-जोखा कैसे किया जा सकता है, तो मैं आप से एक काल्पनिक कार्य करने को कहूँगा। सम्बन्धित विषयों के मृत विद्वानों को जीवित कीजिये, उनसे कहिए कि वे वर्तमान स्थिति का लेखा-जोखा लें और बताएँ कि उनकी सम्मति में कुछ प्रगति हुई है या नहीं। गैलीलियो, न्यूटन, हार्वे अथवा नृतत्वशास्त्र और पुरातत्व के अग्रणी विद्वान् आदि क्या उत्तर देंगे इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। माइकेलैंजलो, रेमब्राँ, दान्ते, मिल्टन और कीट्स के साथ और बात होगी। टॉमस एक्वीनास, स्पिनोत्सा, लॉक अथवा काण्ट के साथ भी और बात होगी। हम सारे दिन इस बात पर तर्क कर सकते हैं कि कोई चित्रकार, कवि अथवा दार्शनिक कला, कविता

और दर्शन की वर्तमान अवस्था को अपने समय की तुलना में प्रगतिशील कहेगा या अगतिशील। हम एकमत नहीं होंगे, इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि आज से 50 वर्ष पूर्व के बहुमत और आज के बहुमत में भी सहमति नहीं होगी।

मैं समझता हूँ कि एक क्षेत्र की बौद्धिक हलचल को वर्णन करने की प्रक्रिया में प्रगति की धारणा को लाना कितना खतरनाक है। इसलिए मैं फौरन कह देना चाहता हूँ कि मैं अपने श्रेणी-विभाजन में किसी रूढ़ि को लागू नहीं कर रहा। मैं प्रगति और उन्नति शब्दों को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। मेरा विचार तो इसके सर्वथा विपरीत है। मानव के नाते हमारे लिये उन चीजों का महत्त्व अधिक है जो मेरी संचित ज्ञान की व्याख्या में नहीं आतीं। इस बात पर और अधिक बात करने से हम प्रसंग से बहुत दूर हट जाएँगे। मैं केवल दो प्रश्न पूछता हूँ : (1) हम अपने दैनिक-जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णयों में वर्तमान काल की वैज्ञानिक खोजों के परिणामों से किस सीमा तक प्रभावित होते हैं ? (2) बरसों से सचेतन अथवा अचेतन रूप में हमारे भीतर समाने वाले दर्शन और काव्य के प्रभाव हमारे क्रिया-कलाप में किस सीमा तक परिलक्षित नहीं होते ? साक्षर लोगों के विचारों और क्रिया-कलापों को मोड़ने की इच्छा रखने वाला तानाशाह वैज्ञानिकों और पण्डितों-विद्वानों को तो नज़रअन्दाज कर सकता है, परन्तु दार्शनिकों, लेखकों और कलाकारों को उसे या तो अपने पक्ष में करना होगा या उन्हें समूल नष्ट कर देना होगा।

ज्ञान और अभ्यास में प्रगति

मैं फिर संचित ज्ञान के प्रश्न पर आता हूँ। यदि मनुष्य के प्रयत्नों के इस क्षेत्र की सीमा का आकलन प्रगति अथवा अगति से करना हो तो क्या हमें काफ़ी क्रियात्मक और सैद्धान्तिक ज्ञान को उसमें सम्मिलित नहीं करना चाहिए ? निश्चित रूप में हमें करना चाहिए। साधारण मनुष्य के लिए मानवीय प्रयास की प्रगति का अर्थ है औषधियाँ, मोटरकार और रेडियो—गति सम्बन्धी न्यूटन के तीन सिद्धान्त अथवा क्वाँटम सिद्धान्त या आईंस्टीन का सिद्धान्त नहीं। क्रियात्मक कलाओं में तरक्की और विभिन्न विज्ञानों में प्रगति का अन्तर इस पुस्तक में बार-बार आयगा। अनुसन्धान और वैज्ञानिक खोज का अन्तर कुछ उदाहरणों में मामूली मालूम पड़ेगा, परन्तु क्रियात्मक कलाओं का इतिहास और विज्ञान के विकास के बीच भ्राँति विज्ञान के प्रति भ्रान्त धारणा को जन्म देती है। शिल्पिक उपकरणों अथवा रसायन सम्बन्धी उपकरणों (जैसे धातु विज्ञान अथवा साबुन

बनाना) की प्रगति और विज्ञान की उन्नति में अन्तर के सम्बन्ध में आगामी पृष्ठों में सविस्तार विचार किया जायगा। जीव-विज्ञान सम्बन्धी विज्ञानों में वैज्ञानिक प्रगति का सम्बन्ध उद्योग नहीं वरन् व्यापार और कृषि तथा औषधि विज्ञान के साथ है।

क्रियात्मक कला दीर्घकाल तक विज्ञान से काफी आगे रही, अभी थोड़े से वर्षों से वैज्ञानिक खोजों ने अभ्यास को अधिक प्रभावित किया है, और अभ्यास ने विज्ञान को कम। स्वर्गीय प्रोफेसर एल० जे० हैण्डरसन कहा करते थे कि 1850 से पूर्व भाप के इंजन ने विज्ञान के लिए अधिक कार्य किया, विज्ञान ने इंजन के लिए कम। निश्चिय ही इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभ्यता के उदय से लेकर ज्ञान का संचय, वर्गीकरण और क्रियात्मक उद्देश्यों के लिए उसका उपयोग होता रहा है। इन प्रगतियों के इतिहास के अध्ययन से विज्ञान की चाल-ढाल के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम ही जानकारी प्राप्त होती है। कारण कि वे विज्ञान के अंग नहीं, यद्यपि उनके बिना विज्ञान का प्रादुर्भाव ही न हुआ होता।

इसी प्रकार तर्क किया जा सकता है कि कुछ राष्ट्रों ने शासन-कला, अपराधियों से व्यवहार, शिक्षा के प्रसार, असमान सुविधाओं की समाप्ति और सामान्य सामाजिक सुधारों में जो प्रगति की है, वह सामाजिक विज्ञानों का अंग नहीं। इन परिवर्तनों का मानव-विज्ञान से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा याता-यात के तरीकों और उत्पादन प्रक्रियाओं के सुधारों का भौतिक विज्ञानों से (यद्यपि आज कुछ सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता के प्रति कम मतैक्य प्रतीत होता है)। यदि यह समानता सही है तो सामाजिक विज्ञानों की विधियों में रुचि रखने वाले लोग अध्ययन कर सकते हैं कि किस प्रकार शिल्पियों और किसानों की प्रतिदिन की क्रियाओं से भौतिक और जीव-विज्ञानों का विकास हुआ। प्राचीनकाल के प्रयोगसिद्ध अभ्यासों को आधार बनाकर आधु-निक औषधि विज्ञान के विकास का अध्ययन विशेष महत्त्व का होगा।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ दी गई विज्ञान की परिभाषा में मानव के अध्ययन को छोड़ा नहीं गया है। इतने पर भी मैं सामाजिक विज्ञानों की सम-स्याओं और विधियों के सम्बन्ध में अधिक विचार नहीं करूँगा। आगे के पृष्ठों में लगभग पूर्णतः भौतिक और जीव-विज्ञानों पर ही विचार किया गया है। परन्तु अतीत के अध्ययन के सम्बन्ध में (अध्याय दस) में विज्ञान और इतिहास का अन्तर स्पष्ट करने का यत्न करूँगा। यदि यह अन्तर सही पाया गया तो यह उन्हीं विषयों के अनुरूप होगा जो शिक्षण सम्बन्धी ध्येयों के लिए 'सामा-

जिक विज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत रखे जाते हैं। संचित ज्ञान का सारा क्षेत्र अनेक प्रकार से विभक्त किया जा सकता है और मैं सोचता हूँ कि गणित के समान इतिहास का भी अपना अलग स्थान है। परन्तु किसी भी वर्गीकरण में अनिश्चयात्मकता अवश्य रहेगी। उदाहरणतः मनोविज्ञान को जीव-विज्ञान और समाज विज्ञान दोनों समझा जाता है। इसी तरह नृतत्वशास्त्र को भी जीव-विज्ञान अथवा समाज विज्ञान से सम्बन्धित माना जा सकता है। जिस सीमा तक मनुष्य का अध्ययन अन्य जीव-जन्तुओं के अध्ययन के समान है जीव-विज्ञान सम्बन्धी विधियाँ स्पष्टतः लागू होती हुई प्रतीत होती हैं। दूसरी ओर सामाजिक मनोविज्ञान, सामाजिक नृतत्वशास्त्र और समाज विज्ञान मानव सम्बन्धों की कला में नई विधियों के प्रवेश के प्रयास हैं और इन्हें पृथक् प्रयास समझा जाना चाहिए। इस प्रकार नियोजित विधियों और प्राकृतिक विज्ञान की विधियों में कितनी समानता है, यह अभी तक संदिग्ध है। अन्तिम अध्याय में मैं फिर इस पर विचार करूँगा और जोर दूँगा कि सामाजिक पशु के रूप में मानव का और आगे वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय। हमें इस कार्य में प्रगति की बहुत आशा है, और हमें विश्वास है कि प्राकृतिक विज्ञानों और इसमें किसी हद तक समानता है। यदि यह सत्य सिद्ध हो सका तो इस पुस्तक में प्रस्तुत उदाहरण, जिनका सम्बन्ध यद्यपि भौतिक रसायन और जीव-विज्ञान से ही है, मानव और मानव-निर्मित संस्थाओं को और अधिक समझने के प्रयत्नशील अध्येताओं के सहायक होंगे।

तथाकथित वैज्ञानिक विधि

विज्ञान को पारिभाषित करने के प्रयत्नों को छोड़कर अब हम एक दूसरे विषय को लेते हैं। यह विषय है विज्ञान की विधियाँ, जो कुछ कम विवादग्रस्त नहीं है। जो लोग विद्वज्जगत की सभी गतिविधियों के लिए विज्ञान शब्द के प्रयोग के पक्ष में हैं, वे 'एक' वैज्ञानिक विधि में विश्वास रखते ही हैं। वास्तव में कुछ लोग और आगे बढ़ जाते हैं। वे 'एक' विधि के अस्तित्व का केवल दावा ही नहीं करते बल्कि यह विश्वास भी करते हैं कि इसका उपयोग अनेक व्यावहारिक बातों में भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक लब्धप्रतिष्ठ अमरीकी जीव-शास्त्री ने थोड़े समय पहले घोषणा की थी कि "विज्ञान और वैज्ञानिक विधि में प्रशिक्षण-प्राप्त पुरुष और स्त्री प्रायः स्वतः ही (हर बात के) प्रमाण की खोज करते हैं।" उनका संकेत वैज्ञानिक बातों की ओर नहीं बल्कि कारखानों, दफ्तरों और राजनीतिक सभाओं में नित्यप्रति की उलझनों की ओर था।

आश्चर्य है कि ऐसी स्पष्ट बात कहने वाले व्यक्ति को प्रमाण कहाँ से मिले। परन्तु यह तो विवादकर्त्ता की-सी बात है। इस वक्तव्य का महत्त्व दूसरा है। पिअर्सन कृत 'ग्रामर आफ़ साइन्स' में प्रस्तुत वैज्ञानिक विश्लेषण की शुद्धता के सिद्धान्त में निरन्तर विश्वास ही इस वक्तव्य में भी स्पष्ट है। कार्ल पिअर्सन अपनी पुस्तक में आद्योपांत विज्ञान को तथ्यों का वर्गीकरण कहते हैं। अपने प्रथम अध्याय के सारांश में वह लिखते हैं: "वैज्ञानिक विधि की विशेषताएँ निम्न हैं—(क) तथ्यों का सही और सावधानीपूर्ण वर्गीकरण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा क्रमबद्धता का प्रेक्षण, (ख) रचनात्मक कल्पना की सहायता से वैज्ञानिक नियमों का अन्वेषण, (ग) आत्मालोचन और सभी सामान्य मस्तिष्कों के लिए प्रामाणिक अन्तिम कसौटी।" (ख) और (ग) के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के सभी संक्षिप्त वक्तव्य अपूर्ण होते हैं, परन्तु (क) से मैं पूर्णतया असहमत हूँ और इस वाक्य में व्यक्त दृष्टिकोण ही पिअर्सन के सम्पूर्ण विवेचन में प्रमुख है। मेरा विचार है कि जिस व्यक्ति को वैज्ञानिक अनुसन्धान का थोड़ा अनुभव है अथवा कुछ भी अनुभव नहीं है, वह निश्चय ही

इस प्रसिद्ध पुस्तक के अध्ययन से विज्ञान की विधियों के बारे में भ्रम में पड़ जाएगा।

यदि विज्ञान इतना ही सरल है जितना इस पुस्तक में विश्वास दिलाने का प्रयास है, तो प्रश्न उठता है कि वैज्ञानिकों को कुछ बहुत ही सुपरिचित विषयों के सम्बन्ध में मत निश्चित करने में इतना समय क्यों लगा ? न्यूटन का प्रसिद्ध ग्रंथ सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पूर्ण हो चुका था। फ्राँस और इंगलैण्ड के सुसंस्कृत व्यक्ति अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सौर-मण्डल को लगभग वही समझते थे जो आज स्कूलों में बच्चों को समझाया जाता है। गति के नियमों और यान्त्रिकी में उनके उपयोग का व्यापक ज्ञान था। ऐसी अवस्था में यह कल्पना की जा सकती है कि एक बार वैज्ञानिक समस्याओं की ओर ध्यान देने के बाद प्रज्वलन जैसी सामान्य प्रक्रिया को स्पष्टतः समझा जा सका होगा। फिर भी 1770 के अन्त में ही समझा जा सका कि प्रज्वलन में ऑक्सीजन का कार्य महत्त्वपूर्ण है। जीवन के स्वतः प्रादुर्भाव की दूसरी विवादग्रस्त समस्या थी और 1870 के अन्त तक इस पर विवाद होते रहे। डार्विन ने विकास के विन्यास सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण करके विकास के सामान्य सिद्धान्त के बारे में पहले अपनी धारणा निश्चित की। उसके पश्चात् विज्ञान जगत् और तब अन्त में शिक्षित जनसमुदाय को उसकी सत्यता में विश्वास कराया। आज विकसित पौधों और जीवों के विकास-क्रम की मूल धारणा सन्देह से परे है, परन्तु डार्विन का विन्यास इतना अधिक परिवर्तित हो चुका है कि एक प्रकार से एक आधुनिक सिद्धान्त ही विकसित हो चुका है और डार्विन के समय की भाँति आज भी हम नहीं जानते कि इस पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव कैसे हुआ।

प्रत्येक पीढ़ी के योग्यतम वैज्ञानिकों तक को दोषपूर्ण प्रेक्षणों, भ्रमोत्पादक सामान्य सिद्धान्तों, अपर्याप्त नियमों, अचेतन पूर्वाग्रह आदि का सामना करना पड़ा है। किन्तु पाठ्यपुस्तकों द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने वाले लोगों ने इस पर बहुत कम ध्यान दिया है। इसकी अवहेलना तथाकथित वैज्ञानिक विधि के उन व्याख्याताओं ने की है जो परीक्षणात्मक अनुसंधानों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं की अपेक्षा तार्किक पहलुओं से अधिक प्रभावित हैं। मेरी परिभाषा के अनुसार, विज्ञान संचित ज्ञान का केवल एक भाग है। विज्ञान के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक अनुसन्धानों की समान विशेषता है। प्रगति की भावना और इससे उन लोगों की गतिविधियों का कोई पता हमें नहीं चलता, जिन्होंने हमारे ज्ञान को आगे बढ़ाया है। गणितज्ञों, इतिहासज्ञों, पुरातत्ववेत्ताओं, भाषा विज्ञा-

नियों, जीव-शास्त्रियों और रसायन-विज्ञानियों ने जिस प्रकार प्रगति की है, उसे एक ही तर्कसंगत नियमों में बाँधने का प्रयास करना, इन विभिन्न कार्यक्षेत्रों की शक्तिमत्ता की अवहेलना करना है। 'परीक्षणों से उद्भूत धारणाओं और धारणा-मूलक सिद्धान्तों के संकुचित क्षेत्र" (प्रायोगिक विज्ञान) तक में सबसे पहले के प्रयोगशील वैज्ञानिकों की विधियों के अत्यधिक सरल विवरणों से चमत्कृत होना अत्यधिक आसान है।

निश्चय ही वैज्ञानिक गतिविधि की किसी भी परिभाषा को अति सरल कहकर उसकी निन्दा करना अपेक्षाकृत आसान है। परन्तु उसका कोई अधिक अच्छा स्थानापन्न खोजना अपेक्षाकृत कठिन है। परन्तु मेरा विश्वास है कि प्राकृतिक विज्ञानों के प्रायः सभी आधुनिक इतिहासज्ञ एक बात पर अवश्य सहमत होंगे और कार्ल पिअर्सन का विरोध करेंगे। वैज्ञानिक विधि जैसी कोई चीज़ नहीं है। यदि कोई ऐसी वस्तु होती तो भौतिकी, रसायन, और जीवशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से अवश्य ही उसका पता चल जाता। कारण, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, शायद कोई इससे इन्कार न कर सके कि भौतिकी, रसायन और परीक्षणात्मक जीवशास्त्र की प्रगति के कारण ही वैज्ञानिकों की गतिविधियाँ प्रत्येक व्यक्ति को आश्वस्त करती हैं। परन्तु इन विषयों के सतर्क विवेचन से भी किसी एक विधि का पता नहीं चलता, जिसके बल पर कुशल वैज्ञानिक नवीन आविष्कार कर सके हों।

सत्रहवीं शताब्दी में परीक्षणात्मक विज्ञान का प्रादुर्भाव

विज्ञान के इतिहास की व्याख्या मैं इस प्रकार करता हूँ कि सत्रहवीं शताब्दी में विचार और क्रियाशीलता की तीन धाराओं के संयोग से वैज्ञानिक सक्रियता यकायक बढ़ गई और इसे 'नवीन दर्शन' अथवा परीक्षणात्मक दर्शन का नाम दिया गया। इन धाराओं के नाम इस प्रकार लिये जा सकते हैं : (1) अनुमानात्मक विचार; (2) निगमनीय तर्क; (3) अनुभूत सम्परीक्षण। पहली दो धाराओं का मध्ययुगीन विद्वानों की कृतियों में अच्छा निरूपण है। ग्यारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक के कानून, धर्मशास्त्र, गणित अथवा तर्कशास्त्र के अध्यापकों का प्रमुख उद्देश्य था सामान्य विचारों की तर्कयुक्त व्यवस्था और तार्किक प्रक्रियाओं का विकास। ऐसा करने में उन्होंने प्राचीन यूनानियों के दर्शन और गणित सम्बन्धी विचारों को कुछ हद तक आगे बढ़ाया और इस प्रकार यांत्रिकी की नींव रखी। भौतिकी की इसी शाखा ने सबसे पहले आधुनिकता

का परिधान ग्रहण किया था।

निगमनीय तर्क का एक मामूली उदाहरण स्कूल की प्रारम्भिक रेखागणित में मिलता है। रेखागणित में स्वयंसिद्ध सिद्धान्त दिए होते हैं। फिर निगमन की तर्कशील प्रक्रिया द्वारा कई परिणाम निकल आते हैं। इसी प्रकार अपेक्षाकृत कम औपचारिक और दृढ़ व्यापक विचारों—अर्थात् अनुमानात्मक विचारों—पर तार्किक प्रक्रिया द्वारा प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु अक्सर उनमें गणित के तर्कों जैसी दृढ़ता नहीं होती। हमें याद रखना चाहिए कि साधारण अनुमानात्मक विचारों पर विमर्श और गणित के सूक्ष्म अध्ययन में ऐसी विचार-प्रक्रियाओं का काम पड़ता है जो अपने आप में पर्याप्त मानी जाती हैं। विचारों की विशुद्ध तर्कसंगत व्यवस्था के लिए प्रेक्षण की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

सत्रहवीं शताब्दी में नवीन परीक्षणात्मक दर्शन के क्षेत्र में एकाएक बढ़ी हुई प्रक्रिया काफी अंश तक विचारशील व्यक्तियों के नवीन विचार-कौतूहल का फल थी। कृषि और औषध-विज्ञान से लेकर पम्पों से काम लेने की युक्ति, धातु विज्ञान और तोपों के गोलों की गति जैसी व्यावहारिक बातों तक की क्रियात्मक बातों और विद्वान् प्राध्यापक अथवा अपने विश्राम के क्षणों में अनुसंधान करने वाले व्यक्ति तक आकर्षित हुए। विज्ञान का प्रारम्भिक इतिहास इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है जब किसी वैज्ञानिक ने व्यावहारिक कला का प्रेक्षण किया तो एक नई समस्या उत्पन्न हो गई। परन्तु कृषकों अथवा साधारण कामगरों के अनुभूत परीक्षणों द्वारा हुई प्रगति तथा वैज्ञानिक समस्या का समाधान सर्वथा भिन्न है। एक नया तत्त्व आरोपित किया गया। यह था निगमनीय तर्क। इसके साथ अपेक्षाकृत पुरातन-काल के अनुमानात्मक विचारों से उद्भूत सामान्य सिद्धान्तों का भी उपयोग किया गया। फलतः किसी यन्त्र को उन्नत करने अथवा प्रक्रिया को विकसित करने के प्रश्नों पर से हटकर ध्यान सम्बन्धित प्रक्रियाओं की प्रकृति पर चला गया। नई धारणाएँ अथवा सिद्धान्त नये आविष्कारों के समान ही महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। दक्ष शिल्पियों अथवा मशीनों व कार्य-प्रणालियों के आविष्कारकों के परीक्षण विद्वान् वैज्ञानिकों के गणितात्मक तार्किकता से सम्बद्ध हो गये। परन्तु निगमनीय तर्क और परीक्षण के सम्बद्ध होने तथा ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में उनके उपयोग में अनेक पीढ़ियाँ लग गईं।

अनुमानात्मक विचार, क्रियात्मक परिकल्पनाएँ और धारणा-पद्धतियाँ

गत अध्याय में हमने विज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है "विज्ञान परस्पर

सम्बन्धित धारणाओं और धारणा-पद्धतियों की शृंखला है, जिसका विकास परीक्षणों और प्रेक्षणों के फलस्वरूप हुआ है तथा जो आगे के परीक्षण और प्रेक्षण के लिए लाभप्रद है। धारणा पद्धति के सर्वप्रथम नियमन का अर्थ है सम्भव व्यापक स्तर पर एक परिकल्पना जिसके आधार पर काम आरम्भ किया जा सकता है। इससे अनेक फलितार्थ अथवा निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—जिनमें से प्रत्येक पर तर्क करके परिणाम निकाले जा सकते हैं, और परिणामों की पुष्टि परीक्षण द्वारा हो सकती है। यदि अनेक उदाहरणों में परीक्षणों से परिणामों की पुष्टि हो जाय तो व्यापक स्तर पर कार्यवाहक परिकल्पना की पुष्टि करने वाले प्रमाण इकट्ठे होते जाते हैं और उसे शीघ्र ही नई धारणा-पद्धति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। उसका आगामी जीवन-काल छोटा या बड़ा दोनों हो सकता है, क्योंकि उससे नये परिणामों की स्थापना होती है जो सतर्क परीक्षण द्वारा सम्पुष्ट हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते।

विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ आवश्यक होता गया कि परिणामों की जाँच के लिए परीक्षणों के नियोजन के लिए सामान्य बुद्धिगम्य अनिश्चित विचारों (विशेषत: माप से सम्बन्धित विचारों) को सुनिश्चित और सही किया जाय। पुरातन विचारों का स्पष्टीकरण किया गया अथवा नवीन विचारों का समावेश हुआ। ये नवीन धारणाएँ प्राय: व्यापक धारणा-पद्धतियों के समान महत्त्वपूर्ण होती हैं। एक साधारण परीक्षणात्मक प्रश्न का सीधे-सादे 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर प्राप्त करना जितना कठिन होता है, उतना पहले-पहल देखने से मालूम नहीं होता और परीक्षण के बिना व्यापक परिकल्पनाएँ केवल अनुमानात्मक विचार ही बनी रहती हैं।

व्यापक अनुमानात्मक विचारों तथा विस्तृत धारणा-पद्धतियों के आपसी सम्बन्ध की ठीक-ठीक समझ विज्ञान को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परमाणु सिद्धान्त का इतिहास इसका एक अच्छा उदाहरण है। पदार्थ की रचना आधारभूत इकाइयों अथवा सूक्ष्मतम कणों से होती है, यह धारणा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। परन्तु सामान्य शब्दों में अभिव्यक्त करने पर यह केवल एक अनुमानात्मक विचार-मात्र है। इसे तब तक विज्ञान का अभिन्न अंग नहीं माना जा सकता जब तक यह किसी व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना को, जिसके परिणामों को परीक्षणों द्वारा जाँचा जा सके, जन्म नहीं देती। यह विशेष अनुमानात्मक विचार अथवा व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना तभी धारणा-पद्धति बन सकी जब सन् 1800 के लगभग डाल्टन ने यह दर्शाया कि रासा-

यनिक क्रान्ति द्वारा उद्भूत मात्रात्मक रासायनिक परीक्षणों के लिए यह कितनी लाभप्रद थी। इस उदाहरण में कुछ विस्तार से हम देख सकते हैं कि किसी कार्यवाहक-पद्धति का जन्म कैसे होता है जब कि अन्य उदाहरणों में हमें निश्चिततः पता नहीं लगता कि प्रस्तोता के मस्तिष्क में यह विचार कहाँ से आया।

अतीत की महान् क़ार्यवाहक परिकल्पनाओं का प्रादुर्भाव अक्सर प्रणेताओं के मस्तिष्क की ऐसी मानसिक प्रक्रियाओं के कारण हुआ, जिन्हें हम 'अनुप्रेरित अनुमान', 'सहज-प्रेरणा' अथवा 'कल्पना की उड़ान' के नामों से व्यक्त कर सकते हैं। वे शायद ही कभी सभी तथ्यों की सतर्क जाँच और किसी नये सिद्धान्त की स्थापना के विभिन्न ढंगों के तर्क-सम्मत विश्लेषण द्वारा प्रादुर्भूत हुई हों। पिअर्सन तथा विज्ञान की विधियों के सम्बन्ध में लिखने वाले उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य लेखकों ने अधिकांशतः इस बात को नजरअन्दाज़ किया है। वे तथ्यों के वर्गीकरण और तथ्यों से सामान्य सिद्धान्तों के सृजन से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने इस गतिविधि को ही सम्पूर्ण विज्ञान समझ लिया। इन दिनों विचारधारा बिलकुल ही विपरीत दिशा में है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लेखकों का ध्यान नये विचारों के विकास और उनकी उपयोगिता अर्थात् सैद्धान्तिक विज्ञान पर ही है। दोनों ही दृष्टिकोण परीक्षण के महत्त्व को कम करते हैं। मेरे विचार से इससे विज्ञान का इतिहास विकृत होता है। इससे भी बड़ी हानि यह होती है कि साधारण-व्यक्ति, जो अपने चारों ओर होने वाली वैज्ञानिक गतिविधि में रुचि रखता है, संशय में पड़ जाता है। इन कारणों और लेखक के अपने पक्षपात की वजह से विज्ञान और सामान्य बुद्धि सम्बन्धी वर्तमान विचार-विमर्श में बार-बार परीक्षणों और सिद्धान्त के अन्तः सम्बन्ध पर जोर दिया गया है।

सम्परीक्षण

अर्वाचीन विज्ञान के जिन तीन तत्त्वों का वर्णन किया गया है, वे हैं: (1) अनुमानात्मक सामान्य विचार, (2) निगमनीय तर्क, और (3) सम्परीक्षण। हमने सामान्य रूप से इस बात पर विचार किया कि व्यापक कार्यवाहक परि-कल्पनाएँ कैसे जन्म लेती हैं और कैसे उनसे परिणाम निकाले जाते हैं—जिनकी जाँच परीक्षण द्वारा होती है। यह मान लिया गया है कि सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान के उदय से बहुत पूर्व सम्परीक्षण कला विद्यमान थी। यदि ऐसा है तो विज्ञान और सामान्य बुद्धि का यह एक सम्बन्ध है। प्रतिदिन के जीवन के

सम्परीक्षण का अधिक विस्तृत विश्लेपण यहाँ और भी लाभप्रद सिद्ध होगा। कारण, मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि एक व्यक्ति के सरलतम युक्तियुक्त कार्यों तथा उच्चकोटि के वैज्ञानिक परीक्षण में निरन्तर उन्नति-क्रम है। इस दृष्टि-कोण के दोनों पक्ष पृथक् हैं। विज्ञान को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम सामान्य बुद्धिगम्य कार्यों और विज्ञान के परीक्षणों में अन्तर समझें।

पाठकों ने अपने जीवन में कभी न कभी तथाकथित वैज्ञानिक विधि के बारे में विभिन्न कथन अवश्य सुने होंगे। इसलिए कुछ भ्रमों का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है। मैंने वैज्ञानिक विधि के सम्बन्ध में अनेक ऐसे वक्तव्य पढ़े हैं। सम्परीक्षण वैज्ञानिक की अनेक अवसरों की (सभी अवसरों की नहीं) गति-विधि का यथातथ्य वर्णन होता है। ये वक्तव्य इस प्रकार हैं : (1) एक समस्या लेकर एक ध्येय निर्धारित किया जाता है ; (2) सब प्रासंगिक सूचनाएँ इकट्ठी कर ली जाती हैं ('प्रासंगिक' शब्द में अनेक प्रच्छन्न धोखे हैं); (3) एक कार्य-वाहक परिकल्पना निर्धारित की जाती है, (4) परिकल्पना से परिणाम निकाले जाते हैं; (5) परीक्षण द्वारा सिद्धान्तों की जाँच की जाती है; और (6) परि-णाम के आधार पर कार्यवाहक परिकल्पना को स्वीकार, संशोधित अथवा अस्वीकृत कर दिया जाता है।

यदि विज्ञान में इतना ही सब कुछ है तो 'एक' वैज्ञानिक प्रक्रिया में आस्था रखने वाले एक समकालीन के शब्दों में कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विधि निम्न-लिखित है : "स्पष्ट, उत्तर दिये जाने योग्य प्रश्न पूछे जाते हैं ताकि शान्त और पूर्वाग्रहरहित ढंग से कोई व्यक्ति अपने प्रेक्षण कर सके, अधिक से अधिक शुद्धता-पूर्वक प्रेक्षणों का विवरण इस प्रकार लिखे कि प्रारम्भ में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर मिल जाएँ। इस प्रकार प्राप्त परिणामों के अनुसार प्रेक्षणों के पहले की धारणाओं को दोहराना आवश्यक हो जाता है।" परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी व्यावहारिक मुसीबत में पड़ जाने पर (उदाहरणत: मोटर कार के चालू होने पर) अपनी चेष्टाओं की जाँच करे, तो पायेगा कि वह अक्सर वही कुछ कर चुका है जो ऊपर के उद्धरण में दिया गया है। सच तो यह है कि यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के किसी ढंग द्वारा इस तथाकथित वैज्ञानिक विधि को विवेक-शील युवकों को बताए तो वे शायद फौरन कह उठेंगे कि तब तो हम जीवन-भर वैज्ञानिक रहे हैं। साधारण व्यक्ति के सामने यदि विज्ञान का यही रूप प्रस्तुत हो तो उसकी दशा मोलियर के प्रहसन के उस विख्यात पात्र की सी होगी जो जीवन-भर 'गद्य' में बोलता रहा लेकिन उसे इसका पता तक न था!

परीक्षणों द्वारा परिणामों की जाँच

तो क्या जहाँ तक विधि का सम्बन्ध है विज्ञान और सामान्य बुद्धि में कोई अन्तर नहीं है ? हमें इस प्रश्न पर विचार करने के लिए पहले सम्परीक्षण के किसी दैनिक उदाहरण और तब वैज्ञानिक अनुसंधान पर सविस्तार विचार करना होगा। जिस प्रकार की गतिविधि से क्रियात्मक कलाओं का विकास प्रारम्भ से हुआ है, वह अनिवार्यतः प्रायोगिक विधि रही है। इसी तरह की गतिविधि दैनिक जीवन में सुपरिचित है; हम इसे सम्परीक्षण कह सकते हैं। हम बहुत ही सीमित और शायद अत्यन्त साधारण-सा उदाहरण लेते हैं। बन्द द्वार के सामने खड़ा हुआ कोई उत्सुक व्यक्ति तालियों का गुच्छा जमीन पर पड़ा देखकर द्वार को खोलने का परीक्षण करना चाहेगा। वह मन ही मन 'यदि मैं इस चाभी को ताले में डालकर घुमाऊँ तो मेरी इस परिकल्पना का मण्डन या खण्डन होगा कि इस ताले की यही चाभी है,' कहता हुआ बारी-बारी से चाभियों को लगाकर देखता है। इस प्रकार की 'यदि...तो' वाली बात दैनन्दिन जीवन की तर्कसंगत सक्रियता में बार-बार आती है। इतनी विशिष्ट जाँच से सम्बन्धित परिकल्पना इसी प्रस्तुत प्रश्न—एक खास चाभी—तक सीमित है। इसलिए हम इसे 'सीमित कार्यवाहक परिकल्पना' कह सकते हैं।

अब मैं साधारण सम्परीक्षण के उदाहरण से हटकर वैज्ञानिक परीक्षण पर विचार करता हूँ। आइये, हम प्रयोगशाला में किसी वैज्ञानिक विचार की जाँच के सम्बन्ध में सीमित कार्यवाहक परिकल्पना के महत्त्व को देखें। यदि आप वैज्ञानिक विधि के विभिन्न विचारों वाले लेखकों को एकत्र करें तो भी, मेरा विचार है, वे सब इस बात पर सहमत होंगे कि व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना (कुछ लोग इसे 'सिद्धान्त' कहेंगे) से उत्पन्न परिणाम की जाँच कम से कम विज्ञान का अंग अवश्य है। इस प्रकार की कार्यविधि के कुछ उदाहरणों पर हम आगामी अध्याय में विचार करेंगे। एक वास्तविक प्रयोग पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए, आइये, हम वायुमंडलीय दबाव की कहानी की कल्पना करें। इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि हम किस परीक्षण का चुनाव करते हैं, क्योंकि हमें तो अपना ध्यान अन्तिम चरण अर्थात् वास्तविक प्रायोगिक विधान पर केन्द्रित करना है।

हम यह मान लेंगे कि उपकरण विशेष द्वारा परीक्षण विशेष के साथ इस व्यापक परिकल्पना का सम्बन्ध जोड़ा जा चुका है कि हम वायु के एक समुद्र में रहते हैं और वायु का दबाव होता है। किसी विशेष टोंटी को घुमाने से पूर्व,

जिसे हम परीक्षण का अन्तिम चरण मान लें, परीक्षण करने वाला अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त कर सकता है : "यदि मेरे तर्क और योजना सही हैं तो मेरे टोंटी घुमाने पर अमुक परिणाम होगा।" वह टोंटी घुमाता है और निरीक्षण करता है। तभी वह कह सकता है कि वह अपनी परिकल्पना की पुष्टि करने में सफल हुआ अथवा असफल। किन्तु ध्यान रहे कि टोंटी को घुमाकर और निरीक्षण करके जिस परिकल्पना की जाँच की गई है, वह ऐसी अत्यन्त सीमित परिकल्पना है। इस परिकल्पना को निम्न शब्दों में रखा जा सकता है : "यदि मैं टोंटी घुमाऊँगा तो ऐसा-ऐसा होगा।" यदि प्रयोग को दुहराने पर फिर वही परिणाम आये तो इस अत्यन्त सीमित परिकल्पना का खण्डन या मण्डन परीक्षणात्मक तथ्य कहा जाता है। परीक्षण का परिणाम साधारणतः विचारों और कार्य की बहुत ही जटिल प्रक्रिया द्वारा मुख्य समस्या से सम्बन्धित होता है। इस दशा में अनेक धारणाओं और धारणा-पद्धतियों की बात आ खड़ी होती है। आगामी अध्यायों में 'निर्माणावस्था में विज्ञान' के उदाहरणों के अध्ययन में इस प्रकार की प्रक्रियाओं पर भी विचार किया गया है। जिस बात पर यहाँ जोर देना है वह है व्यापक परिकल्पना द्वारा उद्भूत परिणामों और वास्तविक परीक्षण विधान को जोड़ने वाली एक जटिल तर्क-शृंखला की उपस्थिति। इसके अतिरिक्त हम बार-बार पाएँगे कि कितनी ही सचेतन और अचेतन धारणाएँ लगभग सदैव इस तर्क-शृंखला से जुड़ी होती हैं।

अब मैं वैज्ञानिक को छोड़कर उन परीक्षणों पर आता हूँ जो कोई गृहस्थ अपने गैरिज में, गृहिणी अपनी रसोई में अथवा शौकीन अपने रेडियो के साथ लगभग प्रतिदिन करता है। मोटरकार का स्टार्ट न होना निश्चित रूप से एक समस्या है। अपने कार सम्बन्धी सामान्य ज्ञान तथा अपनी कार के बारे में जानकारी के बल पर हम अनेक सम्भावनाओं पर विचार करते हैं। कम से कम एक कार्यवाहक परिकल्पना सोचते हैं। (गैस अथवा पैट्रोल वाली टंकी खाली है!); हम जाँच (एक परीक्षण) आरम्भ करते हैं, जिससे हमारी इस परिकल्पना की शुद्धता की पुष्टि हो। यदि हमारी बात ठीक होती है तो हम विश्वास कर लेते हैं कि हमने गड़बड़ का पता लगा लिया है और तदनुसार काम करते हैं। (परन्तु कितनी ही बार हमारी परिकल्पना सही नहीं होती; सम्भवतः उसमें एक से अधिक दोष हों, शायद टंकी खाली हो और बैटरी भी ठप्प हो!)। आइये, हम यह मान लें कि इस साधारण परिकल्पना के बल पर हमारा प्रयोग यह है कि अनेक विधानों के पश्चात् किसी विशेष स्विच को

घुमाया अथवा कुछ तारों को जोड़ा जाय। तब हम अपने आपसे कहते हैं, "अब यदि मैं स्विच घुमाऊँगा (अथवा इसका तार जोड़ दूँगा) तो इंजन चालू हो जायगा।" परीक्षा करने पर जिस बात की पुष्टि होती है (या नहीं होती) वह अत्यन्त सीमित कार्यवाहक परिकल्पना है—जिसे वैज्ञानिकों की उससे भी अधिक सीमित कार्यवाहक परिकल्पना से अलग नहीं माना जा सकता, जिस पर हम अभी विचार कर रहे थे। यहाँ पर निश्चित रूप से विज्ञान और सामान्य बुद्धि आपस में बहुत पास हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि वे अन्तिम विधान की अभिव्यक्ति में ही जुड़े हैं। तर्क का पिछला सूत्र टटोलने पर अन्तर स्पष्ट हो जाते हैं। ये अन्तर ध्येयों, सहायक परिकल्पनाओं और धारणाओं के हैं।

वैज्ञानिक सम्परीक्षण के ध्येय और स्वीकृतियाँ

सबसे पहले ध्येयों की बात, आप चाहते हैं कि कार चल पड़े (अथवा दूसरे उदाहरण के रूप में, रेडियो काम करने लगे); आप एक व्यावहारिक लक्ष्य की प्राप्ति चाहते हैं। दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रयोगकर्त्ता धारणा पद्धति (सिद्धान्त) से उद्भूत परिणाम की जाँच करना चाहता है, जो एक नितान्त विभिन्न विषय है। परन्तु केवल इसी कारण, यद्यपि यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है, हम विज्ञान और सामान्य बुद्धि के अन्तर को नजरअन्दाज नहीं कर सकते। प्रयोगकर्त्ता धारणा-पद्धति की जाँच ही नहीं करता, परन्तु उससे तो परीक्षण का जन्म ही हुआ है। और इससे हम पुनः विज्ञान की परिभाषा और किसी नयी धारणा-पद्धति की लाभजनकता के महत्त्व पर वापस पहुँच जाते हैं। जिन शिल्पकारों ने अनेक शताब्दियों के दौरान क्रियात्मक कलाओं को उन्नत किया, उनकी कार्य विधि उसी प्रकार की थी जैसी किसी व्यावहारिक कठिनाई आने पर हमारी होती है। शिल्पकार अथवा कृषक का ध्येय क्रियात्मक था, प्रेरणा भी क्रियात्मक थी, यद्यपि लक्ष्य किसी वाहन को चालू करने की अपेक्षा अधिक सामान्य था। मध्य युग के शिल्पकारों ने परीक्षण किये और कई बार उनके परिणामों का स्थायी महत्त्व हुआ, क्योंकि उनके समकालीनों ने विकासशील कला में नई विधियों को ग्रहण किया। पर शिल्पकारों को सामान्य विचारों के परिणामों की जाँच की चिन्ता न थी। सामान्य धारणाएँ और तर्कपूर्ण विचार विद्वान लोगों के लिये थे। धारणा-पद्धतियों से परिणामों को निकालना मध्य युग के गणितज्ञों और दार्शनिकों का कार्य था; शिल्पकारों का नहीं। इन

गूढ़ मामलों को समझने वाले बहुत कम लोगों ने शिल्पकारों की ओर ध्यान दिया। आगामी दो अध्यायों में हम देखेंगे कि किस प्रकार तार्किकों और शिल्पकारों की कार्यविधियाँ 16वीं और 17वीं शताब्दियों में संयुक्त हुई।

वैज्ञानिक और शिल्पकार में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। शिल्पकार के काम करने का ढंग बहुत कुछ रसोईघर में काम करने वाली गृहिणी के ढंग के समान होता है। नई कार्यविधि की जाँच अत्यन्त व्यावहारिक और तात्कालिक उद्देश्य से होती है और प्रासंगिक जानकारी का सामान्य धारणाओं अथवा नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक शिल्पकार ने विज्ञान के प्रसरणशील स्वरूप की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया था। 17वीं और 18वीं शताब्दी में क्रियात्मक कलाएँ और विज्ञान अपनी-अपनी दिशा में चलते रहे। हम कह सकते हैं कि क्रियात्मक कलाओं अथवा रसोई के सम्परीक्षण लगभग पूर्णतया अनुभव सिद्ध हैं, अर्थात् उनमें सैद्धान्तिक अवयवों का अभाव है। फिर भी, चूँकि सामान्य बुद्धि से विज्ञान तक की परिवर्तन-प्रक्रिया क्रमिक और निरन्तर है, इसीलिए पूछा जा सकता है कि क्या सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का सर्वथा अभाव है? युक्ति रखी जा सकती है कि जिन धारणाओं और धारणा-पद्धतियों को हम अपने प्रतिदिन के जीवन में अपने पूर्वजों की भाँति यूँ ही स्वीकार कर लेते हैं वे सैद्धान्तिक रूप से विज्ञान के सुनिश्चित विचारों से भिन्न नहीं हैं। मैं इसे केवल इसी दृष्टि से सही मानता हूँ कि सैद्धान्तिक रूप से इन्फ्रा रैड प्रकाश और एक्स-किरण में कोई अन्तर नहीं। विकीर्ण ऊर्जा के दोनों स्वरूप एक ही वर्णक्रम के भाग हैं, परन्तु प्रकाश के दोनों रूप अधिकांश क्रियात्मक कार्यों के लिए आपस में स्थानान्तरित नहीं किये जा सकते। बात बिलकुल प्रतिकूल है। इसी प्रकार सामान्य बुद्धि की धारणाएँ विज्ञान की अनेक अमूर्त धारणाओं से भिन्न हैं। गत दो सौ वर्षों में विज्ञान की अधिकाधिक सामग्री हमारी सामान्य बुद्धिगत मान्यताओं का अंग बन गई है। परन्तु प्रत्येक युग और सांस्कृतिक वर्ग संसार को अपने ढंग से देखता है। नृतत्व विज्ञानशास्त्रियों तथा सांस्कृतिक इतिहास के अध्येताओं के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की कल्पनाओं में अनेक मान्यताएँ समान होते हुए भी बहुत विषमताएँ हैं। आज का आदमी अपने गैरिज में बहुत-सी उन बातों को बिना हुज्जत मान लेता है जिन्हें उसका बाबा असम्भव समझता था, किन्तु इससे सामान्य बुद्धिगत मान्यताओं और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अन्तर की असंगति सिद्ध नहीं होती। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि इनके बीच बहुत व्यापक और

अस्पष्ट क्षेत्र है।

विज्ञान अथवा व्यावहारिक कला में प्रयोगवाद का परिमाण

प्रौद्योगिकी और औषध विज्ञान के साथ विज्ञान के वर्तमान सम्बन्ध के विश्लेपण में मैंने 'प्रयोगवाद का परिमाण' का प्रयोग किया है। इससे तात्पर्य यह है कि व्यापक धारणा-पद्धतियों के अनुसार हमारे ज्ञान को किस सीमा तक व्यक्त किया जा सकता है। मेरा विचार है कि यही मुहावरा विज्ञान और व्यावहारिक कला के पिछले तीन सौ वर्षों के इतिहास के सम्बन्ध में भी उपयुक्त है। इस मुहावरे के पीछे की धारणा इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसकी मदद से साधारण व्यक्ति 'विशुद्ध' और 'व्यावहारिक' विज्ञान के आपसी सम्वन्ध को ठीक-ठीक समझ सकता है। पिछले सौ वर्षों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी आपस में इतने घुल-मिल गये हैं कि उस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति भी वैज्ञानिक सिद्धान्तों के पार्ट का विश्लेपण करते समय अनिश्चय में पड़ जाते हैं। फिर भी, भौतिक विज्ञानों और आधुनिक उद्योगों से परिचित कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले वैज्ञानिक अपने कामों में जिस सीमा तक वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग कर सकते हैं उसमें वड़ा अन्तर है।

मेरे लिए यह एक महत्त्वपूर्ण वात है। इसे समझाने के लिए मैं प्रकाश विज्ञान सम्मत उपकरणों के वनाने और रवड़ टायरों के निर्माण की तुलना करना चाहता हूँ। दूरदर्शी, सूक्ष्मदर्शी तथा कैमरे के लैंसों और दर्पणों के डिजाइन प्रकाश के एक सिद्धान्त पर आधारित होते हैं, जिसका विकास डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ था और जिसे सरलतापूर्वक गणितीय सन्दर्भ-पदों में व्यक्त किया जा सकता है। इस सिद्धान्त और प्रयुक्त काँच के कुछ गुणों की माप से इन उपकरणों की कार्यकुशलता की गणना वहुत आसानी से की जा सकती है। प्रकाश विज्ञान का सैद्धान्तिक ज्ञान इतना पूर्ण है कि हम कह सकते हैं कि भौतिकी की इस शाखा में प्रयोगवाद का परिमाण कम है। प्रकाश विज्ञान सम्वन्धी उद्योग में सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है और यही कारण है कि प्रयोगवाद का परिमाण कम है। रवड़-टायरों का उत्पादन एक विलकुल ही अलग चीज़ है। इसमें प्रकाश के सिद्धान्त जैसा कोई सिद्धान्त नहीं है, जिसके बल पर गणना करके पता लगाया जा सके कि रवड़ के साथ और कौन-सी वस्तुएँ मिलायी जाएँ। इस सारी प्रक्रिया का आधार एक रासायनिक परिवर्तन है जिसे 'वल्क-

नाइजेशन' कहते हैं, परन्तु आज भी कोई इसे किसी सिद्धान्त में व्यक्त नहीं कर सका है। गंधक, जिसे बहुत समय से इस काम के लिए आवश्यक चीज़ समझा जाता रहा है, तथा 'उत्प्रेरक' कहे जाने वाले कुछ और रसायनों की क्रिया को समझा नहीं जा सका है। इस सारे प्रक्रम का पता अनेक परीक्षणों द्वारा लगा है, जिसमें अनेक परीक्षणों के बाद ही पता लगा है कि क्या करना चाहिए। यह ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त हुआ है जिस प्रकार कुशल बावर्ची अपना ज्ञान प्राप्त करता है। इस उद्योग में प्रयोगवाद का परिमाण अधिक है। और इसका अर्थ यह है कि रबड़ का रासायनिक ज्ञान व्यापक सैद्धान्तिक सन्दर्भ पदों में बहुत कम सीमा तक व्यक्त किया जा सका है।

सभी तुलानात्मक वक्तव्यों की भाँति यहाँ भी हमें कुछ सुनिश्चित बिन्दुओं की सहायता से प्रतिमान स्थिर करने होंगे। इसलिए हम सामान्य बुद्धि-गम्य ज्ञान के (जिसमें खाना पकाने, काँच फुलाने अथवा मध्ययुगीन धातु-निर्माण जैसी कलाओं का ज्ञान भी सम्मिलित है) और अधिक दार्शनिक विश्लेषण के बिना हम अनिवार्यतः प्रयोगसिद्ध विधियों के उदाहरणस्वरूप आधुनिक विज्ञान के प्रादुर्भाव से पूर्व के शिल्पकार और आधुनिक कुशल बावर्ची की विधियों को लेते हैं। इनके सम्बन्ध में स्वेच्छतया कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद का परिमाण शत प्रतिशत है। मेरे पास एक ऐसा उदाहरण है जहाँ यह परिमाण इतना कम है कि हम इसे अपने मापक पर शून्य मान सकते हैं। यह है सर्वेक्षक का कार्य। इसका सैद्धान्तिक आधार मुख्यरूप से गणित की एक शाखा—ज्यामिति—है। सर्वेक्षण के उपकरण बनाने तथा उन्हें प्रयोग करने की कुशलता में तो प्रयोग-सिद्ध विधियाँ न्यूनांश में मौजूद हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त शून्य हैं। इसलिए यदि विज्ञान अथवा प्रौद्योगिकी से बहुत कम परिचित पाठक अपने मस्तिष्क में एक ओर सर्वेक्षण को रखे और दूसरी ओर किसी ग्रांड होटल के खानसामा को, तो उसके मस्तिष्क में वे सारा प्रक्रियाएँ होंगी जहाँ प्रयोगवाद का परिमाण शून्य से सौ प्रतिशत तक है।

हम समय-समय पर शिल्पकार, कृषक और चिकित्साशास्त्री के व्यावहारिक कार्यों और वैज्ञानिक ज्ञान के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। हमें यह मालूम होगा कि आश्चर्यजनक रूप से दीर्घ काल तक विज्ञान की प्रगति और व्यावहारिक कलाओं का विकास समानान्तर होते रहे। जबकि उन्हें आपस में जोड़ने वाले बंधन न थे। इस प्रकार यदि हम आधुनिक विज्ञान का प्रादुर्भाव 1600 के लगभग मानें (इसमें वे आरम्भिक वर्ष शामिल नहीं हैं जो पुरातनकाल तक पहुँचते

हैं) कहा जा सकता है कि दो सौ अथवा उससे भी अधिक वर्ष बाद ही व्यावहारिक कलाओं ने विज्ञान से लाभ उठाना आरम्भ किया। मेरा तो विश्वास है कि जब तक विद्युत और रंगसाजी उद्योग 1870 के लगभग अच्छी तरह जम नहीं गये, तब तक विज्ञान उद्योग-धन्धों के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं बन सका।

यह विवाद मैं इतना कहकर समाप्त कर देना चाहता हूँ कि आज व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयोगवाद का परिमाण अधिकांशतः इस बात पर निर्भर करता है कि तत्सम्बन्धी वैज्ञानिक का नियमन व्यापक धारणा-पद्धतियों के अनुसार किस सीमा तक किया जा सकता है। इसलिए विज्ञान को प्रयोगवाद का परिमाण कम अथवा सैद्धान्तिक क्षेत्र को प्रसरित करने का प्रयास समझा जा सकता है। जब किसी वैज्ञानिक कार्य को इस प्रकार किया जाता है कि ज्ञान को व्यावहारिक उपयोग में लाने का विचार नहीं होता तो उस कार्य को 'विशुद्ध' विज्ञान का अंश कहा जा सकता है। परन्तु इस विशेषण में कुछ अप्रिय ध्वनियाँ हैं जो सिद्धान्तों में रुचि रखने वाले वैज्ञानिकों और व्यावहारिक कलाओं में रुचि रखने वाले वैज्ञानिकों की मान्यताओं में अन्तर बताती प्रतीत होती हैं। इसीलिए 'आधारभूत विज्ञान' मुहावरा अक्सर प्रयुक्त किया जाता है। आज के वैज्ञानिकों के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कार्य, मेरा विश्वास है, उन प्रयासों के अन्तर्गत हैं जिनमें प्रयोगवाद का परिमाण घटाया जाता है। दोनों श्रेणियों का अन्तर प्रयोजन का अन्तर है। जो लोग विज्ञान में रुचि इसलिए रखते हैं कि वह विज्ञान है, वे किसी भी ऐसे मार्ग पर चलने को तैयार हैं जिसके प्रति उनकी आशा यह है कि इससे सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रसार होगा। अन्य लोग मुख्यतः आधुनिक जामे में प्राचीन व्यावहारिक कलाओं का अध्ययन करना चाहते हैं। यदि इसका सम्बन्ध किसी उद्योग से है, जैसे धातु-शोधन विद्या, तो वे विश्वविद्यालयों में रहने वाले अपने सहयोगियों के समान ही इसी क्षेत्र में सैद्धान्तिक ज्ञान को विस्तृत करने में रुचि लेने लगेंगे; वे एक सीमित क्षेत्र में व्यावहारिक ध्येय के लिए प्रयोगवाद के परिमाण को कम करने का यत्न भी करेंगे। चिकित्सा के क्षेत्र में काम करने वाला वैज्ञानिक भी धातु-शोधन विशेषज्ञ जैसा ही है; अन्तर बस इतना होता है कि उसका ध्येय श्रेष्ठतर धातु नहीं वरन् अधिक स्वस्थ मानव है। दोनों व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में काम करते हैं।

इसलिए हम अपनी सदी के छठवें दशक में बड़ी उलझनपूर्ण स्थिति पाते हैं। लगभग तीन शताब्दी पूर्व शिल्पकार की परीक्षण-विधि गणितज्ञ तक की

निगमनीय विधि में घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का परिणाम कई पीढ़ियों बाद 'प्रयोगवादी वैज्ञानिकों' के सहायक हो रहे हैं। इस प्रकार व्यावहारिक वैज्ञानिक अपने आपको अपने अति-प्राचीन पुरखाओं के सम्मुख पाता है। औद्योगिक अनुसंधानशाला में काम करते हुए अक्सर उसे व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग-सिद्ध आधार पर लगभग उसी प्रकार काम करना होगा जिस प्रकार शिल्पकार अत्यन्त पुरातन काल में करता था। जिन व्यावहारिक कलाओं में प्रयोगवाद का परिमाण अधिक है उनमें उच्चत्तम वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त तथा आधुनिकतम उपकरणों का उपयोग करने वाले वैज्ञानिकों को भी अक्सर प्रयोगसिद्ध विधियों को अपनाना पड़ता है। एक ओर तो वे प्रयोगवाद का परिमाण कम करने के लिए यत्न करेंगे और दूसरी ओर वे अपने प्राप्त ज्ञान और विधियों का उपयोग करके कला को उन्नत करने का यत्न करेंगे। संक्षेप में, आज विज्ञान की उन्नति और व्यावहारिक कलाओं में प्रगति साथ-साथ चल रही है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी

इस अध्याय में तथाकथित वैज्ञानिक विधि का वर्णन है और मैंने अपना ध्यान वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति पर केन्द्रित रखा है। ऐसा करने में मुझे व्यावहारिक कलाओं और विशेष रूप से शिल्पकार की परीक्षणात्मक विधियों का विश्लेपण करना पड़ा है। इस प्रकार गत 150 वर्ष में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति का जो चित्र उपस्थित होता है, उसमें विज्ञान के सम्बन्ध में तो बहुत कुछ है किन्तु प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में बहुत कम। मेरा विश्वास है कि मैं पाठकों को यह नहीं बता सका हूँ कि किसी समय में अनेक व्यावहारिक कार्यों में तत्कालीन विज्ञान का उपयोग करने में सम्बन्धित व्यक्तियों को कितना श्रम करना पड़ा है। संक्षेप में, मैंने इंजीनियरिंग के सम्बन्ध में बहुत कम अथवा कुछ नहीं कहा है। इस कमी का कुछ सीमा तक निराकरण आगामी अध्यायों में हो जाएगा, परन्तु इंजीनियरिंग के पृथक् क्षेत्रों—सिविल, यान्त्रिक, वैद्युत, वैमानिकी और रासायनिक—के इतिहास के वर्णन द्वारा ही ठीक प्रकार से भौतिक विज्ञानों के औद्योगिक उपयोग के इतिहास का पता चलेगा। और इस इतिहास के बिना परिभापाओं और पारिभाषिक शब्दों का कोई महत्त्व नहीं। सबसे पहले मिलिटरी इंजीनियर थे। तब असैनिक कार्यों के लिए सर्वेक्षण और मानचित्र तैयार करने का काम आरम्भ हुआ—अर्थात् सिविल इंजीनियरिंग एक व्यवसाय बन गया। 19वीं शताब्दी के काफी वर्षों तक सिविल इंजीनियर का काम केवल

सर्वेक्षण करना, पुल, सड़कें, नहरें और सड़कें बनाना ही नहीं था, परन्तु मशीनरी से भी उसका सम्बन्ध था। भाप के इंजन के लिए प्रसिद्ध जेम्स वाट अपने समकालीनों द्वारा एक इंजीनियर समझा जाता था—सिविल इंजीनियर।

1700 से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक भाप के इंजनों और अन्य मशीनों में सुधार करने वाले अपने आपको आविष्कारक अथवा इंजीनियर कहते थे। नये उपकरणों का निर्माण और उन्हें कहीं लगाने आदि का काम व्यापारी करते थे, जो आविष्कारक भी हो सकते थे और अक्सर अपने को इंजीनियर समझते थे। यान्त्रिकी ने तब तक एक काफी विकसित विज्ञान का दर्जा पा लिया था और उसमें प्रयोगवाद का परिमाण मध्यम था। इसलिए मध्य युग के शिल्पकारों की भाँति ये व्यावहारिक लोग भी परीक्षण-सिद्धान्त के अनुसार काम करते रहे। हाँ, सैद्धान्तिक नियमों तथा गणितीय परिगणनाओं के उपयोग की सम्भावनायें भी रहीं। अन्ततः इस प्रकार के कार्य के महत्त्व के कारण यान्त्रिक इंजीनियरिंग को एक विशेष क्षेत्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया। और लगभग उसी समय में (19वीं शताब्दी के मध्य में) वैद्युत इंजीनियरिंग को ऐसा क्षेत्र मान लिया गया जिसमें उद्योग में विज्ञान का उपयोग किया जाता है। आज इंजीनियरों का मुख्य काम सभी प्रकार के उद्योगों में काम आने वाली मशीनों तथा उपकरणों के नमूने बनाना तथा उनका उत्पादन करना है। उनके बिना हमारी औद्योगिक सभ्यता समाप्त हो जायगी। इनमें से कुछ एक नयी दिशा में व्यस्त हैं। इस नयी दिशा को विकास कार्य कहा जाता है। यहाँ ये लोग व्यावहारिक वैज्ञानिकों के साथ काम करते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि इंजीनियरों के रूप में प्रशिक्षित व्यक्ति व्यावहारिक विज्ञान की प्रगति करते हैं (प्रयोगवाद का परिमाण कम करते हैं)। इसका विलोम भी सही है। वैज्ञानिक के रूप में प्रशिक्षित व्यक्ति अक्सर इंजीनियरों के रूप में भी काम करते हैं।

मैं पाठकों को परीक्षणात्मक विज्ञान की अच्छी-खासी जानकारी देना चाहता था किन्तु मैं आधुनिक अवस्था की सम्पूर्ण जानकारी दे गया हूँ। परीक्षणात्मक अन्वेषक की कार्यविधि से अनभिज्ञ व्यक्तियों को यह समझाना कठिन है कि इंजीनियरों और वैज्ञानिकों के कार्य कहाँ तक समान हैं और वे अपने कामों में किस सीमा तक एक दूसरे के सहयोगी हैं। इसलिए मैं अपने समय की कुछ तात्कालिक समस्याओं—जैसे, सरकार और उद्योगों में विज्ञान और इंजीनियरिंग के संगठन की समस्या—पर विचार-विमर्श उस समय तक के लिए स्थगित

करता हूँ, जब तक कुछ सत्य उदाहरणों से हमारा परिचय न हो जाए। हमें अपना ध्यान नवीन परीक्षणात्मक दर्शन पर, जिसका जन्म 17वीं शताब्दी में हुआ था, केन्द्रित करना है। तभी हम विचार कर सकेंगे कि आज के व्यावहारिक कार्यों में यह कैसे ओत-प्रोत है।

वायुमण्डलीय दबाव की धारणा का विकास

युगों से लोग इस तथ्य से परिचित हैं कि पीपे से किसी तरल पदार्थ को बाहर निकालने के लिए एक छेद पेंदी में और एक ढक्कन पर होना चाहिए। नीचे के छेद से तरल निकलता है और ऊपर वाले में वायु प्रवेश करती है। इसी प्रकार, हर व्यक्ति जानता है कि यदि किसी नली में तरल चूस लें और उस नली के ऊपर के सिरे को अँगुली से बन्द कर लें तो तरल पदार्थ नली से तब तक नहीं गिरेगा जब तक अँगुली न हटा ली जाय। यह पिपेट का नियम है। (चित्र 1)
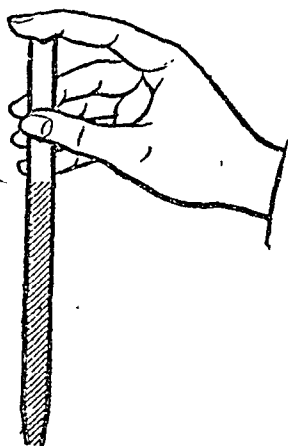
चित्र 1—एक पिपेट। एक छोटी नली में यदि द्रव को चूस लें और नली के ऊपरी सिरे को एक अँगुली से कसकर बन्द कर लें तो द्रव नहीं गिरेगा।

अरस्तू के समय से पहले ही से इस प्रकार के पर्यवेक्षणों पर चर्चा होती आई है। सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व इसका जो कारण बतलाया जाता था वह बहुत कुछ उन्हीं शब्दों में होता था जिनसे हम सुपरिचित हैं : "पीपे के ढक्कन पर एक सूराख अवश्य होना चाहिए, जिससे वायु उसमें घुसे, अन्यथा तरल बाहर न

निकलेगा।" जोर देने पर निश्चय ही आज का आदमी भी शिथिल शब्दावली का प्रयोग करेगा। संभवतः वह यही कहेगा कि नीचे से तरल निकलने के कारण ऊपर से हवा भीतर आती है। और देर-सवेर चातुर्य-पूर्ण प्रश्नोत्तर से वायु-मण्डलीय दबाव का पार्ट स्पष्ट हो जाएगा। जिन्हें हाई स्कूल में पढ़ी हुई भौतिकी स्मरण होगी, वे कुछ-कुछ इस प्रकार उत्तर देंगे : "पिपेट और पीपे का तरल पदार्थ वायुमण्डलीय दबाव के कारण बाहर नहीं निकल पाता। पिपेट के ऊपर से अँगुली हटाने या पीपे के ढक्कन पर छेद करने का ध्येय यह है कि वायुमण्डलीय दबाव तरल पदार्थ के ऊपर की सतह पर अपना प्रभाव डाले। जब ऐसा कर दिया जाता है तो वायुमण्डलीय दबाव तरल के ऊपर और नीचे बराबर हो जाता है। और तब उसी कारण तरल बाहर निकलता है, जिस कारण से पत्थर भूमि पर गिरता है।"

मध्ययुगीन विद्वान इस स्थिति के व्यावहारिक ज्ञान सम्मत मूल्यांकन को विभिन्न शब्दावली में व्यक्त करते। वे इस विवरण का शाब्दिक अर्थ लेते और कहते कि पीपे के ऊपर सूराख अथवा नली का ऊपर से खुला होना हवा अन्दर जाने के लिए जरूरी है। कारण, वे यह मानकर चलते कि ब्रह्माण्ड भरा हुआ है। इसलिए वे कहते कि पीपे में से तरल पदार्थ तभी निकल सकता है जब कोई ऐसा स्थान हो जहाँ पहुँचकर वायु तरल को निकालने का मार्ग दे। इस वायु को स्थान देने के लिए ही ऊपर की ओर छेद किया गया था।

'भरे-पुरे ब्रह्माण्ड' की शब्दावली में व्यक्त व्याख्या से ही पीढ़ियों तक लोगों का कौतूहल शान्त होता रहा। यह संसार के प्रति उस दृष्टिकोण का अंग था जो अरस्तू की रचनाओं से प्रकट हुआ था और जिसकी व्याख्या मध्ययुगीन विद्वानों ने की थी। विश्व के प्रति इस दृष्टिकोण की व्याख्या के लिए कई अध्यायों की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण का आभास अरस्तूवादियों द्वारा प्रयुक्त एक मुहावरे से हो जाता है—यह सिद्धान्त था 'प्रकृति को निर्वात से घृणा है।' पीपे में एक ही छिद्र होने पर तरल बाहर नहीं निकलता। इस तथ्य का कारण बताने में इसी सिद्धान्त का उपयोग किया गया। यह तर्क पेश किया गया कि यदि पीपे से तरल निकल जाये और दूसरी कोई वस्तु उसमें न जाये तो निर्वात पैदा हो जाएगा, और यह असम्भव है। सम्भवतः यह इस बात को कहने का अलंकारिक ढंग है कि वायु अन्दर जाने के लिए एक छिद्र होना चाहिए, (आज के अनेक व्यक्ति अनायास ही ऐसा कह देते हैं)। संसार के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण आज भी जितना हम सोचते हैं इससे कहीं अधिक अरस्तूवादी है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर कि 'प्रकृति को निर्वात से घृणा है' इस बात ो व्याख्या भी की जा सकती है कि नली में तरल पदार्थ क्यों चूसा जा सकता अथवा पानी को चूपक पम्प द्वारा क्यों ऊपर उठाया जा सकता है। इस त्यन्त प्राचीन यंत्र के आधुनिक रूप (देखिये चित्र 2)—पुराने ढंग के पम्प —को देखिये। कुछ दिन पहले तक यह पुराने ढंग का पम्प प्रायः हर रसोईघर लगा रहता था। इसके दस्ते को चलाने से नल के अन्दर की छड़ ऊपर उठती और अगर छड़ नल में अच्छी तरह कसी हुई होती है तो पानी ऊपर खिंच ाता है या जैसा हम अक्सर कहते हैं, चुस जाता है। क्यों ? अरस्तू के मतानुयायी हेंगे कि यदि पानी खिचकर ऊपर न आता तो नल में निर्वात पैदा हो ाता और निर्वात असम्भव है। इस प्रकार की व्याख्या को भी बहुत समय तक ार्शनिक सन्तोपजनक मानते रहे। इस विषय में सबसे पहली शंका गैलीलियो ी कृतियों में मिलती है। सन् 1638 में प्रकाशित अपनी 'दो नये विज्ञानों के म्बन्ध में बातचीत' नामक पुस्तक में उन्होंने एक स्थान पर संयोगवश कहा था ि चूषक पम्प एक निश्चित ऊँचाई से आगे पानी नहीं उठा सकता। उन्होंने स सम्बन्ध में कहा था कि जिस तरह लम्बा तार टूट जाता है उसी तरह पानी ा लम्बा स्तम्भ टूट जाता है। यह एक घटिया मिसाल थी और हम इस पर पना समय नष्ट नहीं करेंगे। लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोरेंस नगर के इस प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने विज्ञान की प्रगति में एक और महान् ोग देने का अवसर खो दिया। जो लोग यह समझ लेते हैं कि यदि कोई ड़ा वैज्ञानिक किसी समस्या को स्वीकार कर ले तो उसका समाधान स्वतः िकल आता है, उन्हें विज्ञान के इतिहास की इस घटना का मनन करना ाहिए।

चूषक पंप 34 फुट से अधिक ऊँचाई तक पानी नहीं खींच सकता। इस म्बन्ध में विचार करते हुए गैलीलियो लिखते हैं कि इस तथ्य की ओर उनका ध्यान सबसे पहले एक मजदूर ने आकर्षित किया। चूपक पंप गैलीलियो के समय ं नये आविष्कार न थे। उनका इतिहास शताब्दियों पुराना था। इसके अति-रिक्त, व्यावहारिक व्यक्तियों को इन पंपों की कार्य सीमा का ज्ञान अवश्य ोगा। कारण, एग्रीकोला के खानों सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ में चूपक पंपों के चित्र (देखें चित्र 3, पृष्ठ 55)। यह बहुत विचित्र बात है कि गैलीलियो से हले किसी ने इन पंपों द्वारा पानी खींचने की सीमा के सम्बन्ध में विचार नहीं िया था। यदि किसी ने इस विषय पर सोचा भी होगा तो उसने पानी अधिक

ऊँचा खींचने का कारण यान्त्रिक दोषों को माना होगा। निश्चय ही पिस्टनों और वाल्वों की अनगढ़ता में सन्देह भी न था। परन्तु मेरा विचार है कि यह मौन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि शताब्दियों तक शिल्पियों और विद्वज्जनों के बीच एक गहरी खाई बनी रही। एक ओर कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो खानों में काम
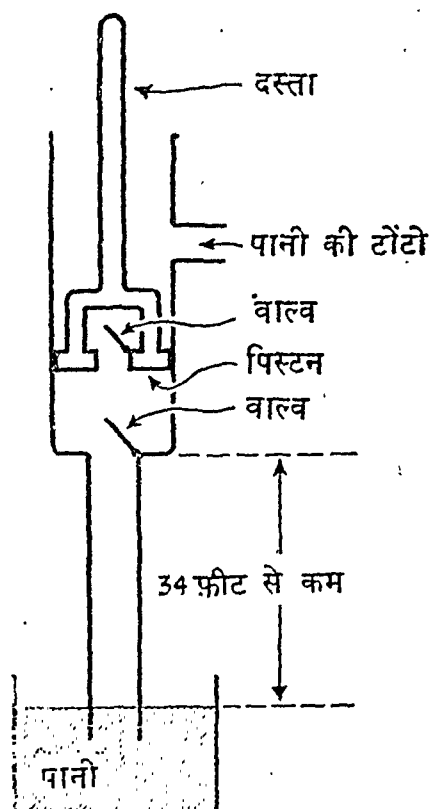
चित्र 2—साधारण चूषक पम्प का चित्र। पिस्टन ऊपर उठने के साथ-साथ नल में पानी ऊपर चढ़ता है।

करते थे, खनिज गलाते और पंपों को चलाते थे; वे निरन्तर प्रयोगात्मक विधियों द्वारा व्यावहारिक कलाओं को विकसित कर रहे थे। दूसरी ओर राज-दरबारों में प्राध्यापक तथा विद्वज्जन गणित, निगमनीय तर्क और यांत्रिकी के विकास में लगे थे। परीक्षणात्मक विज्ञान तो उस समय आरम्भ हुआ जब मानवीय
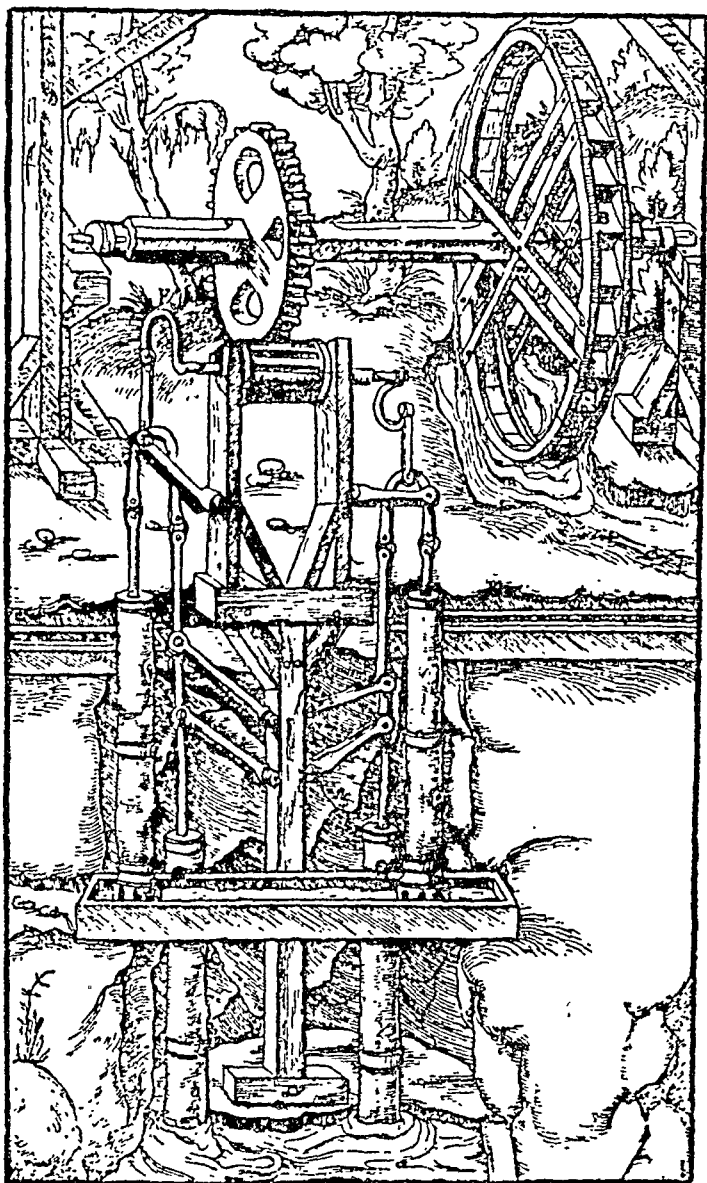
चित्र 3—सोलहवी शताब्दी में एग्रीकोला के खानों से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थ का एक चित्र। इसमें खानों से पानी निकालने के लिए पंपों का प्रयोग दिखाया गया है।

प्रक्रिया की ये दोनों धारणाएँ आपस में मिल गई।

गैलीलियो जो कुछ न पा सका, उसे उसके शिष्य टोरिसेली ने खोज निकाला। 1644 में अर्थात् गैलीलियों की निष्फल व्याख्या के प्रकाशन के छः वर्ष और उसकी मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् टोरिसेली ने वायुमण्डल और वायुमण्डलीय दबाव के सम्बन्ध में कुछ सामान्य परन्तु सुनिश्चित धारणाएँ लिपिबद्ध कीं। हम इसे व्यापक परिकल्पना अथवा निर्माणगत नवीन धारणा पद्धति कह सकते हैं। यदि आप टोरिसेली के इन विचारों—जो उसमें और कार्डिनल रिकी के परस्पर पत्र-व्यवहार में स्पष्ट हुए हैं—को चाहे जो नाम दिया जाए, इतना अवश्य है कि वे अरस्तूवादियों की इस धारणा से बिलकुल अलग हैं कि प्रकृति को निर्वात से घृणा है। किसी प्रकार और किसी दिन (जिसका कहीं लेखा-जोखा नहीं है) उसने देखा कि चूषक पंप में पानी चढ़ने की 34 फुट की सीमा से वायु-मण्डलीय दबाव की माप की जा सकती है। उसने तर्क उपस्थित किया कि यदि पृथ्वी 'वायु के समुद्र' से घिरी हुई है, और यदि हवा में भार है तो इस वायु-समुद्र में डूबी हुई प्रत्येक वस्तु पर वायु का दबाव बिलकुल उसी प्रकार पड़ना चाहिए जैसे समुद्र की सतह के नीचे पानी का दबाव पड़ता है।

तब इस परिकल्पना से एक परिणाम निकला और फिर परीक्षणों द्वारा इस परिणाम की पुष्टि हुई। यदि वायुमण्डल के दबाव से पानी का स्तम्भ 34 फुट ऊँचा ठहर सकता है तो लगभग पानी से 14 गुणा भारी तरल पारद के स्तम्भ की ऊँचाई केवल 34/14 अथवा $2\frac{3}{7}$ फुट ही होगी। इसका परीक्षण हो सकता था और हुआ भी। हमें समय और स्थान के सम्बन्ध में निश्चित पता नहीं है, परन्तु 1640 के आसपास और सम्भवतः फ्लोरेंस में टोरिसेली ने अपना सुविख्यात परीक्षण किया जिसके साथ उसका नाम सदा सम्बद्ध रहेगा।

यदि पाठक ने टोरिसेली का प्रयोग प्रत्यक्ष कभी नहीं देखा तो वह किसी हाईस्कूल की अनुसन्धानशाला में जाकर भौतिकी अथवा रसायन के अध्यापक से प्रयोग करने की प्रार्थना कर सकता है। यह उन थोड़े से क्रान्तिकारी परीक्षणों में से एक है, जो बहुत ही साधारण उपकरणों द्वारा किया जा सकता है और विज्ञान अथवा गणित के अधिक ज्ञान के बिना समझा भी जा सकता है (देखें चित्र 4)। अँगुली जितनी मोटी, तीन फुट लम्बी तथा एक ओर से बन्द काँच की एक नली लीजिये। उसमें तरल पारद भर दीजिये। उसके खुले हुए सिरे को तर्जनी या अँगूठे से बन्द कीजिये (बीच में हवा के बुलबुले न रहने पाएँ)। तब नली

को उलटकर पारद से भरी हुई प्याली में अँगुली से बन्द सिरे को डुबो दीजिए। अब अपनी अंगुली हटा लीजिये। आश्चर्य, कि अब तक जो पारद पूरी नली में भरा था, नीचे गिर गया है और नली के ऊपरी सिरे पर खाली स्थान रह गया है। नली का ऊपर का भाग वस्तुतः खाली है, क्योंकि आपने भी बिलकुल
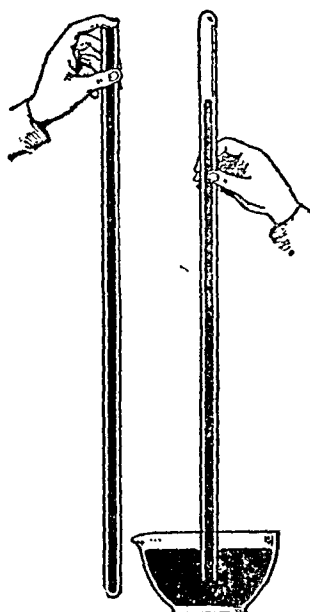
टोरिसली का प्रयोग

चित्र 4—नली को ऊपर तक पारद से भर लिया जाता है, खुले सिरे को तर्जनी से बन्द कर नली को उलटते हैं और खुले सिरे की ओर से नली को पारद से भरी एक प्याली में रखते हैं। जब अंगुली हटा ली जाती है तो पारद थोड़ा नीचे गिरता है और इसके स्तम्भ की ऊँचाई लगभग 30 इंच के रह जाती है।

उसी तरह निर्वात पैदा कर दिया है जैसे टोरिसेली ने उस दिन पैदा किया था, जब उसने पहली बार यही परीक्षण किया था। इतना ही नहीं, आपने एक बैरोमीटर भी बना लिया है। यदि आप समुद्र के तल के निकट रहते हैं (और आपने पारद भरते समय नली में वायु के बुलबुले नहीं रहने दिये) तो पारद

स्तम्भ लगभग 30 इंच ऊँचा होगा। यदि आप समुद्र तल से अधिक ऊँचाई पर रहते हैं तो पारद स्तम्भ की ऊँचाई कम होगी। कुछ दिन तक निरीक्षण करने पर आप पाएँगे कि पारद का तल गिरता और उठता है। टोरिसेली ने भी जल्दी ही यह बात खोज निकाली थी। वायुमण्डलीय दवाव का यह परिवर्तन आज मामूली बात है, परन्तु बैरोमीटर में होने वाले इस परिवर्तन और मौसम का सम्बन्ध एक शताब्दी से कुछ अधिक समय पूर्व पहली बार देखा गया था।

एक ही प्रयत्न में गैलीलियो के शिष्य ने एक नये उपकरण का आविष्कार कर लिया था, व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना के एक परिणाम की सत्यता को सिद्ध कर दिया था और निर्वात भी पैदा कर दिया था, जिसे अरस्तूवादी असम्भव बताते थे। विज्ञान की विधियों के अध्येताओं के लिए इस परीक्षण का महत्त्व यह है कि इससे एक अत्यन्त व्यापक परिकल्पना अथवा धारणा पद्धति के एक परिणाम की पुष्टि होती है। ऐतिहासिक रूप से हमें इस बात का निश्चय नहीं है कि व्यापक परिकल्पना परीक्षण से पहले हुई थी। कारण, इस बात का कोई रिकार्ड नहीं कि टोरिसेली किस तरह इस धारणा अथवा परीक्षण तक पहुँच सका। पानी के पम्प की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उसके गुरू गैलीलियो के लिखित विवेचन से यह सम्भव मालूम पड़ता है कि वायुमण्डलीय दवाव के विचार का जन्म टोरिसेली-परीक्षण से पहले हुआ।

विज्ञान की प्रगति का एक बहुत उलझनपूर्ण पक्ष यह है कि महत्त्वपूर्ण धारणाओं का विकास अत्यन्त अनिश्चित ढंग से हुआ है। विज्ञान के अग्रणियों में शायद ही कोई ऐसा है जो तर्क-संगत विचारों की व्यवस्थित प्रक्रिया द्वारा अपनी महत्त्वपूर्ण खोजों तक पहुँचा हो। इसके विपरीत उनकी प्रगति—और कभी-कभी तो लड़खड़ाती हुई प्रगति—को कल्पना की उड़ानों या अनुभवों द्वारा ही दिशा निर्देश मिला है। एक ऐतिहासिक उदाहरण से हम सविस्तार जान सकते हैं कि यह सब कैसे हुआ। जो पाठक धैर्यपूर्वक सातवें अध्याय तक पहुँचेंगे (और उसे पढ़ेंगे भी) वे दहन के सम्बन्ध में लेवाज़िए के नये सिद्धान्त का विकास देख सकेंगे।

यदि हम टोरिसेली की मानसिक प्रक्रिया सम्बन्धी व्याख्या को सही मान लें, तो उसकी नई व्यापक परिकल्पना द्वारा उद्भूत एक परिणाम उस समय पुष्ट हो गया था जब उसने बैरोमीटर बना लिया था। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम एक फ्राँसीसी गणितज्ञ ने निकाला और परीक्षण द्वारा उसकी जाँच की। इस बार अगुआ था विज्ञान और अध्यात्म विद्या के इतिहास का अद्भुत व्यक्ति जैसो

पैस्कल। पैरिस के एक पत्र-लेखक पादरी मरसेने द्वारा टोरिसली के परीक्षण की बात सुनकर पैस्कल ने फौरन ही वह प्रयोग रुग्रों में दोहराया। उसने पानी की नलियों को प्रबन्धित करके एक जल वैरोमीटर भी बनाया और पानी के 34 फुट ऊँचे स्तम्भ के ऊपर निर्वात था (इसे टोरिसली की परिकल्पना की स्वतन्त्र जाँच नहीं कहा जा सकता था)। पैस्कल ने जिस नये परिणाम की ओर ध्यान खींचा वह यह था : यदि हम दवाव डालने वाले वायु के समुद्र में रहते हैं तो यह स्थिति विलकुल वैसी ही है जैसी समुद्र की तलहटी में होती है। पैस्कल और उसके समकालीनों को पानी के दवाने की प्रक्रियाओं का ज्ञान था। जलस्थैतिकी के सिद्धान्तों का निरूपण इससे पूर्व पहली शताब्दी में हो चुका था और पैस्कल ने स्वयं एक ग्रन्थ में उनकी व्याख्या की थी। किसी तालाब, झील अथवा समुद्र की सतह के नीचे पानी का दवाव उसकी गहराई पर निर्भर करता है। पानी के अन्दर रहने वाला जानवर तलहटी से ऊपर उठते समय नियमित रूप से कम होता हुआ दवाव अनुभव करेगा। पैस्कल ने तर्क किया कि यदि हम वायु के समुद्र में रहते हैं तो वायुमण्डल में भी यही बात देखने को मिलनी चाहिए। टोरिसेली ने दवाव को मापने के लिए आवश्यक उपकरण पारद स्तम्भ युक्त उल्टी नली अथवा वैरोमीटर का आविष्कार कर ही दिया था।

पैस्कल ने इसी ढंग से सोचते हुए अपने बहनोई पैरी द्वारा मध्य फ्रांस के एक पहाड़ की विभिन्न ऊँचाइयों पर टोरिसली परीक्षण करने का प्रवन्ध कर दिया। उसने इस परीक्षण को महत्त्वपूर्ण समझा। 1647 में लिखे एक पत्र में उसने कहा कि उल्टी पारद नलिका के परीक्षण से यह विश्वास करने का समर्थन प्राप्त होता है कि 'पारद एक ऊँचाई पर स्थिर इसलिए नहीं हो जाता कि प्रकृति को निर्वात से घृणा है, बल्कि इसलिए होता है कि वायु का दवाव पारद स्तम्भ का भार संतुलित करता है।' उसने आगे कहा कि इसके बावजूद निर्वात के प्रति घृणा सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्त से भी इस प्रक्रिया की व्याख्या हो सकती है। परन्तु, उसने कहा, यदि पर्वत की चोटी पर और तलहटी पर टोरिसेली-परीक्षण किया जाए और पता चले कि चोटी पर पारद स्तम्भ की ऊँचाई तलहटी पर के पारद स्तम्भ की ऊँचाई से कम होगी, तो "सिद्ध हो जाता है कि पारद के इस आलम्बन का कारण वायु का भार और दवाव है, प्रकृति की निर्वात के प्रति घृणा नहीं, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति पहाड़ की तलहटी पर निर्वात से अधिक घृणा करती है और चोटी पर कम।"

पैस्कल के वहनोई ने सितम्बर, 1648 में अपना कार्य पूरा किया। परिणाम

आशा के अनुरूप ही थे। टोरिसेली नलिका में पारद स्तम्भ की ऊँचाई पहाड़ (पाई-डी-डोम) की चोटी पर तलहटी की अपेक्षा लगभग तीन इंच कम थी और बीच स्थान पर पारद स्तम्भ की ऊँचाई चोटी की अपेक्षा कुछ अधिक थी—परन्तु तलहटी की अपेक्षा निश्चित रूप से कम। पैरी ने और आगे बताया कि चोटी के 5 विभिन्न स्थानों और विभिन्न परिस्थितियों में किये गए परीक्षणों का परिणाम एक ही हुआ। तलहटी पर बैठा एक प्रेक्षक सारे समय एक अन्य पारद नली को देखता रहा था और उसने देखा था कि पारद के तल में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ था (अर्थात् उस अवधि में वायुमण्डलीय दबाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ)।

इस प्रकार वायु के समुद्र और वायुमण्डलीय दवाव की नई परिकल्पना से उद्भूत दूसरे महत्त्वपूर्ण परिणाम की पुष्टि हुई। कम-से-कम पैस्कल के विचार में ये परिणाम सुनिश्चित थे। सच तो यह है कि हम सोच सकते हैं कि पाई-डी-डोम के परीक्षण के पश्चात् टोरिसेली के नये विचार ने एक नई धारणा पद्धति का रूप अपना लिया था। फिर भी किसी ऐसे परिणाम और पैस्कल के विश्वास पर संदेह किया जा सकता है। उसके समय के पश्चात् विज्ञान के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि परीक्षणों द्वारा किसी एक परिणाम की पुष्टि को परिकल्पना के सही होने का सुनिश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता।

पैस्कल द्वारा सुनियोजित और पैरी द्वारा क्रियान्वित परीक्षण के सम्बन्ध में कुछ विस्तृत विचार करना लाभप्रद होगा। सब से पहले तो ध्यान देने की बात यही है कि नई धारणा पद्धति को सीधे परीक्षण द्वारा जाँचा नहीं जा सकता था, भले ही कोई यह कहता हो कि ऐसा करना सम्भव था। सामान्यतः बहुत कम व्यापक परिकल्पनाएँ अथवा धारण पद्धतियाँ सीधे जाँची जा सकती हैं।

तर्क की एक दूसरी शृंखला धारणा पद्धति का सम्बन्ध परीक्षणात्मक जाँच से करती है। यह साधारण मुद्दा मालूम देता है, पर बात ऐसी नहीं है। यहीं पर अनेक गलत कदम उठते हैं, अनेक दबी हुई धारणाएँ काँटे की तरह खटकती हैं, और इनसे तर्क की एक शृंखला की शृंखला लंगड़ी और बेकार हो जाती है। एक परीक्षण में जो कुछ पाया गया, हो सकता है, वह परीक्षणकर्त्ता के विश्वास के अनुरूप धारणा पद्धति से सम्बन्धित न हो, दूसरे मामलों में हम इस बात पर फिर विचार करेंगे और देखेंगे कि परीक्षणात्मक भूलों के कारण परी-क्षणकर्त्ता किस तरह भटक जाते हैं। यदि हमें 20वीं शताब्दी की कठिन भौतिकी

की व्याख्या करनी हो तो यह प्रश्न कुछ अन्य ही रूप में हमारे सम्मुख आएगा। तब हमें बहुत तेज़ रफ्तार अथवा बहुत छोटे कणों के अध्ययन में यह अनुभव होगा कि परीक्षणों और धारणा पद्धतियों का सम्बन्ध जोड़ने वाले तर्कों में जो कुछ व्यावहारिक ज्ञान की मान्यताएँ मालूम पड़ती थीं उनका दोहराना आवश्यक है।

सम्परीक्षण के तर्क को समझने में उनका महत्त्व है। इसलिए आइये, हम पैरी की कार्य-विधि पर सतर्कतापूर्वक विचार करें। नई धारणा पद्धति से उद्भूत पैस्कल के परिणाम को इस प्रकार रखा जा सकता है : "यदि पृथ्वी वायु के समुद्र से घिरी हुई है और यदि हवा में भार है तो हवा का दबाव पहाड़ की तलहटी की अपेक्षा चोटी पर कम होगा।" इस परिणाम को किसी विशेष परीक्षण में परिणत करने में बहुत से तर्कों की आवश्यकता होगी। मान लीजिये कि टोरिसेली के पारद स्तम्भ की ऊँचाई वायुमण्डलीय दबाव का नाप है। पहाड़ की चोटी और तलहटी पर परीक्षण करने पर पारद स्तम्भ की ऊँचाई तलहटी की बजाय चोटी पर कम होगी बशर्ते कि इसी बीच किसी और कारण ने वायु के दबाव अथवा पारद स्तम्भ की ऊँचाई पर प्रभाव नहीं डाला है।

इस तर्क में 'यदि' और 'बशर्ते कि' बहुत ही महत्त्व के हैं। एक स्पष्ट अशुद्धि-कारण वायुमण्डलीय दबाव के परिवर्तन से बचने के लिए पैरी ने अपने परीक्षण के दौरान एक आदमी को पहाड़ की तलहटी पर लगाये गए पारद स्तम्भ का प्रेक्षण करने को बैठाये रखा। वह चाहता था कि हर बार पारद स्तम्भ की ऊँचाई दबाव का सही माप हो। इसलिए उसने बड़ी सावधानी से हवा के बुलबुले नली में नहीं रहने दिये थे। कारण, कोई छोटा-सा बुलबुला भी यदि नली के निर्वात स्थान में पहुँच जाए तो पारद स्तम्भ नीचे गिर जाएगा। उसने अपने इस विश्वास का कारण यही बताया कि वह अपने प्रयत्नों में सफल रहा है। उसके अनेक बार के प्रेक्षणों में जितनी समानता है, उससे कोई भी संदेहवादी व्यक्ति शंका कर सकता है। मैं तो यह मानना चाहता हूँ कि अपने उत्साह के कारण ही उसने अभिलेखों की शुद्धता पर अधिक ध्यान नहीं दिया। परन्तु इस दिलचस्प ऐतिहासिक तथ्य के अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना काफी होगा कि परीक्षण और अभिलेख के स्तर 1648 तक स्थिर न हो सके थे।

पैरी ने कुछ स्थानों पर कुछ सुनिश्चित नियमों के अनुसार कौशल दिखाया

था । वस्तुतः हर बार उसने पारद के दोनों स्तरों के अन्तर का निरीक्षण किया था । सम्भवतः उसने इंचों (इंच के 12 हिस्सों) में विभाजित लकड़ी के पैमाने का प्रयोग किया था । परीक्षण करते समय पैरी के तर्क वैसे ही थे जैसे किसी व्यावहारिक समस्या को नये ढंग से सुलझाने का प्रयास करते समय किसी शिल्पकार अथवा गृहिणी के होते हैं । वस्तुतः उसने कहा था, "यदि मैं टोरिसेली का परीक्षण इस स्थान पर करूँ और मेरे प्रयत्न में कोई भूल-चूक न हो और किन्हीं अज्ञात कारणों से पारद स्तम्भ की ऊँचाई पर प्रभाव न पड़े (इस परिकल्पना का उपयोग इसी प्रयोग में है) तो पहाड़ की तलहटी पर पारद स्तम्भ की ऊँचाई की अपेक्षा यहाँ पर पारद स्तम्भ की ऊँचाई कम होगी ।" पैरी अथवा पैस्कल को ठीक-ठीक पता न था कि पहाड़ की तलहटी की अपेक्षा उसकी चोटी पर पारद स्तम्भ की ऊँचाई अनेक कारणों से कम हो सकती थी; पारद और वायु के सापेक्षिक घनत्व में अन्तर पड़ सकता था (गुरुत्व सम्बन्धी विचारों की रूपरेखा ही उस समय तैयार हो रही थी) ; और कुछ हज़ार फुट ऊपर पहुँचाने पर पैमाने की लम्बाई में ही अन्तर पड़ सकता था । पैरी ने स्वयं देखा था कि खुले स्थान और बन्द मकान के प्रयोगों में अन्तर था तथा गुजरते हुए बादल से भी अन्तर पड़ता था । वायु के शुष्क और नम होने पर गिरजाघर के अन्दर और बाहर उसने अनेक परिवर्त्तियों को लेकर परीक्षण किये, परन्तु उसका कहना है कि हर परिस्थिति में परिणाम एक जैसा ही था ।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वास्तविक परीक्षण द्वारा किसी परिणाम की जाँच के सम्बन्ध में अनेक परिवर्त्ती होते हैं । अब इस मामले की बात । पैस्कल ने परिणाम निकाला था कि टोरिसेली की नली में पारद स्तम्भ पहाड़ की चोटी पर कम ऊँचाई पर होता है और तलहटी पर अधिक ऊँचाई पर । पैरी ने इसका गुणात्मक प्रमाण दिया था । उसके बाद की किसी भी जाँच से किसी भी ऐसे परिवर्त्ती का पता नहीं चल सका है जो पैरी के प्रमाण का खण्डन कर सके ।

युवक और शौकिया काम करने वाले : एक विषयान्तर

यहाँ मैं सत्रहवीं शताब्दी की वायविकी की कथा को रोककर एक ऐसी प्रक्रिया का विवेचन करना चाहता हूँ जो विज्ञान के इतिहास में बार-बार आती है । मेरा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य के पश्चात् रुचि की नयी लहरें आती हैं और समय-समय पर शिक्षित समुदाय पर छा जाती हैं । कोई नया

विचार, नई खोजें अथवा नये उपकरणों से अनुसंधान का एक नया क्षेत्र खुल जाता है। हर आदमी उसमें सहयोग देता है, और उस क्षेत्र में विज्ञान आश्चर्य-जनक प्रगति करता है। उसके बाद प्रगति मंद पड़ जाती है और बीच में लम्बा समय निष्क्रियता में बीत जाता है। मेरा विश्वास है कि इस प्रक्रिया का कारण काफी हद तक युवकों में अपने बड़ों से मतभेद रखने और साहसपूर्ण कार्यों के लिए नया क्षेत्र ढूँढने की प्रवृत्ति है। सार रूप में वयोवृद्ध वैज्ञानिकों ने अनेक बार यह कहा है, "अरे, यह तो नौजवानों का काम है।" सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में वायुमण्डलीय दबाव का अध्ययन ऐसा ही काम था। टोरिसली ने 36 वर्ष की उम्र में कार्डिनल रिसी को अपना वह प्रसिद्ध पत्र लिखा था। पैस्कल ने 24 वर्ष की उम्र में पाई-डी-डोम परीक्षणों की योजना बनाई। बॉयल ने, जिसके काम पर हम अभी विचार करने वाले हैं, 32 वर्ष की अवस्था में इस क्षेत्र में अनुसंधान आरम्भ किया।

याद रखना चाहिए कि ये व्यक्ति शौकिया वैज्ञानिक थे। परीक्षणात्मक विज्ञान को विश्वविद्यालयों में स्थान मिलने में अभी अनेक वर्षों की देर थी। अनुसंधानशालाएँ और संस्थान तो अभी पूरे दो शताब्दी दूर थे। गैलीलियो निःसन्देह पदुआ में अध्यापक था, परन्तु वह नये विज्ञान के उस सुप्रसिद्ध केन्द्र के वैज्ञानिक अंशदान के अन्तिम समय में हुआ था। जिस समय की बात हम कर रहे हैं उस समय बॉयल आक्सफोर्ड में था। परन्तु यह विश्वविद्यालय एक अपवाद था और अपवाद तो नियम को प्रमाणित ही करता है। क्योंकि उन दिनों इस प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के अध्यापक क्रामवेल की सेना के बल पर ठूंसे गये युवक ही थे। वे सम्राट्-विरोधी थे, कम या अधिक कट्टरवादी थे, परन्तु बेकन के दर्शन और समस्याओं के प्रति परीक्षणात्मक दृष्टिकोण के पक्षधर थे। चार्ल्स द्वितीय के पुनः राज्यारोहण के पश्चात् विश्वविद्यालयों में फिर भारी परिवर्तन हुए। वैज्ञानिक दल के तत्कालीन प्रोफेसरों के स्थान पर सम्राट् के प्रति वफादार पहले के प्रोफेसर नियुक्त किये गए अथवा उन्होंने स्वयं आक्सफोर्ड छोड़ दिया। वे शीघ्र ही पुनर्संस्थापित चर्च के सहयोगी बन गये और महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हो गए। परन्तु वे आक्सफोर्ड नहीं लौटे और आक्सफोर्ड अब वैज्ञानिक केन्द्र न रह गया। कुछ वर्षों बाद इसी दल द्वारा रायल सोसाइटी आयोजित की गई जिसका कार्यालय लन्दन में था।

फलोरेन्स में ड्यूकों के संरक्षण में शौकिया वैज्ञानिकों के एक दल ने, जो टोरिसली के मित्र थे, 1647 में टोरिसेली की अकाल मृत्यु के बाद

भी साथ-साथ काम करना जारी रखा। यह एक विचारणीय बात है कि गैलीलियो के प्रसिद्ध मुकदमे और दण्ड के बाद एक विशुद्ध कैथोलिक देश में 1657 से 1667 तक यह विज्ञान अकादमी फूली-फली। पर ऐसा दीखता है कि इन युवक वैज्ञानिकों ने विश्वशास्त्र का स्पर्श नहीं किया। इस आरम्भकालीन विज्ञान अकादमी के फूलने-फलने का यह उदाहरण उन लोगों को खटकता है जो विज्ञान और सुधारवादियों के सम्बन्ध पर बहुत ज्यादा जोर देते हैं।

बॉयल ने जब विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया तो वह केवल युवक ही नहीं था, वरन् धनी भी था। वह एक अत्यन्त सम्पन्न पिता का बेटा था। (उसके पिता थे कॉर्क के महान् अर्ल, जिन्होंने आयरलैण्ड का शोषण करके धन कमाया था) वह अपना संरक्षक स्वयं था। पैरी के परीक्षणों के विपरीत उसे अपने अनुसंधानों के उपकरणों तथा सहायकों के लिए पर्याप्त धनराशि की आवश्यकता थी। बॉयल ने स्वयं कहा था कि "इस परीक्षणात्मक दर्शन के प्रभावपूर्ण विकास कार्य के लिए पर्याप्त धन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी दिमाग की।" उसने कहा कि बुद्धिमान् व्यक्तियों को चाहिए कि वे "प्रकृति के रहस्यों की खोज के लिए धनिकों से भी सहायता लें।" और बॉयल की जीवन कथा से प्रकट है कि उसने सदैव अपनी बात का पालन किया।

निर्वात पंप का आविष्कार

एक और शौकिया वैज्ञानिक, निर्वात पंप के आविष्कारक, ओटो वान गैरिक, का नामोल्लेख भी आवश्यक है। अनेक व्यावहारिक कार्यों से सम्बन्धित गैरिक मैगडेबर्ग (जर्मनी) का मेयर था। उसने तीस-साला युद्ध में सक्रिय भाग लिया था और 1631 में उसका नगर नष्ट कर दिया गया। उसका सम्बन्ध मिलिट्री इंजीनियरिंग के साथ था। शायद इसी आवश्यकता के कारण उसकी रुचि नये परीक्षणात्मक दर्शन में लगी। वायुमण्डल के विषय में उसके विचार कैसे विकसित हुए, इसकी कहानी मालूम नहीं है। सम्भव है कि वह बिलकुल स्वतन्त्र रूप से उसी निर्णय पर पहुँचा हो जिस पर टोरिसेली पहुँचा था। इतना तय है कि उसने पानी वाला बैरोमीटर बनाया और किसी बर्तन से वायु निकालने वाली मशीन बनाई। उसके आविष्कार के सिंहावलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका आविष्कार पानी खींचने वाले लिफ्ट पंप के चूषक भाग का ही एक रूपान्तर था। (किसी भी खोज अथवा आविष्कार के गतानुदर्शन दृष्टिकोण को बहुत ही सावधानी से प्रयुक्त करना चाहिए अन्यथा हास्यास्पद स्थिति में पड़ने का

खतरा रहता है।) पिस्टन और सिलेण्डर से पानी को ऊपर उठाने का काम सदियों से होता आया था। किन्तु वान गैरिक ने ऐसा न करके लकड़ी के कठौते से पानी चूसने के लिए पीतल का पंप प्रयुक्त किया। इस आविष्कार के कई नमूने बनाये गये और निर्माता को अपने प्रयत्नों में आंशिक सफलता और आंशिक असफलता मिली। जब उसने बन्द बर्तन में से हवा और पानी दोनों को निकालना आरम्भ किया तभी उसे कुछ सफलता मिली। आखिरकार वह हवा निकाल

चित्र 5—ओटो वान गैरिक के सुप्रसिद्ध मैगडेबर्ग गोलार्द्ध

पाने में सफल हुआ। उसने यह भी खोज निकाला कि वायुमण्डलीय दवाव को सहन करने के लिए धातु का गोलाकार वर्तन होना चाहिए। उसने 1654 में रेटिस्वन में शाही सभा के सम्मुख सुप्रसिद्ध मैगडेबर्ग गोलार्द्ध का प्रदर्शन किया (चित्र 5)। दो पोले अर्ध गोलाकार वर्तनों के सिरे आपस में अच्छी तरह फिट कर दिये गए थे और इस प्रकार बने गोले में से हवा निकाल दी गई। वायु निकाल देने पर वायुमण्डलीय दवाव के कारण वे आपस में इतनी मजबूती से जकड़ गये कि आठ घोड़े भी उन्हें पृथक् न कर सके। परन्तु नली में से थोड़ी-सी वायु भीतर डालते ही दोनों गोलार्द्ध अलग-अलग हो गये।

वान गैरिक के इस महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन को टोरिसेली की धारणा-पद्धति से उद्भूत एक और परिणाम का सत्यापन कहा जा सकता है। परन्तु वान गैरिक के पंप का बॉयल द्वारा प्रयोग हमारे लिए अधिक शिक्षाप्रद है।

रावर्ट बॉयल के परीक्षण

बॉयल को इस पंप के सम्बन्ध में वुर्जबर्ग के एक कैथोलिक प्राध्यापक द्वारा 1657 में प्रकाशित पुस्तक से पता चला (वैज्ञानिक अनुसंधानों के सम्बन्ध में समाचार का संचार अभी तक अनियमित ढंग से ही होता था)। निर्वात उत्पन्न करने के इस ढंग को जानकर बॉयल को लगा कि टोरिसेली की धारणा-पद्धति से उद्भूत एक और परिणाम की जाँच की जा सकती है। बॉयल में जिस तर्क और कल्पना शक्ति का सम्मिलन था, वह पिछले तीन सौ वर्षों के सफल अनुसंधानकर्त्ताओं में अक्सर पाया गया है। विज्ञान में एकाधिक महत्त्वपूर्ण प्रगति केवल इस कारण हुई है कि किसी व्यक्ति में इतनी कल्पनाशक्ति थी कि अमुक नये उपकरण का उपयोग किस महत्त्वपूर्ण बात की जाँच में हो सकता है। बॉयल ने पाई-डी-डोम परीक्षणों के तुल्य परीक्षण अपनी अनुसंधानशाला में करने की योजना बनाई। उसने वान गैरिक के पंप में एक परिवर्तन यह किया कि एक ऐसा समंजन किया जिसकी मदद से टोरिसेली के दबावमापी का निचला हिस्सा उस वर्तन में रखा जा सकता था जिसकी हवा निकालनी है (देखें चित्र 6, 7 व 8)। फिर पम्प को चालू करते और पारद-कुंड के ऊपर की वायु निकालते ही पारद स्तम्भ नीचे गिर गया। उसने अपने प्रयोग का वर्णन इन शब्दों में किया है: "इस प्रकार सब तैयार हो जाने पर पिस्टन नीचे किया गया, और वायु के बाहर निकल जाने पर पारद आशा के अनुकूल नली में नीचे आ गया।" वह पारद स्तम्भ को लगभग पूर्णतया नीचे गिराने में समर्थ हुआ परन्तु कुण्ड के पारद की सतह के बराबर तक नहीं। दूसरे शब्दों में वह वर्तन में निर्वात इस सीमा तक पैदा कर सका कि दबाव आरम्भिक दबाव के 1/30 भाग से भी कम रह गया, किन्तु, जैसा उसका ख्याल था, उसका यन्त्र और अधिक निर्वात पैदा करने में सफल न हो सका। जब वायु पात्र में दुबारा दाखिल की गई तो पारद स्तम्भ अपनी सामान्य ऊँचाई तक पहुँच गया।

लोग यह सोच सकते हैं कि बॉयल ने अपने परीक्षण का व्यौरा प्रकाशित किया होगा तो, विद्वत्समाज ने नयी धारणाओं को अपना लिया होगा। परन्तु 17वीं शताब्दी के मध्य में विज्ञान की प्रगति मन्द थी। इस मन्दी का एक
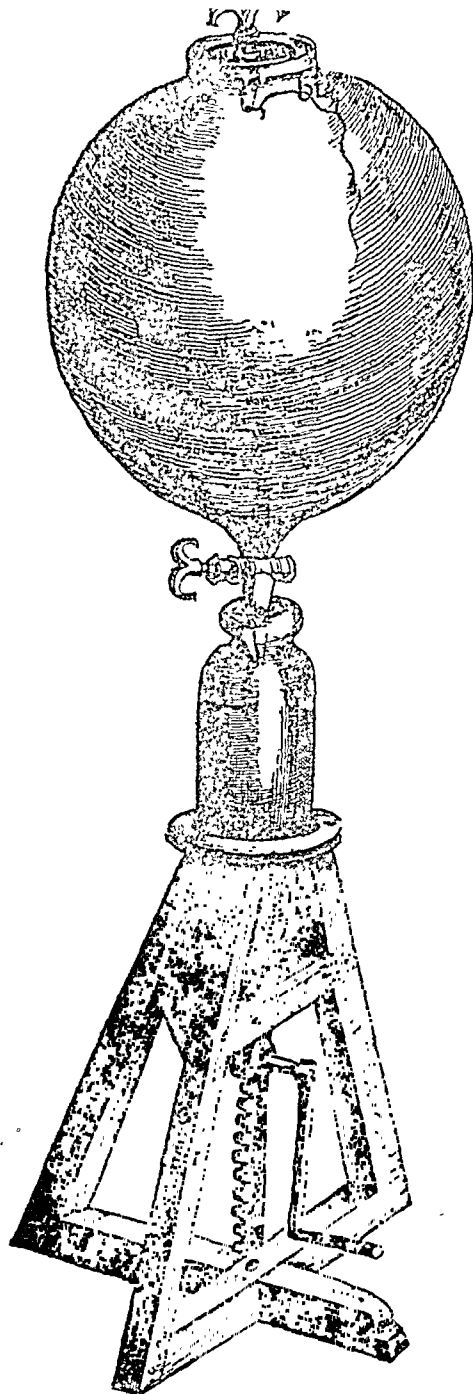
चित्र 6—चॉयल के प्रथम वायु पम्प के लकड़ी पर खोदे गए
चित्र की अनुकृति ।

कारण यह था कि वैज्ञानिक संस्थाएँ और वैज्ञानिक पत्रिकाएँ नहीं थीं। अपने पम्प (बॉयल के शब्दों में 'एक नया वायवीय इंजन') के विस्तृत ब्यौरे के साथ-साथ लेखक ने अनेक परीक्षणों का भी वर्णन किया, जो निर्वात में किए जा सकते
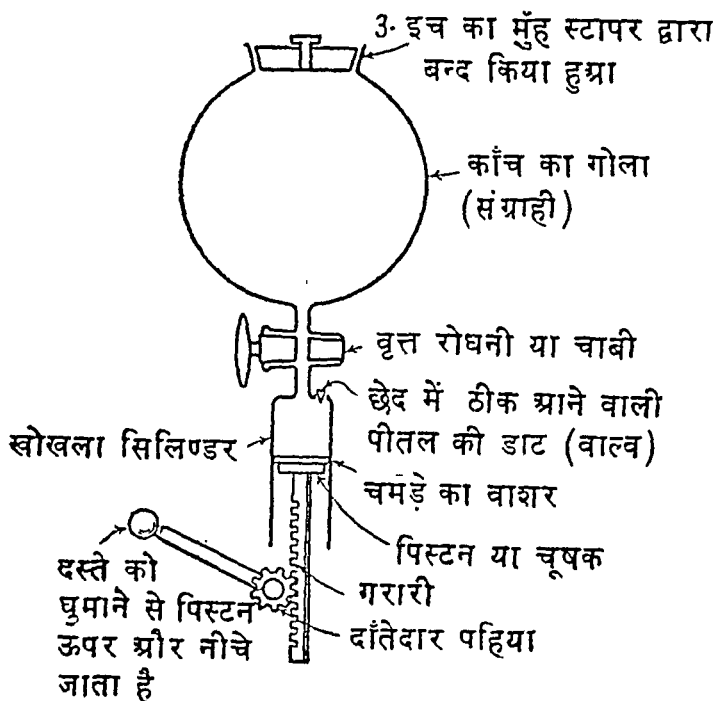
बॉयल के प्रथम वायु पम्प की सरलीकृत आकृति

चित्र 7—पम्प के कार्य का वर्णन बॉयल के ही शब्दों में इस प्रकार है : 'वाल्व को बन्द करके पिस्टन को जब नीचे किया जाता है तो सिलिंडर वायु-रहित होता है। अतः जब चाबी को घुमाया जाता है तो संग्राही की वायु शून्य सिलिंडर में शीघ्रता से भर जाती है। चाबी को घुमाकर संग्राही को बन्द करो, वाल्व को खोलो और पिस्टन को ऊपर उठाओ—इस प्रकार लगभग वह सभी वायु बाहर निकल जाएगी जो सिलिंडर में भर गई थी। परन्तु प्रत्येक बार संग्राही से सिलिंडर में आने वाली वायु की मात्रा कम होती जाएगी, क्योंकि संग्राही में ही स्वयं वायु की मात्रा कम होती जाती है।'

थे। इनमें से कुछ प्रयोगों के सम्बन्ध में वान गैरिक ने और कुछ के सम्बन्ध में फ्लोरेंस की विज्ञान अकादमी के सदस्यों ने लिखा था। अकादमी के सदस्यों का

निर्वात पैदा करने का तरीका बड़ा भद्दा था। वे टोरिसेली वाले परीक्षण का उपयोग करते थे। नली के ऊपर का भाग चौड़ा था, जिसमें उपकरण रखा
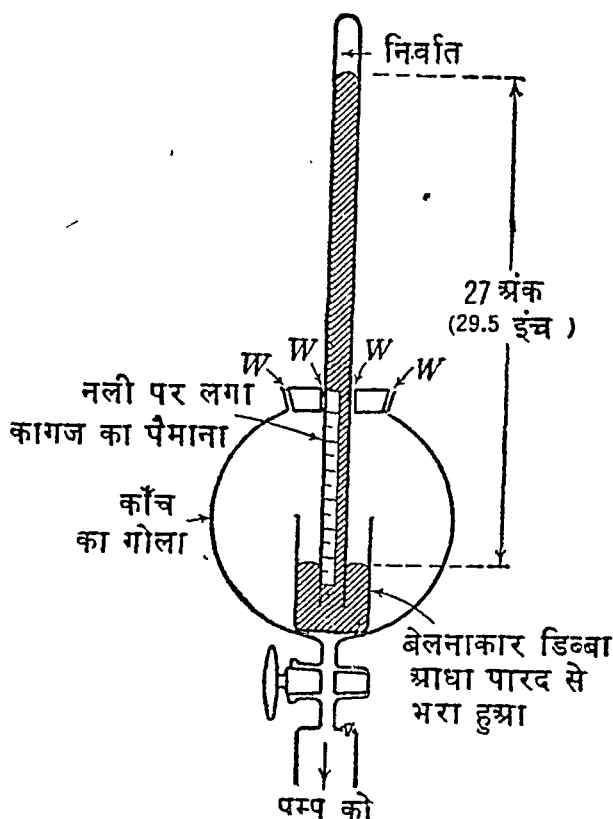
चित्र 8—वैरोमीटर के संचय से ऊपर उपस्थित हवा को हटाने वाले बॉयल के उपकरण का चित्र। काँच का गोला पम्प का ऊपरी भाग है। W उन स्थानों को वताता है, जिस जगह सीलिंग वैक्स लगाया गया। जव पम्प को चलाया जाता है तो पारद के स्तम्भ की ऊँचाई कम हो जाती है।

जा सकता था। नली को उलटने के बाद चौड़े भाग में निर्वात पैदा हो जाता था।

बॉयल के अनेक पाठकों के लिए उसके परीक्षण और विचार नये थे। दो ने तो उसकी आलोचना करना आरम्भ कर दिया। इनमें से एक टॉमस हॉब्स था। उसने इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों को पुराने अरस्तूवादी विचारों का गढ़ कहकर काफी निन्दित किया था, किन्तु स्वयं पूर्ण विश्व में विश्वास करता
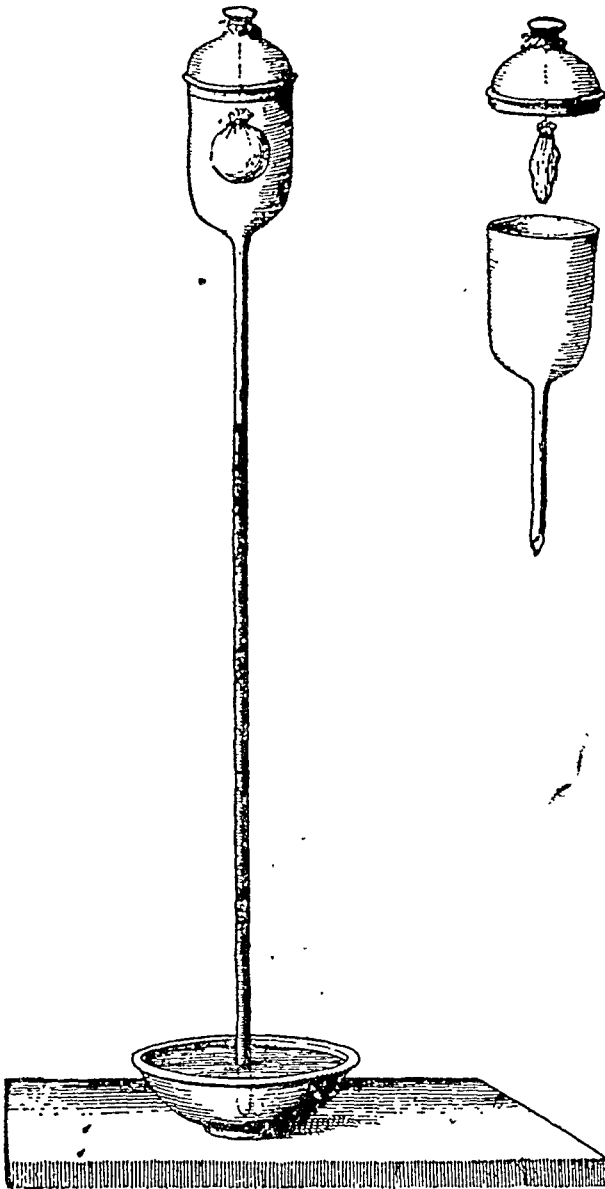
चित्र 9—एकेडेमिया डेल सिमेण्टो के एक प्रयोग का उपकरण। यह प्रयोग एक ब्लैडर में वायु के प्रसार को दिखाता है, जब उस ब्लैडर को टॉरिसेलियन निर्वात में रखा जाता है।

था। दूसरा था फ्रांसिस्कस लाइनस नामक एक अजान व्यक्ति। टोरिसेली ने जिस प्रक्रिया का सर्वप्रथम निरीक्षण किया था, उसके बारे में लाइनस के विचित्र विचार थे। लाइनस और हॉब्स में एक बात समान थी। दोनों यह विश्वास करते थे कि ब्रह्माण्ड पूर्ण है और उसमें निर्वात नहीं पैदा हो सकता। उसका बताया हुआ कारण अनोखा तो मालूम देता है, किन्तु उसमें एक आकर्षक पक्ष भी है : बॉयल के परिणामों की व्याख्या के लिए उसने एक सीधी-सादी कल्पना की कि टोरिसेली नलिका में पारद स्तंभ की ऊँचाई रोकने वाली चीज एक अदृश्य झिल्ली है। उसने इस झिल्ली का नाम 'फनीक्युलस' रखा। यह बात उपहासस्पद मालूम होती है—परन्तु निश्चय ही यह तदर्थ परिकल्पना के प्रयोग का उदाहरण है और ऐसी परिकल्पना के प्रयोग का विज्ञान में अभाव नहीं। अर्थात्, विचित्र परिस्थिति में फंस जाने पर व्यक्ति एक विशेष परिकल्पना का सहारा लेता है। और अपने काल्पनिक फनीक्युलस के प्रमाणस्वरूप वह एक व्यावहारिक उदाहरण देता था। उसने कहा : आप अपनी अँगुली दवाव-मापी के ऊपर के हिस्से पर रखिये, आप इस अदृश्य झिल्ली का खिचाव अनुभव करेंगे (यह चित्र 1 की नालिका से अनुभव किया जा सकता है)। इस व्यक्तिगत तर्क से अधिक विश्वासोत्पादक तर्क और क्या होगा ? आप अनुभव करते हैं कि पारद स्तंभ के ऊपर के निर्वात की ओर आपकी चमड़ी खिंची जा रही है। निश्चय ही यही अदृश्य झिल्ली पारद को ऊपर खींचती है।

बॉयल ने इस और इस प्रकार के अन्य तर्कों का उत्तर यह दिया कि बाहर की वायु का दवाव चमड़ी को दवाव-मापी नलिका में धकेलता है। परन्तु वह परीक्षण का उत्तर परीक्षण से ही देना चाहता था। वायु पंप द्वारा पाइ-डी-डोम प्रदर्शन की पुनरावृत्ति ही काफी न थी। कारण, लाइनस का कहना था कि बाहर के कोष्ठ में निर्वात करने से अदृश्य झिल्लियाँ कुण्ड में पारद को ऊपर उठाती हैं और इस कारण बैरोमीटर की नलिका में फनीक्युलस खिंच जाती है। वस्तुत: उचित मनोवस्था में आप लगभग देख सकते हैं कि जब परीक्षणकर्त्ता बारी-बारी से पात्र से वायु निकालने अथवा भरने की क्रियाओं द्वारा पारद स्तंभ को नीचे गिराता और ऊँचा उठाता है तो लाइनस का यह फनीक्युलस लचीले धागे के समान काम करता हुआ मालूम पड़ता है।

बॉयल ने जल्दी ही भाँप लिया कि समुद्र तल पर दवावमापी नलिका में पारद स्तंभ की लगभग समान ऊँचाई की व्याख्या के लिए लाइनस की एक बात माननी पड़ती है। विवश होकर लाइनस को कल्पना करनी पड़ी कि फनी-

क्युलस पारद के लगभग $29\frac{1}{2}$ इंच से अधिक ऊँचे स्तंभ को सम्हाल नहीं सकती। तब बॉयल ने एक सीधा-सादा यंत्र बनाया। यह अंग्रेजी के अक्षर जे (J) के आकार की नलिका थी—जिसकी एक टाँग लम्बी और दूसरी छोटी थी (देखें चित्र 10)। उसने इतना पारा डाला कि दोनों टाँगों में पारद तल का अन्तर 88 इंच हो गया। तब उसने नली के खुले भाग से मुँह लगाकर साँस भीतर ली। बॉयल ने स्वयं इसका वर्णन किया है कि ऐसा करने पर (हमारी आशा के अनुरूप) नली
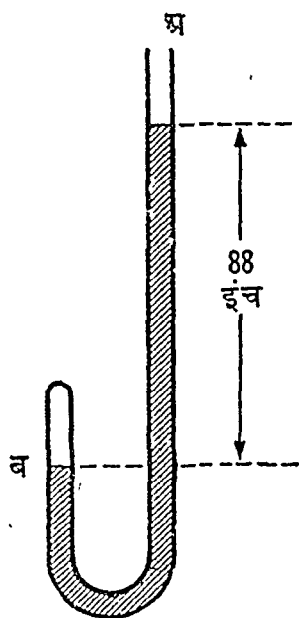
चित्र 10—'अ' पर अपना मुँह रखकर जब बॉयल ने चूसा तो जे-नली की लम्बी टाँग में पारद चढ़ गया। उसकी जीभ के सिरे के फनीक्युलस पारद को खींच रहे थे। इसका अर्थ यह हुआ कि फनीक्युलस 88 इंच पारद के स्तम्भ को सँभाले हुए था। यह बात लाइनस की इस धारणा के विपरीत थी कि फनी-क्युलस केवल 30 इंच ऊँचे पारद के स्तम्भ को ही सँभाल सकते हैं, इससे अधिक ऊंचे स्तम्भ को नहीं।

में पारा कुछ ऊपर चढ़ गया। इस प्रक्रिया की व्याख्या हमारे आलोचक के फनी-क्युलस द्वारा नहीं जा सकती क्योंकि उसने स्वयं अंगीकार किया है कि यदि पारद 29 अथवा 30 इंच से ऊँचा हो तो फनीक्युलस उसे सम्हाल नहीं सकती।"

लाइनस की विचित्र धारणाओं को समाप्त करने के लिए ये परीक्षण किए

गए थे। लगे हाथों इनसे मात्रात्मक माप की उत्पत्ति हुई और अन्तत: गैस के आयतन और दबाव सम्बन्धी बॉयल का सुप्रसिद्ध नियम निर्धारित हुआ। परन्तु बॉयल के इस कार्य के सम्बन्ध में विचार आगे के किसी अध्याय में किया जाएगा। सत्रहवीं शताब्दी की वायविकी के सम्बन्ध में यह विवेचना हम बॉयल के कुछ कौशलपूर्ण परीक्षणों पर विचार के बाद समाप्त कर देंगे। इन प्रयोगों के द्वारा बॉयल ने उस अदृश्य द्रव की, जिसकी कल्पना डेकार्ट ने की थी और सभी प्लेनिस्टों का जिस पर विश्वास था, विद्यमानता के सम्बन्ध में प्रमाण प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयत्न किया। यह मामला खास महत्त्व का है। सर्व-साधारण व्यक्ति जिन मामलों का अध्ययन करते हैं वे लाभप्रद और इसलिए अपेक्षाकृत अधिक स्थायी धारणा-पद्धतियों से उद्भूत परिणामों की पुष्टि से सम्बन्धित होते हैं। तथाकथित निषेधात्मक परिणामों अथवा असफलताओं के उदाहरण आसानी से नहीं मिल पाते।

हॉब्स भी डेकार्ट की इस बात में विश्वास करता था कि यह ब्रह्माण्ड अदृश्य तरल से पूर्ण है। उसने इस नयी मान्यता में प्राचीन अरस्तूवादी व्याख्या कि (किसी चीज़ के अन्दर जाने के लिए) भरे हुए शराब के पीपे के ऊपर की ओर सूराख़ की आवश्यकता क्यों है ताकि तरल बाहर आ सके, को भी मिला दिया। शायद वह यह तो मानता था कि बॉयल अपने पात्र में से कोई चीज़ निकालने में समर्थ तो हो गया था, परन्तु 'वास्तविक निर्वात' की उपस्थिति को वह कभी नहीं मान सका।

बॉयल इस मुद्दे पर (अन्य मुद्दों के समान) सावधान था। अपनी प्रथम रिपोर्ट में उसने यह प्रश्न उठाया कि क्या पात्र को खाली कर देने के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि वह स्थान सचमुच में खाली है, अर्थात् वह किसी प्रकार के भौतिक पदार्थ से शून्य है। उसने इसे मानने वालों और अस्वीकार करने वालों दोनों की कठिनाइयों को बताया। उसके ही शब्दों में "एक ओर ऐसा प्रतीत होता है कि पात्र में से वायु निकाल देने पर भी संभव है कि पात्र बिलकुल खाली न हो गया हो, क्योंकि कोई वस्तु उसमें रखने पर दिखाई देनी चाहिए, यदि प्रकाश की किरणें उसे पार नहीं कर सकतीं तो ऐसा नहीं होगा···और प्रकाश की किरणें किसी प्रकाशमान वस्तु के भौतिक निस्सरण हैं अथवा कम-से-कम जो प्रकाश वे ले जाते हैं वह किसी व्यापक पदार्थ की तेज गति के कारण है...।" (प्रसंग-वशात् हम कह सकते हैं कि पचास वर्ष पूर्व यह दोनों विकल्प प्रकाश के सिद्धान्त के लिए काफी थे, परन्तु आज नहीं, जैसा कि पहले अध्याय में वर्णित है।) दूसरी

और यह कहा जा सकता है कि वह अदृश्य पदार्थ जिससे वस्तुएँ दृश्यमान बनती हैं···(काँच के पात्र की दीवारों में से) गुज़र कर आता है" (यह धारणा शायद 1890 में सही मानी जा सकती थी)। इसकी सभी अच्छाइयों और बुराइयों पर विचार के बाद बॉयल कहता है, "इस जटिल विवाद को सुलझाने का उत्तरदायित्व लेने का सामर्थ्य मुझ में नहीं।"
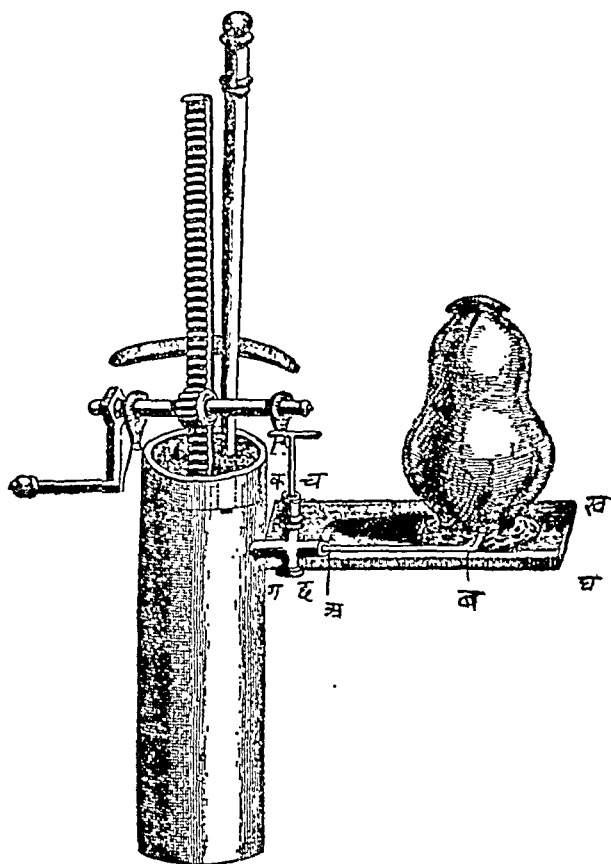
चित्र 11—बॉयल के द्वितीय वायु पम्प के ऊपरी भाग का आंशिक रेखा-चित्र। इस पम्प का नीचे का भाग बिलकुल पहले जैसा मॉडल ही था। नली अ ब को दिखाने के लिए पट्टिका क ख ग घ को अलग कर लिया जाता है। कांच के संग्राही में से वाल्व च छ के रास्ते अ ब नली में से हवा बाहर निकाली जाती है।

अपने प्रथम वायु पंप से अदृश्य तरल की खोज की समस्या से उलझने को तैयार न था। परन्तु युवक अंग्रेज अनुसंधानकर्त्ता जल्दी ही अपने इस पंप से असंतुष्ट हो गया और उसने एक अधिक वढ़िया इंजन का नमूना वनाया। दूसरे नमूने में एक अलग पात्र था—जिसमें से वायु निकाली जा सकती थी (चित्र 11)। इस विधान और खाली किए हुए पात्र के अन्दर के शेष दवाव को मापने के एक मापी के आविष्कार द्वारा वॉयल आधुनिक परीक्षरणात्मक विधियों के पथ पर चल पड़ा था। मेरी सम्मति है कि रावर्ट वॉयल परीक्षरणात्मक विज्ञान का वास्तविक जनक है। वह केवल कुशल और सावधान अनुसंधानकर्त्ता ही नहीं था परन्तु उसने अनुसंधानों को सही और पूर्णरूप से रिपोर्ट करने के प्रतिमान भी स्थिर किये।

वॉयल ने 1667 में अपने इंजन के दूसरे नमूने से किये गए अनेक परीक्षरणों की विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की। इनमें से कुछ प्रयोगों का अगले अध्याय में वर्णन किया जाएगा। यहाँ हमारा सम्वन्ध केवल उन प्रयोगों से है जो "कार्टेजियन अदृश्य पदार्थ अथवा ईथर की गति और चैतन्यता के परीक्षण का प्रयत्न" शीर्षक के अधीन आते हैं।

वॉयल दृढ़ निश्चयपूर्वक व्यापक परिकल्पना की जाँच करने में जुट गया। इस परिकल्पना को हम धारणा-पद्धति कह भी सकते हैं और नहीं भी। ध्यान देने की वात है कि 19वीं शताब्दी में प्रकाशकर ईथर के नामकरण में यही कठिनाई आई थी। निश्चय ही हम इन दोनों को सामान्य रूप से एक समझ सकते हैं और अदृश्य तरल की मान्यता को ऐसी धारणा-पद्धति कह सकते हैं, जिसका उपयोग आज 20वीं शताब्दी में भी अध्यापन कार्य में होता है।

जिस तरह वॉयल अथवा कोई अन्य परीक्षणकर्त्ता टोरिसली की योजना की सीधी जाँच नहीं कर सकता था, उसी प्रकार अदृश्य तरल की विद्यमानता सम्वन्धी परिकल्पना की भी प्रत्यक्ष जाँच नहीं कर सकता था। यह वहुत ही महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। पहले धारणा-पद्धति से परिणाम प्राप्त किये जाते हैं (पृ० 41) उसके पश्चात् यही परिणाम तर्क शृंखला का आधार वन जाते हैं और अन्त में अत्यन्त सीमित कार्यवाहक परिकल्पना वन जाती है। प्रेक्षण के पश्चात् विचार द्वारा अन्त में यही सीमित कार्यवाहक परिकल्पना या तो सिद्ध होती है या नहीं होती। वॉयल ने अपने परिणामों अथवा अपनी कार्यविधियों की व्याख्या इस रूप में नहीं की कि अदृश्य तरल की विद्यमानता की जाँच और कुछ गुणों वाले वाले द्रव की उपस्थिति की जाँच में अन्तर प्रकट हो सके। परन्तु अन्तर (जो आवश्यक है) उसके एक परीक्षण के परिणाम से स्पष्ट है।

उसने साफ-साफ कहा कि यदि मेरे रिक्त पात्र में 'ईथर' है तो वह सामान्य वायु के सौवें भाग से अधिक 'पतली' होनी चाहिए। इस सीमित परिणाम के प्रति शायद विवाद की गुँजाइश नहीं है।

बॉयल ने वस्तुतः जो कुछ किया वह इस प्रकार है : उसने एक तरल की विद्यमानता की कल्पना की, जिसके गुणों को परीक्षणों की परिभाषा में देखा। तब उसने अपनी अधिक सामान्य और अनिश्चित धारणा-पद्धति के विवरण से कुछ परिणाम निकाले। इनसे 'यदि'...'तो' ढंग के तर्क उपस्थित हुए और उसके बाद कुछ विशेष परीक्षण किये गए। प्रत्येक दशा में परिणाम नकारात्मक थे—अर्थात् जिन परिणामों की सम्भावना थी वह नहीं मिले। विशिष्ट परीक्षणात्मक जाँचों के कारण नकारात्मक उत्तरों के कुछ गुणों सहित कल्पित तरल की विद्यमानता असम्भव सिद्ध हो गई। इन परीक्षणों से यह भी नहीं पता चला
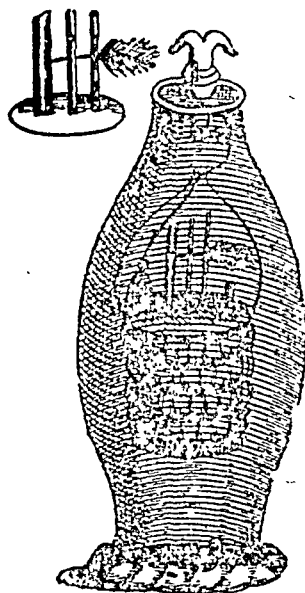
चित्र 12—'ब्लेडर धौकनियों' का बॉयल का बनाया हुआ चित्र। इन धौकनियों का प्रयोग वायु से अधिक तरल माध्यम की खोज के लिए किया गया।

कि किन्हीं अन्य गुणों वाला अदृश्य तरल भी होता है।

बॉयल के परीक्षणों में अदृश्य तरल की व्याख्या इस प्रकार की गई थी :

यह तरल साधारण वायु के समान है और उसका दवाव वायुमण्डलीय दवाव के तीसवें भाग से भी कुछ कम है। इस प्रकार विरल मान लेने पर धौंकनी अथवा पिचकारी को जल्दी-जल्दी चलाकर सामान्य वायु में गति पैदा की जा सकती है, और इस प्रकार 'विरल' तरल के प्रवाह की विद्यमानता सिद्ध होती है। वॉयल ने दिखाया कि दवाव को पारद के एक इंच से भी कम कर देने पर पात्र की वायु को काफी जोर से प्रवाहित किया जा सकता था कि पंख हिलने लगे (चित्र 12)। वॉयल को यह मानना पड़ा था कि जिस अदृश्य तरल की उसे खोज थी वह पम्प के चलाने पर या तो पात्र से निकाला नहीं जा सकता था अथवा वह निकालने के फौरन ही वाद फिर अन्दर घुस आता था। इस तरल का एक कल्पित गुण यह भी था कि वह वाल्वों और मोम से बन्द छिद्रों से अन्दर घुस आता है। इस तरह के किसी तरल की विद्यमानता को मानने का उसके पास कारण था। निर्वात उपकरणों के सभी प्रयोगकर्त्ताओं की भाँति वॉयल को भी "छेदों' से परेशानी होती थी। अपने प्रथम प्रवन्ध में उसने कहा है कि सम्भवतः सामान्य वायु का कुछ भाग इतना विरल है कि उन सूराखों में से भी घुस जाता है जिन्हें पूरी तरह वन्द समझा जाता है।

पाठक सम्भवतः डेकार्ट के ईथर की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए किये गए वॉयल के परीक्षणों को वचकाना कहकर छोड़ देंगे। परन्तु किस प्रकार सही ढंग से किये गए परीक्षणों के नकारात्मक फलों से कोई धारणा पद्धति असत्य सिद्ध हो जाती है, यह वॉयल के प्रयोगों से स्पष्ट है। सामान्य सैद्धान्तिक धारणा पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है किन्तु यदि सम्वन्धित प्रयोगों से प्रत्यक्षतः सम्वन्धित निश्चित मान्यताएँ उपस्थित की जाएँ तो एक धारणा पद्धति को प्रमाणित अवश्य करते हैं, धारणा-पद्धतियों की दृष्टि से, जिन्हें आज सव वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। वॉयल के परीक्षण वहुत सीधे-सादे मालूम देते हैं। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए की 17वीं शताव्दी के सभी अनुसंधानकर्त्ताओं का ज्ञान शायद इतना ही था कि वायु दो या अधिक ऐसे पदार्थों के मेल से वनी है, जो वहुत ही सूक्ष्म सूराख में से भी गुज़र जाते हैं। उदाहरण के रूप में इस तरह के भेद का लाभ उस समय उठाया जाता है जब हम ठोस के चूर्ण को तरल से पृथक् करते हैं। निश्चय ही आज हम जानते हैं कि वायुमण्डल की अवयव गैसों की (मुख्य रूप से आक्सीजन और नाइट्रोजन) वहुत वारीक नली से गुज़रने की गतियों में वहुत ही अन्तर है। परन्तु यह अन्तर इतना कम है कि 17वीं और 18वीं शताव्दी में प्राप्त उपकरणों से किये गए परीक्षणों में वायु के

व्यवहार में उनका पता नहीं लग पाया। निश्चय ही आज हम विश्वास करते हैं कि जिस 'सूक्ष्मता' की खोज बॉयल को थी वह गैसों के किसी मिश्रण में नहीं हो सकती। यह गैस का स्वभाव है कि उसका मिश्रण असमांगी नहीं हो सकता। इसके विपरीत, मिट्टी के महीन कणों के पानी में आलम्बन अथवा दूध और रक्त के पदार्थों के पानी में घोल असमांगी होते हैं। किन्तु यह साबित करने में कि बात सचमुच ऐसी है, एक शताब्दी से ज्यादा का समय लग गया। तब एक और शताब्दी के बाद उस धारणा-पद्धति का विकास हुआ, जिसके बल पर हम वायु और गैसों के गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं (गैसों का गतिज सिद्धान्त)।

वायु और वायुमण्डलीय दबाव के बारे में सत्रहवीं शताब्दी के विचार प्रस्तुत करते समय मैंने इस तथ्य का जिक्र नहीं किया है कि वायु सरलता से संपीड़ित की जा सकती है, पानी नहीं। आज इस बात की ओर किसी का ध्यान दिलाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु आश्चर्य है कि बॉयल द्वारा अपने परीक्षणों का ब्यौरा प्रकाशित करने से पूर्व वायु के इस गुण की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इतना अवश्य है कि टोरिसेली ने कार्डिनल रिसी को लिखे गये एक प्रसिद्ध पत्र में ऊन के गोले का उदाहरण यह दिखाने को किया था कि संपीड़ित होने वाली कोई वस्तु उस सतह पर दबाव डालती है, जिस पर स्थित होती है परन्तु निर्वात पैदा करने के उसके उपाय की व्याख्या वायु की संपीड्यता के बिना भी की जा सकती थी। पैस्कल ने अपने लेखों में पानी और वायु के दबावों में सादृश्य दिखाया है और ऊन का उदाहरण देते हुए भी वायु को इसी प्रकार माना है मानो यह पानी की अपेक्षा बहुत कम घनत्व वाला माध्यम भर है। परन्तु बॉयल ने वायु की संपीड्यता के महत्त्व पर बार-बार जोर दिया। उसने इसके लिए बहुत ही अनोखे मुहावरे 'वायु की लचक' का प्रयोग किया है।

यदि कोई 'परीक्षण से धारणा की उत्पत्ति' का उदाहरण ढूंढ़ना चाहे तो—तो वायु को लचीले तरल मानने के विचार का पुनर्जन्म प्रस्तुत है। बॉयल के निर्वात पैदा करने के उपाय में पम्प का प्रयोग होता था, जबकि फ्लोरेंस के वैज्ञानिकों अथवा पैस्कल के उपायों में ऐसा नहीं था। और आज 'वायु की लचक' को अनुभव करने के लिए वायु पंप के दस्ते को चलाने मात्र की आवश्यकता है। यदि पम्प हवा भरने के लिए है (टायर में हवा भरना) तो नीचे दबाते समय ऐसा अनुभव होगा कि आप एक स्प्रिंग को दबा रहे हैं, और यदि यह पम्प हवा निकालने वाला है तो उसे ऊपर करते समय ऐसा ही अनुभव होगा। वान गैरिक के सिद्धान्त से निर्वात पैदा करने वाले पम्प (चित्र 7) का परीक्षण

रने पर प्रतीत होता है कि यदि वायु भी पानी की तरह असंपीड्य होती तो
इ यंत्र काम ही न करता। पिस्टन नीचे करते ही पात्र में तत्काल वायु का
ार हो जाता है और वायु से रिक्त सिलिण्डर में भी हवा पहुँच जाती है।
र बार पिस्टन चलाने से शेष वायु का एक अंश बाहर चला जाता
(यह अंश पात्र और सिलण्डर के पारस्परिक आकार पर निर्भर है)।
त्रहवीं शताब्दी के महान् अनुसन्धानकर्त्ता बॉयल को वायु की संपीड्यता की
रणा के लिए प्राथमिकता नहीं दी सकती, परन्तु उसने स्वतन्त्र रूप से सबसे
ले इस धारणा को विकसित किया और इसके महत्त्व को समझने वाला
श्चय ही वह पहला व्यक्ति था। प्राथमिक अनुमान से कह सकते हैं कि वायु
रलता से संपीड्य है और जल प्रायः असंपीड्य। यह गुणात्मक धारणाएँ एक
ी विज्ञान के विकास की प्रथमावस्था में लाभदायक थीं। परन्तु बहुत शीघ्र
ये धारणाएँ मात्रात्मक व्याख्याओं के बिना अपूर्ण मानी जाने लगीं। इसके
ए मापों और गणित द्वारा अमूर्त विचारों को व्यक्त करने की आवश्यकता
। बॉयल की वायु की लचक की गुणात्मक धारणा गैस की प्रत्यास्थता
ा मात्रात्मक धारणा में कैसे बदल गई, इसका विवरण आगे के एक अध्याय
अध्याय 6) के एक अंश में प्रस्तुत है। अध्याय 6 में मात्रात्मक सम्परीक्षण और
णित के योगदान का विवरण है।

परीक्षणात्मक खोज में कुछ आवर्तक प्रतिमान

पिछले अध्यायों में परीक्षणात्मक विज्ञान में एक आवर्तक प्रतिमान के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। यह आवर्तक प्रतिमान है किसी नयी धारणा पद्धति के परिणामों की परीक्षणों द्वारा जाँच। इन्हीं उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हुआ कि किस प्रकार किसी नयी धारणा पद्धति से नये परीक्षणों का जन्म होता है। टोरिसेली का परीक्षण, पैरी के पाई-डी-डोम प्रयोग और बॉयल द्वारा पैरी के प्रेक्षणों का अनुसन्धानशाला में पुनरावृत्ति—ये सब इन्हीं दोनों आवर्तक प्रतिमानों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। इन सब में नई धारणा पद्धति फलप्रद सिद्ध हुई थी। इसके अतिरिक्त इन परीक्षणों के परिणामों से व्यापक परिकल्पनाओं की मान्यताओं की पुष्टि भी हुई। साथ ही दूसरी ओर बॉयल द्वारा विशेष प्रकार के अदृश्य तरल की खोज निष्फल सिद्ध हुई और इस प्रकार वह कार्य जल्दी ही समाप्त हो गया। इस प्रकार के अदृश्य तरल की धारणा को अनिवार्यतः निष्फल समझा जाना चाहिए। और बहुत सतर्क एवं संदिग्ध मनः-स्थिति के अतिरिक्त साधारणतः हम इस धारणा को 'अयथार्थ' ही कहेंगे। कम से कम हम इतना तो कह ही सकते हैं कि धारणा से जो परिणाम निकाले गये थे उनमें से किसी की भी पुष्टि न हो सकी और जिस पद्धति के थोड़े से परीक्षणों के परिणाम नकारात्मक हों, वह किसी भी स्तर पर फलप्रद नहीं हो सकती।

इस अध्याय में हम सम्परीक्षण के अन्य आवर्तक प्रतिमानों के कुछ प्रारम्भिक उदाहरणों पर विचार करेंगे। इस उद्देश्य से सत्रहवीं शताब्दी की वायविकी का अध्ययन फलप्रद सिद्ध होगा। इसमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात की कमी है, फिर भी, विज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण कौशलों और कार्यविधियों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दे का उदाहरण पेश करना कठिन है। अर्थात् हम यह नहीं बता सकते कि किसी व्यक्ति की अद्भुत सूझ से किसी नई धारणा पद्धति का विकास कैसे होता है। टोरिसेली की व्यापक परिकल्पना इतनी जल्दी एक नई धारणा पद्धति बन गई थी। किन्तु दुर्भाग्यवश हमें उसके उद्भव के बारे में कुछ मालूम नहीं है। परन्तु इस कमी का प्रतिकार मैं सातवें

अध्याय में कर सकूंगा, जिसमें रासायनिक क्रान्ति का वर्णन है। वैसे परीक्षणात्मक विधि से विज्ञान की प्रगति के प्रायः सभी आवश्यक तत्त्व रावर्ट बॉयल और उसके समकालीनों के कार्य के विवेचन में प्राप्त हो जाएँगे। बॉयल द्वारा वायु की लचक को इस विवेचन में प्रमुखता देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कैसे एक परीक्षण से नई धारणा जन्म लेती है। वैज्ञानिक इतिहास के इस काल में उपकरणों का आविष्कार और विकास बहुत महत्त्वपूर्ण है। सम्परीक्षण के नये क्षेत्र के आरम्भ के लिए नये उपकरण किस प्रकार आधारभूत हैं, इसके उदाहरण स्वरूप केवल वान गैरिक के पम्प, वॉयल के 'वायविक इंजनों' के अनेक नमूनों और टोरिसेली के 'बैरोमीटर' के नाम लेना ही काफी है। इतने पर भी परीक्षणात्मक प्रेक्षण स्वयं विज्ञान की प्रगति नहीं है। परीक्षण को एक व्यापक विचार (किसी नयी धारणा अथवा धारणा पद्धति) के साथ सम्बद्ध करने वाली तर्क-शृंखला एक अनिवार्य तत्त्व है। और इन तर्क-शृंखलाओं के उदाहरण हैं पैस्कल और वॉयल के सरल परन्तु महत्त्वपूर्ण परीक्षण, जिनका विवरण पिछले अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

वायविकी के प्रारम्भिक इतिहास में अनेक उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि परीक्षण में विभिन्न परिवर्ती कारणों की मान्यता का कितना महत्त्व है। बॉयल के 'वायु की लचक के बारे में' परीक्षणों के विवरण के किसी भी पृष्ठ पर दिखाई पड़ता है कि परिवर्तियों पर नियन्त्रण कितना आवश्यक है। यही कारण है कि निर्वात में ध्वनि के संचरण सम्बन्धी उसके अध्ययन पर विचार करना आवश्यक है। इससे पाठक को एक प्रकार के परीक्षण की याद भी ताजा हो जाएगी, जिसने विज्ञान सम्बन्धी जाँच की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। ये परीक्षण निम्न प्रकार के होते हैं। अक्सर अनुसन्धानकर्त्ता के पास नवीन अथवा पहले से अच्छा उपकरण होता है, और सोचता है कि इसके द्वारा अतीत के परीक्षणों की कुछ अस्पष्ट व्याख्या को अधिक पुष्ट और स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु ऐसी अवस्था में किसी क्रान्तिकारी खोज के अवसर कम ही होते हैं और सम्बद्ध धारणाएँ अथवा धारणा पद्धतियाँ सामान्य रूप से मान्य होती हैं। इतने पर भी कुछ अस्पष्ट बातें होती हैं जिन्हें स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है। मतलब यह कि वह बात बहुत महत्त्व की नहीं होती, परन्तु उसका अध्ययन इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि शायद नये उपकरण द्वारा खोज का कोई नया मार्ग निकल आये।

यह स्मरण रखने की बात है कि एक बिन्दु पर केन्द्रित होने वाले प्रमाण

ही विज्ञान के सारे ताने-बाने का आधार हैं। आगामी कुछ पृष्ठों में जो कुछ वर्णित है वह कुछ पाठकों को सम्भवतः नितान्त महत्त्वहीन मालूम पड़ेगा। परन्तु इसी कारण वह लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। साधारण व्यक्ति को एक-एक विषय के इतिहास द्वारा विज्ञान का परिचय कराने में एक भय यह है कि पाठक के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ सकता है कि केवल व्यापक धारणा-पद्धतियों अथवा नितान्त नई धारणाओं का ही महत्त्व है। ई० एस० क्रीज़ी की पुस्तक 'विश्व के पन्द्रह निर्णायक युद्ध' साधारण पाठक के मन में मिलिट्री के इतिहास के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करती है। आगामी कुछ पृष्ठों में मैं बॉयल द्वारा अपने वायु पम्प की सहायता से किये गए कुछ साधारण परीक्षणों पर विचार करूँगा। इनसे विज्ञान की विधियों पर प्रकाश तो पड़ेगा ही, साथ ही विज्ञान के इतिहास का सम्यक् ज्ञान भी होगा।

बॉयल के परीक्षणों से कुछ उदाहरण

निर्वात में ध्वनि का संचरण—हमें इस विषय में बॉयल के विवेचन पर ध्यान देना चाहिए। कुछ समय से सामान्यतया यह विश्वास किया जा रहा था कि वायु के माध्यम से ध्वनि का संचरण होता है। इस धारणा का परिणाम यह निकला कि निर्वात में से ध्वनि गुजर नहीं सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि फ्लोरेंस की अकादमी (अकादमिया देल सीमेन्तो) के सम्परीक्षक सदस्यों ने इस धारणा के परिणाम की जाँच करने का प्रयास किया कि ध्वनि के संचरण का माध्यम वायु है। उनके परिणाम अनिश्चित रहे। वे जिस ढंग से परीक्षण करते थे उससे यह विचित्र भी नहीं मालूम पड़ता। उन्होंने केवल बैरोमीटर की नली के ऊपर के चौड़े सिरे में एक घण्टी लटका दी थी। यह ज्यादा-से-ज्यादा एक भौंडा उपकरण था। बॉयल के पम्प से निर्वात पैदा करना अधिक सरल था। फिर भी पम्प के पहले नमूने से (चित्र 6, 7) परिणाम अनिश्चयात्मक ही निकले। गोल ग्राहक में धागे से एक घड़ी लटका दी गई थी। ग्राहक के वायु से पूर्ण रहने पर घड़ी की 'टिक-टिक' स्पष्ट सुनाई देती थी और हवा निकाल देने पर नहीं। इसके विपरीत एक और परीक्षण में एक घण्टी छड़ी के सहारे ग्राहक की दीवार के साथ लगाकर टाँग दी गई, तो दोनों अवस्थाओं में—नली में वायु रहने अथवा न रहने पर—उसकी आवाज़ सुनाई देती थी।

इस त्रुटि के दो कारण बॉयल ने सोचे। शायद निर्वात में कुछ वायु शेष

रह गई हो। (फ्लोरेंस के वैज्ञानिक जिस पारद स्तम्भ का प्रयोग करते थे उसमें वायु के बुलबुले सरलता से घुस सकते थे)। यह भी सम्भव है कि आवाज़ ग्राहक की ठोस दीवार के सहारे चलकर बाहर की वायु तक पहुँचती हो। जब अलग ग्राहक वाला दूसरा पम्प (चित्र 11) तैयार हो गया तो और अधिक प्रभावपूर्ण परीक्षण सम्भव हो सका। 'अच्छे अलार्म युक्त एक घड़ी' धागे के सहारे ग्राहक में
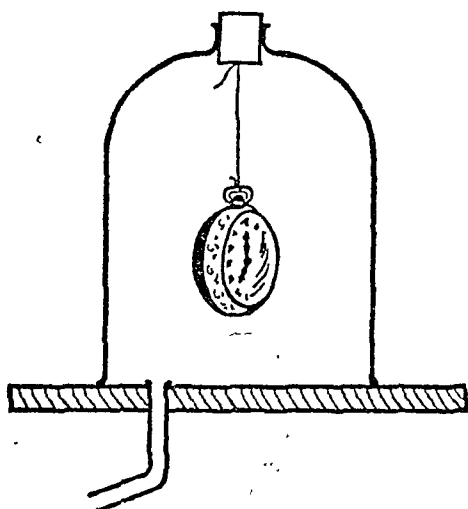
चित्र 13—निर्वात में घड़ी के साथ प्रयोग करने वाले उपकरण का चित्र। घड़ी को काँच के संग्राही बेलजार में लटका दिया जाता है और उसमें से हवा निकाल दी जाती है।

लटकादी गई और फिर उसमें निर्वात पैदा कर दिया गया। अलार्म बजते समय कुछ भी सुनाई न दिया। परन्तु उसके बाद शीघ्र ही उसमें कुछ थोड़ी-सी हवा जाने दी गई, तो एक धीमी आवाज़ सुनाई पड़ी। कुछ और अधिक हवा भरने पर पास में खड़े हुए लोग अलार्म की आवाज़ को स्पष्ट सुन सकते थे, जो अभी तक बज रहा था (चित्र 13)।

ये सब परिणाम विश्वासोत्पादक प्रमाण थे। परन्तु बॉयल के लिए पर्याप्त नहीं थे। उसने फिर निर्वात में घण्टी की आवाज़ के बन्द होने की प्रक्रिया पर परीक्षण किये। चौदह नम्बर के चित्र में दर्शाये गए उपकरण के ग्राहक के भीतर एक मुड़े हुए तार से एक घण्टा लटका हुआ था। उसमें ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि ग्राहक के ऊपर की एक 'चाभी' घुमाने पर एक छोटी हथौड़ी घंटे से

टकराती थी। बॉयल लिखता है: "जब ग्राहक को पूरी तरह वायु से खाली कर दिया गया तो पास में खड़े हुए लोगों को सन्देह हो गया कि घण्टी बजी भी है या नहीं...जब थोड़ी हवा उसमें भरी गई तो घण्टे पर हथौड़ी पड़ने की आवाज़ (जो पहले कभी-कभी न भी सुनाई पड़ती थी किन्तु अधिकतर धीमी सुनाई पड़ती थी) आसानी से सुनाई देने लगी, और जब कुछ और अधिक वायु उसमें भरी गई तो आवाज़ अधिक-से-अधिक श्रव्य होती गई...।"
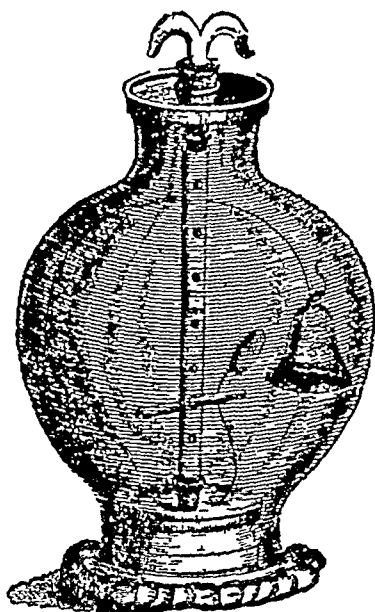
चित्र 14—निर्वात में घंटी बजाने वाले बॉयल के उपकरण की काष्ठमूर्ति की अनुकृति।

इन सीधे-सादे परीक्षणों में दो परिवर्ती थे: वायु की सम्भाव्य उपस्थिति और ठोस आधार के द्वारा ध्वनि का संचारण। इन दोनों परिवर्तियों को पहचान लेने के बाद उन पर नियन्त्रण पा लिया गया। पहले परिवर्ती के बारे में एक दिलचस्प बात यह है कि बाद में बॉयल ने निर्वातयुक्त ग्राहक के भीतर दबाव नापने के लिए एक प्रमापी बनाया। यदि आरम्भ में ही उसके पास इस प्रकार का प्रमापी होता तो वह अभी-अभी वर्णित प्रथम परिवर्ती—अर्थात् ग्राहक के भीतर निर्वात की मात्रा—पर नियंत्रण अधिक अच्छी तरह कर पाता। तब वह कुछ इस

प्रकार की बात कहता : 'जब दवाव प्रमापी के एक विशेप पाठ्यांक से भी कम कर दिया गया तो अलार्म बजने पर (या घंटा बजाने पर) कोई ध्वनि नहीं सुनाई दी; जब वायु अन्दर भरी गई और दवाव एक निश्चित मान तक बढ़ गया तो मंद ध्वनि सुनाई पड़ी।' जब किसी परिवर्ती की मात्रात्मक माप संभव हो जाती है तो परिवर्ती द्वारा उत्पन्न अनिश्चितता कम हो जाती है और सम्परीक्षण सामान्यतया बहुत सरल हो जाता है।

नवीन तकनीक द्वारा अनुसन्धान

वॉयल और उसके पम्प के विवरण से हम एक और फलितार्थ निकाले बिना नहीं रह सकते। यदि कोई व्यक्ति उसके अनेक परीक्षणों के विस्तृत ब्यौरे को पढ़े तो निरुद्देश्य प्रतीत होने वाले परीक्षण प्रभावित अवश्य करेंगे। और इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता इस तरह की प्रक्रिया का भौतिकी और रसायन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण अंशदान है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तर्कसंगत प्रतिमान, जो हमारे अब तक के विवेचन का विपय रहा है, इन उदाहरणों में अनुपस्थित है। किसी नये वैज्ञानिक उपकरण के आविष्कारक का व्यवहार किसी ऐसे द्वीप पर खड़े अन्वेपक जैसा होता है जिसका नक्शों पर कोई पता नहीं है। वह अपने सौभाग्य से पूरा लाभ उठाने की कोशिश करेगा और उसे प्रत्येक प्रयोग करने और अभिलिखित रखने योग्य होगा। उदाहरण के लिए, वॉयल अपने आप से इस प्रकार के प्रश्न करता रहा : 'यदि मैं इस अथवा उस वस्तु को निर्वात में रखूँ तो क्या होगा ?' उससे पूर्व फ्लौरेंस की विज्ञान अकादमी के सदस्यों और वान गैरिक ने भी 'निर्वात' में प्रक्रियाओं का अध्ययन किया था। सम्भवत: उनके बहुत से परिणामों के विपय में बॉयल जानता तक न था। परन्तु इस मामले में हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं कि पहल किसने की। महत्त्वपूर्ण बात तो यह मानना है कि एक उत्साही अनुसन्धानकर्त्ता ने अपनी नई तकनीक का पूरा लाभ उठाया। कभी वह व्यापक धारणा-पद्धति के परिणाम की जाँच करता (जैसे, गत अध्याय में उल्लिखित बॉयल के निर्वात में वैरोमीटर से परीक्षण)। कभी वह पूर्णतया मान्य धारणा के नये प्रमाण उपस्थित करने का यत्न करता (जैसे ध्वनि सम्बन्धी परीक्षण, जिन पर अभी विचार किया गया है)। परन्तु कभी-कभी उसने परीक्षण के लिए परीक्षण किये और उसकी खोजें अलग-अलग सूचनाएँ मात्र रहीं, जिन्हें बहुत बाद में वैज्ञानिक धारणाओं का रूप दिया गया।

वॉयल के प्रेक्षणों के विवरण से दो बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है :

अनेक परीक्षणात्मक गतिविधि की अनुसन्धानात्मक प्रकृति और परिणामों की खण्डात्मक प्रकृति उसने कुछ कौशलपूर्ण उपकरणों की सहायता से इस तथ्य का प्रदर्शन किया कि निर्वात में मोमवत्ती नहीं जलती, वरन् वारूद भड़क उठती है। किन्तु इन तथ्यों की व्याख्या करने वाली सन्तोषजनक धारणा-पद्धति का विकास अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही हो सका। निर्वात में दहन की असफलता तथा निर्वात वाले संग्राही में छोटे प्राणियों का जीवित न रहना—यह वातें दर्शाती हैं कि दहन और जीवन के लिए वायु आवश्यक है। परन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे ऑक्सीजन की खोज इस के बहुत वाद में हुई। सच तो यह है कि पहले एक वड़े चक्करदार मार्ग पर चलना पड़ा था—फ्लोजिस्टन नामक एक रहस्यमय वस्तु की विचित्र कल्पना का सहारा लिया गया था।

कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन में बॉयल ने परीक्षण किसी विशेष उद्देश्य को लेकर किये। उदाहरणतः उसने निर्वात युक्त पात्र में दो सतहों को एक दूसरे के सहारे घुमाया। उसने तव जल्दी से उसमें वायु भर कर देखी तो दोनों वस्तुएँ गरम हो गई थीं। इस प्रकार उसने परिणाम निकाला कि निर्वात में भी घर्षण द्वारा ताप पैदा हो सकता है। अपने प्रथम पम्प की मदद से उसने अध्ययन किया कि ऊपर से खुले पानी से भरे वर्तन पर वायु दवाव लगातार कम करते जाने पर क्या होगा ? उसे शायद मालूम था कि वायुमण्डलीय दवाव बहुत कम हो जाने पर पानी का आयतन काफी वढ़ जाएगा। परन्तु वह फौरन उलझन में पड़ गया क्योंकि साधारण पानी में वायु घुली हुई रहती है। इस प्रकार के पानी पर जव वायु का दवाव कम किया जाता है तो पानी में मिली वायु के बुलवुले फौरन ही उठकर उसकी सतह पर पहुँच जाते हैं। इससे समस्या और भी उलझ जाती है। पहले-पहल बॉयल को ठीक-ठीक पता न चल सका कि पानी में काफी 'लचक' है या नहीं (अर्थात् वह काफी फैल सकता है या नहीं)। हल्के गरम पानी को मामूली निर्वात वाले पात्र में रखने पर पानी उवलते लगता है। उपरोक्त प्रयोग में पानी के वुलवुलों को उवलना समझ लेने की आशंका है। वाद में अपने और अधिक विकसित पम्प द्वारा परीक्षण करने पर बॉयल को पता लगा कि यदि वायु का दवाव वायुमण्डलीय दवाव के तीसवें भाग से भी कम कर दिया जाए (चित्र 15) तो पानी को कमरे के ताप पर भी उवाला जा सकता है। एक वार फिर, सौ वर्ष वाद ही इस और इस प्रकार के प्रेक्षणों के सम्पूर्ण अर्थ को धारणाओं द्वारा नियमित किया जा सका। इन धारणाओं में जलवाष्प का विचार प्रयुक्त किया गया था।
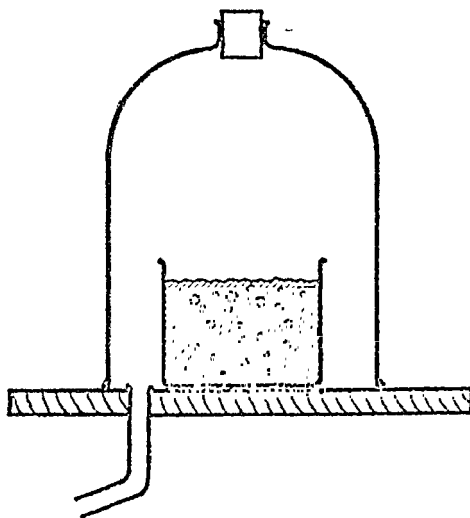
चित्र 15—निर्वात में पानी उबालने के लिए एक उपकरण का चित्र। काँच के संग्राही बैलजार से जब वायु निकाली जाती है तो पानी उबलने लगता है।

परीक्षण तकनीक को बॉयल की देन

बॉयल ने अपने जीवन का काफी समय अपने वायु-पम्प सम्बन्धी परीक्षणों में लगाया, यद्यपि वह रसायन को अपनी देन के कारण अधिक प्रसिद्ध है और इस देन की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा हुई है। उसकी पुस्तक 'संशयवादी रसायनज्ञ' का हवाला हम आगे चलकर देंगे। बॉयल ने अपने पम्प का तीसरा नमूना डेनिस पैपिन नामक फ्रांसीसी आविष्कारक की सहायता से तैयार किया। इसके द्वारा वह ऐसा निर्वात पैदा करने में समर्थ हो सका जिसके भीतर दबाव सामान्य वायुमण्डलीय दबाव के सौवें भाग से भी कम था। तब उसने यह दिखाया कि इस प्रकार के निर्वात युक्त पात्र में, क्षार और मूंगा रखकर नकली हवा पैदा की जा सकती है (वास्तव में उसने कार्बन डायाक्साइड बनायी थी)। इसके बाद बड़े कौशलपूर्ण और परिश्रम साध्य ढंग से वह इस बनावटी वायु को दूसरे बर्तन में ले जाने में समर्थ हो गया और इस प्रकार इससे परीक्षण कर सका। बॉयल ने इसी प्रकार यह भी सिद्ध कर दिखाया कि कम दबाव में तरल पदार्थों

को सामान्य क्वथनांक से बहुत कम ताप पर आसवित किया जा सकता है। वायविकी के इतिहास की एक विशिष्टता यह है कि इसकी नयी तकनीकों ने विज्ञान की गति को अधिक प्रभावित नहीं किया। केवल 19वीं शताब्दी में ही 'निर्वात में आसवन' की विधि रसायनज्ञों द्वारा नियमित रूप से प्रयुक्त की जाने लगी और 20वीं शताब्दी में गैसों (बनावटी वायुओं) के अनुसन्धानकर्त्ताओं ने निर्वात युक्त पात्रों का प्रयोग आरम्भ किया।

अब प्रश्न यह होता है कि वायविक खोज की तकनीक में बॉयल-द्वारा की गई प्रगति को अपनाने में विज्ञान जगत ने इतना लम्बा समय क्यों गुज़ार दिया? उत्तर यही मालूम पड़ता है कि इस ढंग के परीक्षण की कठिनाइयाँ अनेक हैं। बॉयल के पम्प बहुत मंहगे थे और निर्वात तकनीक झमेले वाली कला है— आज भी वैसी ही है। गैसों के साथ प्रयोग करने का अपेक्षाकृत कहीं अधिक सरल परन्तु अपरिमार्जित तरीका उसी काल में निकल आया था और विश्व-व्यापी मान्यता भी उसे मिल गई थी। यह तरीका था वायविक द्रोणिका के प्रयोग का इसका अधिक वर्णन रासायनिक क्रान्ति के सम्बन्ध में किया जाएगा। काँच को फूंकने और धातु सम्बन्धी कार्यों के काफी विकसित होने के बाद ही प्रयोगशालाओं में काम करने वाले व्यक्ति आसानी से उपकरण बनाकर बॉयल के तरीके के अनुसार गैसों से प्रयोग करने योग्य हुए। और सन्तोपजनक तथा अपेक्षाकृत सस्ते निर्वात पम्प बनाने के बाद ही यह सम्भव हो सका कि निर्वात-युक्त पात्र में वायु बची न रह जाए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब पहले तापदीप्त लैम्प के विकास ने आविष्कर्ताओं को प्रेरित किया कि वे ऐसे पम्प बनाएँ जिनसे दबाव के वायुमण्डलीय दबाव का सैकड़ों भाग कम किया जा सके। आज इस तरह के पम्प एक बड़े से पात्र में वायु दबाव को वायुमण्डलीय दबाव का लाखवाँ भाग कर देते हैं। एक्सरे की नलियाँ, रेडियो-ट्यूब, साइक्लो-ट्रोन तथा भौतिकी और रसायन के अन्य जटिल उपकरण उपलब्ध हैं क्योंकि आज 'अच्छा निर्वात पैदा करने की कला' एक साधारण कार्य बन गया है। बॉयल के श्रम-साध्य परीक्षणों के परिणाम आखिरकार प्रयोगशालाओं में आज दिखलाई पड़ने ही लगे हैं।

राबर्ट बॉयल और उसके पम्पों का विषय समाप्त करने से पूर्व कुछ शब्द और कहना उपयुक्त होगा। उसके सहयोगी डेनिस पेपिन को 'पेपिन डिजेस्टर' के आविष्कारक के रूप में कुछ सीमा तक प्रसिद्धि मिल चुकी है। यह 'प्रैशर कुकर' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसे यह बनाने का विचार कैसे आया,

यह काफी स्पष्ट है। बॉयल और पेपिन ने निर्वात में रखी वस्तु पर (अंगूर आदि पर भी) होने वाले प्रभाव का ही अध्ययन नहीं किया था, वरन् उन्होंने यह भी देखा था कि सम्पीड़ित वायु में रखी चीज़ पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उन्हें पता चला कि दबाव के प्रभाव से उबलते पानी का ताप और भी बढ़ जाता है। यह बड़ी मजेदार बात है कि पेपिन के इस 'डिजेस्टर' का वर्णन तो वैज्ञानिक साहित्य में बहुत पहले से यत्र-तत्र किया गया है। परन्तु व्यावहारिक उपकरण के रूप में उसका प्रयोग कुछ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हुआ है। पाकशाला के इस आधुनिक आविष्कार की गृहणियों ने बहुत प्रशंसा की है परन्तु दृष्टव्य है कि आविष्कार के समय भी इसका यही प्रयोग किया जाता था। जान इवलीन ने अपनी प्रसिद्ध डायरी 1682 की 15 अप्रैल को प्रशंसापूर्ण शब्दों में लिखा है कि रायल सोसाइटी के सदस्यों ने पेपिन के 'डिजेस्टर' में पकाया हुआ खाना खाया। वह लिखता है : "इस वैज्ञानिक खाने ने हमारी तबीयत खुश कर दी और सभी उपस्थित व्यक्तियों को अत्यन्त प्रसन्न किया।"

आकस्मिक घटनाओं का महत्त्व

विज्ञान को कभी-कभी इस प्रकार पेश किया जाता है मानो यह कार्य बड़े मेधावी गणितज्ञों का है जो सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं। और कभी ऐसा दीखता है कि यह कार्य नितान्त आकस्मिक है। फलस्वरूप पाठक किसी प्रत्यक्षतः आकस्मिक प्रेक्षण के बारे में प्रायः भ्रम में पड़ जाता है। परीक्षणों के परिणाम-स्वरूप नई तकनीक के विकास और नई धारणाओं के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में तो यह बात विशेष रूप से सही है। इस विषय के अध्ययन के लिए विद्युत प्रवाह के सम्बन्ध में गालवेनी और वोल्टा के कार्य का पर्यवेक्षण करना चाहिए। इस कांड से इस बात का पता चलता है कि आकस्मिक प्रेक्षण अनेक परीक्षणों द्वारा (जो भली प्रकार सुनियोजित होने चाहिएँ) नई तकनीक अथवा नई धारणा या दोनों, को जन्म देते हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि नई प्रक्रियाओं के अनुसन्धान में व्याख्याओं की प्रकृति के सम्बन्ध में किसी 'कार्यवाहक परिकल्पना' के बिना भी परीक्षण भली प्रकार योजनाबद्ध हो सकते हैं, और उनसे जल्दी ही एक व्याख्या की उत्पत्ति होती है। तब एक नई धारणा पद्धति विकसित होगी। यह व्यापक तथा अनेक विषयों पर लागू होने वाली भी हो सकती है अथवा सीमित और विचारणीय प्रश्न तक ही लागू होगी। दोनों ही मामलों में नई धारणा अथवा अनेक धारणाओं की जाँच से नये अनुसन्धान होंगे और अन्ततः

म्बन्धित धारणा पद्धति की स्थापना होगी, उसमें संशोधन होगा अथवा रद्द ही र दी जाएगी।

ालवेनी के अनुसन्धान

आकस्मिक घटना के महत्त्व की कहानी 1786 से कुछ काल पूर्व, एक टालियन चिकित्सक और बोलोना के अध्यापक लुगी गालवेनी के कुछ प्रेक्षणों होती है। इस अनुसन्धानकर्त्ता ने देखा कि चिनगारियाँ पैदा करने वाले स्थरवैद्युत यन्त्र के पास एक धातु की छुरी से मेंढ़क की क्रूरल नाड़ियों को छूने उसकी टाँगें काँपने लगती हैं। उसने अपना काम जारी रखा। इस घटना के तिहास का महत्त्वपूर्ण अंश यही है। विज्ञान की प्रगति में आकस्मिक खोज बाद भी काम जारी रखने या न रखने के परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी लना उस सेनापति से की जा सकती है जो अपने शत्रु की गलती से या किसी ाकस्मिक बात से फायदा उठा लेता है। पास्च्युर ने एक बार लिखा था कि अवसर उन्हीं के लिए लाभप्रद है जो उसके लिए तैयार हों।' यह बात इस ामले से बहुत अच्छी तरह स्पष्ट होती है। डच प्रकृतिवादी स्वामेरडम ने पहले ो खोज लिया था कि यदि मेंढ़क की चीर-फाड़ करके और उसकी माँसपेशी ो नंगा करके (जैसा गालवेनी ने किया था) रखें और एक हाथ में मेढ़क की स पकड़कर शल्य क्रिया में काम आने वाली छूरी से छुआ दें तो मेंढ़क की ाँगें काँपने लगेंगी। परन्तु स्वामेरडम ने अपनी खोज को और आगे नहीं बढ़ाया। सके विपरीत गालवेनी ने काम को आगे बढ़ाया। वह कहता है, 'मैंने एक मेंढ़क ो चीरा और तैयार किया···और चूँकि एक अन्य काम में व्यस्त था इसलिए ंने मेंढ़क को मेज पर रख दिया। उसी मेज पर कुछ दूरी पर एक बिजली की शीन पड़ी थी। तब वहाँ विद्यमान व्यक्तियों में से एक ने अचानक बहुत धीरे मेंढ़क की आभ्यंतरिक् क्रूरल धमनियों को छुरी के सिरे से छू दिया तो टाँगों की ारी माँसपेशियाँ बार-बार सिकुड़ने लगीं।···पास में एक और व्यक्ति था— ौर वह विद्युत सम्बन्धी अनुसंधान में सहायता कर रहा था। उसने देखा कि बिजली की मशीन के कंडक्टर से जब चिंगारी निकलती है तो टाँगें सिकुड़ने ा काम तेजी से होने लगता है। इस प्रक्रिया से हैरान होकर उसने मेरा ध्यान ाकर्षित किया। मैं उस समय कुछ और ही सोच रहा था तथा विचारमग्न मुद्रा ं था। तब मुझ में अपूर्व उत्साह उत्पन्न हुआ और यह इच्छा पैदा हुई कि

इसकी जाँच करूँ और इसके रहस्य का उद्घाटन करूँ।"[1]

गालवेनी इस प्रक्रिया में छिपी सारी बातों को उद्घाटित न कर सका। परन्तु वह इतना अवश्य बढ़ गया कि अन्य खोजें अनिवार्य हो गईं। भली प्रकार आयोजित अनेक परीक्षणों से गालवेनी ने अनेक परिवर्तियों का अध्ययन किया—परन्तु कोई स्पष्ट परिकल्पना उसके पास न थी। जब किसी प्रबुद्ध परीक्षणकर्त्ता के सामने अचानक ही कोई अप्रत्याशित प्रक्रिया आ उपस्थित होती है तो प्रायः ऐसा ही होता है। अनेक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ मस्तिष्क में आती हैं, उनकी जाँच की जाती है और उसके बाद उन्हें या तो अमान्य ठहरा दिया जाता है अथवा धारणा-पद्धति में सम्मिलित कर लिया जाता है जो धीरे-धीरे विकसित होती है। उदाहरण के रूप में, गालवेनी ने पहले मालूम किया कि मेंढक की आकस्मिक हरकत के लिए बिजली की मशीन से चिंगारी निकाली जाए अथवा नहीं। उसने देखा कि 'मेंढ़क की टाँगें बिना चूके···उसी क्षण सिकुड़ती थीं जब बिजली की चिंगारी कूदती थी।'

मेंढ़क की टाँग की नाड़ियाँ और माँसपेशियाँ विद्युत आवेश की संवेदनशील परिचायक हैं। गालवेनी ने पता लगाया कि केवल बिजली की मशीन से चिंगारी ही नहीं गुजरनी चाहिए वरन् छुरी की धातु का फल का स्पर्श परीक्षणकर्त्ता के हाथ से होना चाहिए। इस प्रकार विद्युत की हलचल से उत्पन्न साधारण-सा आवेश—अर्थात् चिंगारी—परीक्षणकर्त्ता के शरीर में से होता हुआ छुरी द्वारा मेंढक के स्नायुओं तक पहुँचता है। यहाँ तक तो चिकित्सक की बात सही आधार पर थी। यहीं पर फिर एक ऐसा संयोग आ उपस्थित हुआ जिससे शोध-कार्य में रत प्रत्येक वैज्ञानिक एक बार उलझन में पड़ जाता है—परन्तु अन्ततः इन्हीं से प्रगति का द्वार खुलता है। मेंढ़क की टाँगें कुछ परिस्थितियों में केवल विद्युत की संवेदनशील परिचायक का काम ही नहीं करतीं, वरन् वे विद्युत का स्रोत भी होती हैं। जब ऐसा होता था तो स्वतः उत्पन्न बिजली परिचायक को और भी उत्तेजित कर देती थी। आसानी से देखा जा सकता है कि दोनों प्रभावों का अध्यारोपण बहुत भ्रमोत्पादक और आश्चर्यजनक है। यह प्रयोग इस समय और अधिक भ्रमोत्पादक था क्योंकि जिन परिस्थितियों में मेंढक की टाँग स्वयं बिजली का स्रोत बन जाती थी, उनका सम्बन्ध इस समय तक ज्ञात किसी वैद्युत प्रक्रिया के साथ नहीं जोड़ा जा सकता था। परिवर्ती था

1. डब्ल्यू॰ एफ़॰ मैगी की अनुमति से 'ए सोर्स बुक इन फ़िज़िक्स' (मैकग्रा हिल बुक कम्पनी, इन्कारपोरेटेड, 1935) से उद्धृत।

प्रयुक्त धातु अथवा धातुओं का स्वभाव। गालवेनी ने खोज निकाला कि यदि मेंढक की स्नायु और टाँग को दो विभिन्न धातुओं से स्पर्श किया जाए तो बिजली वाली मशीन की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में भी टाँगों में सिकुड़न होती है। (यह परीक्षण सामान्यतया इस प्रकार किया जाता था: एक मुड़ी हुई छड़ मेंढक की रीढ़ की हड्डी में से गुज़रने वाले एक हुक के सिरे और पाँव की माँसपेशियों से छुआया जाता था।) गालवेनी ने लिखा है: "यदि, उदाहरणतः, सारी छड़ अथवा हुक सिर्फ लोहे का हो तो सिकुड़न नहीं होगी अथवा होगी तो बहुत कम। पर यदि उनमें से एक लोहा और दूसरा पीतल अथवा और ज्यादा अच्छा है कि चाँदी का हो (चांदी जानवरों के विद्युत प्रवाह के लिए सबसे अच्छी धातु है) तो मेंढक की टाँगें बार-बार, खूब जोर से सिकुड़ती हैं और यह क्रिया काफी देर तक होती रहती है।"

गालवेनी ने अनजाने में ही बिजली की बैटरी का सिद्धान्त खोज निकाला था। उसकी दो धातुएँ, जो कि जानवर के नमतन्तुओं से विभक्त थीं, ही बैटरी थीं और मेंढक की टाँग बिजली की परिचायक थी। प्रत्येक पाठक गालवेनी के परीक्षण के समान परीक्षण कर सकता है। जीभ के ऊपर और नीचे ताँबे और चाँदी के सिक्के रखकर उन्हें आपस में छुआने से एक विचित्र 'स्वाद' मालूम देता है। ऐसा करने से एक क्षीण विद्युत प्रवाह होता है और विद्युत और स्नायुओं की आपसी प्रतिक्रिया को हमारी जीभ इस प्रकार व्यक्त करती है— यह सब गालवेनी के परीक्षण के लिए 'तैयार किए गए' मेंढक के समान ही होता है। इस बात का कोई आभास न होते हुए भी गालवेनी ने इस समस्त प्रक्रिया का कारण बताने के लिए जो सारे घटनाक्रम का उस समय के बिजली सम्बन्धी ज्ञान के संदर्भ में (और यह ज्ञान स्थिर वैद्युत मशीनों से किये गये परीक्षणों द्वारा प्राप्त किया गया था) एक व्यापक परिकल्पना का विकास किया। इतना जान लेने पर बाह्य वैद्युत हलचल की आवश्यकता नहीं रह गई (जब उसने बगैर जाने-बूझे 'सही' धातुओं का प्रयोग किया।) वह कहता है कि इस परिणाम ने, 'हमें यह सोचने को बाध्य किया है कि स्वयं प्राणियों में भी बिजली विद्यमान है।' एक आकस्मिक खोज को सुनियन्त्रित परीक्षणों द्वारा गालवेनी ने और आगे बढ़ाया जिससे महत्त्वपूर्ण तथ्यों को खोज निकाला गया, परन्तु फलप्रद धारणा का विकास एक दूसरे इटालियन ने किया। यह था वोल्टा, जिसने 1800 के आसपास दो धातुओं के स्पर्श से बिजली के उत्पादन का अध्ययन करते हुए बिजली प्राप्त करने के लिए बिजली की बैटरी का आविष्कार किया।

इसी बिजली को हम आज प्राय: गालवेनी बिजली कहते हैं।

वोल्टा द्वारा बिजली की बैटरी का आविष्कार

पदुआ के अलेसेण्ड्रो वोल्टा ने विद्युत के हल्के आवेशों की पहचान के लिए एक यन्त्र पहले ही बनाया था। अब उसने गालवेनी का सिद्धान्त मान लिया कि जानवरों में बिजली विद्यमान होती है और उसका आगे अध्ययन करने लगा। अपने नए सुग्राही संघनक विद्युन्मापी द्वारा वोल्टा ने गालवेनी के आरम्भिक परीक्षणों से सम्बन्धित अनेक परिवर्तियों के संयोजनों के सम्बन्ध में अन्वेषण किया और पता लगाया कि मेंढक की बजाय लगभग किसी भी नम पदार्थ से काम चल सकता है। इस खोज को आकस्मिक प्रेक्षण का उदाहरण समझा जा सकता है, परन्तु यह गालवेनी से अलग ढंग की आकस्मिकता है। जैसा कि हमने पहले भी देखा है, यदि नई पद्धति और नए उपकरणों से खोज व्यवस्थित ढंग से की जाती है तो कभी-कभी उससे नये अप्रत्याशित तथ्य प्रकट होते हैं। इस दृष्टि से विज्ञान के अधिकांश नए तथ्य आकस्मिक खोज कहे जा सकते हैं। फिर भी
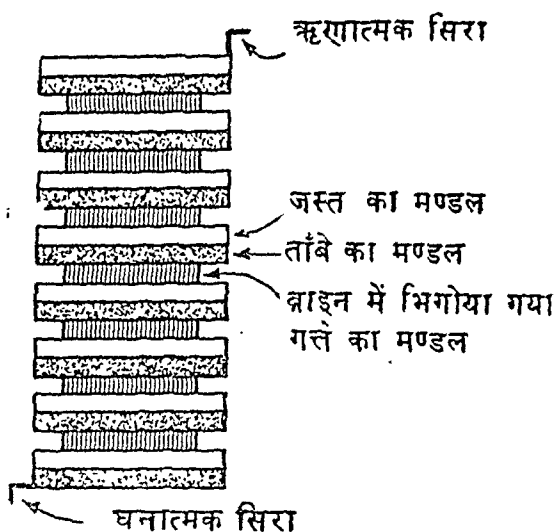
चित्र 16—वोल्टा की बैटरी अथवा पुंज की एक आकृति का रेखाचित्र।

इस प्रकार के अनुभव और गालवेनी के कार्य के उदाहरण में अन्तर स्पष्ट है। चिकित्सक और शरीर-शास्त्री के रूप में गालवेनी की रुचि माँसपेशियों और

उनके कार्य में थी, विजली में नहीं। यह आकस्मिक परिस्थिति ही थी कि प्रथम प्रेक्षणों से विजली की मशीन का सम्वन्ध जुड़ गया। परन्तु कुछ भी हो, गालवेनी को इस वात का श्रेय अवश्य मिलना चाहिए कि इस सुखद संयोग को उसने और आगे बढ़ाया, हालाँकि उसका प्रेक्षण उसके कार्य क्षेत्र से बाहर की वात थी।

वोल्टा की नई खोज विजली की बैटरी का ही आविष्कार थी, क्योंकि उसने यह दर्शाया कि जब दो विभिन्न प्रकार के धातु के टुकड़े नमक अथवा क्षार मिले पानी से पृथक् किये जाते हैं तो विजली पैदा होती है। नम कागज द्वारा यह बहुत सरलता से किया जा सकता था। लन्दन की रायल सोसाइटी के अध्यक्ष को सन् 1800 में वोल्टा ने एक पत्र में लिखा, "ताँबे (अथवा चाँदी) के 30, 40 अथवा 60 या इससे भी अधिक टुकड़े टिन अथवा जस्ता (यह और भी अच्छा है), के स्पर्श में रख दिए जाएँ और इतनी ही परतें पानी या शुद्ध पानी से अधिक अच्छे चालक किसी अन्य द्रव (जैसे नमक मिला पानी, क्षार मिला पानी आदि) की हों अथवा इन द्रवों में अच्छी तरह डुवोये हुए गत्ते या चमड़े के टुकड़े हों चित्र 16)। इन तीनों तरह के चालकों को इसी क्रम से रखने पर मेरा नया उपकरण वन जाता है—जो लीडन जार जैसा ही प्रभाव दिखाता है।" विजली का स्रोत यह नई बैटरी 1800 में ज्ञात स्थिर वैद्युत उत्पादक यन्त्र से भिन्न था। यह विद्युत के निरन्तर प्रवाह का प्रथम साधन था, जबकि आपस में संघर्षण वाली मशीन में विजली की चिंगारियाँ निकलती थीं।

गालवेनी के शिष्यों (गालवेनी की मृत्यु 1798 में हो गई थी) और वोल्टा में इस वात का बड़ा विवाद रहा कि पशु विद्युत् नाम की कोई वस्तु होती भी है या नहीं और गालवेनी के प्रथम परीक्षण में मेंढक की टाँगें क्यों हिलीं? वोल्टा ने शीघ्र ही इस विवाद को छोड़ दिया और अपना ध्यान अपनी नई बैटरी के अध्ययन में लगा दिया। आज हमारे पास विजली की बैटरी सम्वन्धी सन्तोषप्रद धारणा पद्धति है—जिससे बैटरी सम्वन्धी तथ्यों की व्याख्या सम्भव है। यही बात जानवरों की माँसपेशियों, स्नायुओं और उनके तन्तुओं में विद्युत प्रवाह के सम्वन्ध में सही नहीं। इस क्षेत्र में एक कार्यवाहक कल्पना दूसरी का स्थान लेती जा रही है और नये परीक्षण पुराने विचारों-अवलोकन पर प्रकाश डाल रहे हैं। एक प्रकार से हम गालवेनी के प्रथम परीक्षण को अभी पूरा नहीं कर पाये हैं परन्तु वोल्टा के परीक्षण को पूर्ण कर चुके हैं। मूल विवाद इस प्रश्न पर केन्द्रित था कि 'प्राणी विद्युत नाम की कोई वस्तु है?' आज यह प्रश्न व्यर्थ वन चुका है परन्तु इसी के उत्तर की खोज में वोल्टा ने विजली की

बैटरी को खोज निकाला। विज्ञान के इतिहास का मार्ग अक्सर इसी प्रकार का है। प्रायः हम एक विषय का समाधान पाने का प्रयास करते हैं और अन्त में दूसरी ही समस्या के समाधान पर जा पहुँचते हैं।

एक्स किरण की खोज

19वीं शताब्दी की एक घटना से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि एक प्रेक्षण को किस प्रकार सुनियोजित परीक्षणों से आगे बढ़ाया जा सकता है। यह घटना है एक्स-किरण का आविष्कार। सभी वैज्ञानिक इस कहानी से परिचित हैं किन्तु शायद सामान्य रूप से इस बात का लोगों को ज्ञान नहीं कि रांजन द्वारा अपने आविष्कार की घोषणा से पहले कुछ दूसरे अनुसंधानकर्त्ताओं ने भी विद्युत निरावेशी नली के निकट फोटोग्राफिक प्लेटों का धुँधला होना देखा था। रांजन ने अपने प्रेक्षण को आगे बढ़ाया। दूसरों ने ऐसा नहीं किया। परन्तु जिस आधार के सहारे रांजन ने कार्य किया, उसे सुखद संयोग नहीं कहा जा सकता। रांजन इलैक्ट्रोन-प्रवाह (जिसे तब कैथोड किरण कहा जाता था) का अध्ययन कर रहा था—जो विद्युत निरावेश नली के भीतर एक छोटे छेद से गुजर सकता है। उसे इस बात का भान था कि ये किरणें कुछ विशेष पदार्थों पर पड़ने से प्रतिदीप्ति पैदा करेंगी। फलतः उसने इसी तरह के पदार्थ से पुती हुई एक स्क्रीन ली और देखा कि नली से कुछ दूर रखने पर भी वह प्रतिदीप्त होती है। इसी प्रेक्षण से और आगे बढ़कर रांजन ने सिद्ध कर दिखाया कि एक प्रकार का विकिरण, जो केवल काँच को ही नहीं वरन् अपारदर्शी पदार्थों को भी पार करता है, ही इस प्रभाव का कारण है। उसके बाद उसने इन किरणों के उत्पादन के लिए श्रेष्ठतर उपाय निकाले और इस प्रकार एक क्रान्तिकारी तकनीक का आविष्कार किया।

विरल गैसों की खोज

अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा आकस्मिक रूप से एक अप्रत्याशित दिशा में बढ़ जाने का बहुत ही महत्त्वपूर्ण उदाहरण है वायुमण्डल में विरल गैसों की विद्यमानता की खोज। विज्ञान के किसी भी तर्क-संगत विवरण में इस खोज का वर्णन मात्रात्मक परीक्षणों और रासायनिक प्रक्रियाओं पर विचार के पश्चात् ही होना चाहिए। परन्तु चूंकि खोज के जिस विशेष प्रकार जिस पर हम विचार कर रहे हैं, उस पर यह खोज लागू होती है, इसलिए अतिसामान्य ढंग से इसका

वर्णन करके मैं यह अध्याय समाप्त करूँगा।

हमारी कहानी का आरम्भ एक भौतिकशास्त्री की कठिनाइयों से होता है और अन्त एक रासायनिक खोज से। एक भौतिकशास्त्री लार्ड रेले ने गैसीय तत्त्वों के सापेक्षिक घनत्व ठीक-ठीक मालूम करने में लगभग 12 वर्ष तक क्रियात्मक परीक्षण किए। यह विषय जितना बाह्य रूप से सरल दीखता है उससे कहीं अधिक कठिन है। रैले दस हजारवें हिस्से के भीतर शुद्ध परिणाम चाहता था—इसके लिए रासायनिक और भौतिक पूर्ण परीक्षणात्मक सावधानी की ज़रूरत थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस भौतिकशास्त्री को गैसीय तत्त्व के सापेक्षिक घनत्व को नापना क्यों महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ, यह एक अलग कहानी है। हमें अपने इस वर्तमान ध्येय के लिए केवल यही देखना है कि वे कौन-सी घटनाएँ थीं जिन्होंने रैले को इतना भारी श्रम करने के लिए प्रेरित किया। 1892 में, लार्ड रैले ने साप्ताहिक पत्र 'नेचर' में एक टिप्पणी में लिखा था कि, "मैं नाइट्रोजन के घनत्व के परिणामों से बहुत ही असमंजस में पड़ गया हूँ।" उसने लिखा कि "यदि रसायन में दिलचस्पी रखने वाला आपका कोई पाठक इसके कारण के सम्बन्ध में कोई सुझाव दे सके तो मैं कृतज्ञ हूँगा।"

आज वायु को नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और आरगन तथा कुछ अन्य वस्तुओं का मिश्रण माना जाता है। 1890 में यह विश्वास किया जाता था कि वायु केवल नाइट्रोजन और ऑक्सीजन का मिश्रण है—इसलिए रैले का ख्याल था कि वायु में से ऑक्सीजन निकालकर नाइट्रोजन को तैयार किया जा सकता है। पहेली थी : एक विशेष विधि से तैयार की गई नाइट्रोजन के किसी आयतन का भार उस नाइट्रोजन के समान आयतन के भार से अधिक था जो दूसरी विधियों से वायु में से ऑक्सीजन निकालकर तैयार की गई थी। यह अन्तर हजार भाग का केवल एक भाग ही था, परन्तु परिणाम हमेशा यही आता था। रैले ने अपनी भौतिक विधियों को इतना सुधारा था कि एक ही विधि से तैयार नाइट्रोजन के विभिन्न नमूनों में नाइट्रोजन के घनत्व में दस हजार भागों में केवल एक भाग का अन्तर था। दूसरे शब्दों में, प्रयोग की अनिश्चितता से दस गुनी अशुद्धि थी। प्रश्न था कि यह अशुद्धि क्यों है ?

यह प्रश्न उलझन में डालने वाला तो था, परन्तु इसे दरगुजर किया जा सकता था। परन्तु रैले ऐसा करने से सन्तुष्ट न था। उसने इस प्रेक्षण को और आगे बढ़ाया। दो वर्ष पश्चात् 'रायल सोसाइटी की कार्यवाही' में एक निबन्ध में उसने घोषणा की कि समस्या अभी जैसी की तैसी है तथा मामला और भी

विगड़ गया है। (मेरे एक परिचित अनुभवी परीक्षण कर्ता किसी समस्या के सम्बन्ध में कहा करते थे, 'कि मामला सुलभने से पहले और भी बिगड़ना आवश्यक है', और प्रायः उनका यह विचार सही होता था!) वायु से तैयार की गई नाइट्रोजन अपने किसी यौगिक (जैसे, अमोनिया) से तैयार की गई नाइट्रोजन से दो सौ भागों में एक भाग के बराबर भारी होती थी। पहले-पहल यह अन्तर (हजार में एक भाग) इतना कम क्यों था, कम से कम यह बात स्पष्ट हो गयी। वायु से आक्सीजन अलग करने की विधि में अमोनिया का प्रयोग होता था और कुछ नाइट्रोजन अमोनिया से निकलती थी, वायु से नहीं।

अब स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक गड़बड़ घोटाले की-सी थी। 19वीं शताब्दी का अन्तकाल था और प्रत्येक का विचार था कि हमको सामान्य तत्त्वों के विषय में सब कुछ और सामान्य वायु के सम्बन्ध में तो निस्सन्देह पूरा ज्ञान है। (समस्थानिकों का विचार तो अभी और अगले 20 वर्षो की बात थी)। और अभी भी दो विधियों से तैयार एक ही तत्त्व के नमूनों में, उनके घनत्व की जाँच से देखा जाए तो, दो तत्त्व विद्यमान थे। वास्तव में अप्रत्याशित घटना घट चुकी थी। एक अस्पष्ट सूत्र के सहारे रैले ने दिखा दिया था कि प्रत्येक रसायनज्ञ के सम्मुख एक वास्तविक और अब तक अकल्पनीय समस्या थी। इस स्थिति के बाद तो इस पहेली का उत्तर प्राप्त होना सिर्फ समय लगने की बात थी। उत्तर सीधा और सरल था: वायु में से ऑक्सीजन अलग करके तैयार की गई नाइट्रोजन विशुद्ध नाइट्रोजन नहीं होती; इसमें काफी मात्रा में अपेक्षाकृत भारी गैस आर्गन तथा अल्प मात्रा में अन्य विरल गैसों के अंश होते हैं। ऑक्सीजन को अलग करने की किसी भी विधि से ये तत्त्व पृथक् नहीं हो पाते थे।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रसायनज्ञों को सलज्ज स्वीकार करना पड़ा कि हम जिस वायु में साँस लेते हैं उसमें विद्यमान कम-से-कम 0·5 प्रतिशत एक गैस से वंचित रहे। यह एक व्यावसायिक सन्तोष की बात है कि रैले के साथ एक अन्य रसायनज्ञ सर विलियम रैम्जे इस खोज में सम्मान के भागी बने। पहले पृथक्-पृथक् और फिर एक साथ काम करते हुए इन दोनों रसायनज्ञों ने वायु से ऑक्सीजन और नाइट्रोजन दोनों को अलग करके वायु-मण्डल के भारी भाग—विशेषतः आर्गन—को पृथक् करने के प्रयत्न किए। रैम्जे ने एक विधि का प्रयोग किया जो नाइट्रोजन और मैगनेशियम के एक यौगिक के निर्माण पर आधारित था। यह बात कुछ दशकों पूर्व सम्भव न थी क्योंकि मैगनेशियम 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही उपलब्ध हो सका था। रैले

ने अपना ध्यान एक शताब्दी पूर्व के प्रेक्षण की ओर मोड़ा । 1780 में हेनरी कैवेण्डिश ने कहा था कि वह (आधुनिक शब्दावली में) नाइट्रोजन और ऑक्सीजन के मिश्रण में से विद्युत चिंगारी गुज़ार कर उन्हें मिलाने में समर्थ हो गया है। इस प्रकार निर्मित यह यौगिक पानी में घुल सकता था ; अतः उसके पास वायुमण्डलीय नाइट्रोजन के किसी नमूने की समांगीयता के परीक्षण की विधि थी (यह भी आधुनिक शब्दावली है) । उसने वस्तुतः यही परीक्षण किया और कहा कि यदि वायुमण्डल की नाइट्रोजन का कोई भाग शेष नाइट्रोजन से भिन्न है, "तो हम बड़े इतमीनान से कह सकते हैं कि वह कुल मिलाकर $\frac{1}{120}$ से अधिक नहीं हो सकता ।" कैवेण्डिश ने इस अंक का अनुमान नहीं लगाया था । वस्तुतः उसने अपनी विधि द्वारा इस बची हुई गैस को देखा और मापा था और यह छोटा बुलबुला, जो नाइट्रोजन का एक प्रतिशत रहा होगा, निस्सन्देह आर्गन था । फिर भी किसी ने इस बात का और अधिक विवेचन नहीं किया था और न अवशेष के स्वभाव और गुण जानने की कोशिश की । सैकड़ों रसायनज्ञों ने वर्षों तक कैवेण्डिश के इन शब्दों को पढ़ा होगा परन्तु वे सभी एक महान् खोज का अवसर चूक गए। सम्भवतः वे यह सोचते रहे कि वह छोटा बुलबुला कैवेण्डिश की विधि की असफलता का द्योतक है और कैवेण्डिश सम्पूर्ण नाइट्रोजन का प्रयोग करने में असफल रहा था ।

रैले ने कैवेण्डिश के परीक्षणों की पुनरावृत्ति की और इस प्रकार आर्गन को पृथक् किया । रैम्जे-विधि अथवा कैवेण्डिश-रैले-विधि द्वारा तैयार इस नवीन गैस में असाधारण गुण थे । इसकी तथा इसके साथ की अन्य विरल गैसों की विद्यमानता ने अनेक मौलिक बातों के सम्बन्ध में रसायनज्ञों का दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर दिया । संक्षेप में, यह खोज प्रथम श्रेणी के महत्त्व की थी, क्योंकि इसने परीक्षणात्मक और सैद्धान्तिक दोनों तरह की जाँच के और अनेक नए क्षेत्र खोल दिए । निश्चय ही कुछ क्षेत्र तो 25 अथवा 50 वर्ष पूर्व खोज के लिए तैयार न हो सकते थे । निश्चित रूप से दो उपकरण—विद्युत विसर्जन नलिका और स्पैक्ट्रोस्कोप—जो आर्गन तथा अन्य विरल गैसों का पता लगाने में बहुत ही अमूल्य सिद्ध हुए, 1810 में कैवेण्डिश के अवशिष्ट बुलबुले का अध्ययन करने के आकांक्षी परीक्षणकर्त्ताओं की सहायता के लिए उपस्थित न थे ।

इतने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह विज्ञान की अनावश्यक रूप से देर से हुई प्रगतियों में से है । एक आगामी अध्याय में मैं बताऊँगा कि कभी-कभी नये विचार अथवा नई परीक्षणात्मक प्रगति तभी मान्यता प्राप्त कर सकी जब 'उसका

समय आया'। एक प्रकार से कैवेण्डिश के प्रयोगों में अवशोषित न होने वाली नाइट्रोजन का $\frac{1}{120}$ भाग वाले वक्तव्य के लिए भी यह बात सच है। परन्तु इस बात का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि रसायन में क्रान्ति और विशेष रूप से परमाणु सिद्धान्त (1860) की स्वीकृति के बाद इतना समय आर्गन की खोज में क्यों लगा? भले ही अन्य विरल गैसों की खोज में और अधिक समय लगता तथा आर्गन तत्त्व है अथवा यौगिक—यह विवाद और अधिक लम्बा खिच जाता।

इस सम्बन्ध में दो पाद-टिप्पणियाँ इस अध्याय को समाप्त करने के लिए काफी हैं। डब्ल्यू० एफ० हिलब्राण्ड नामक एक अमरीकी रसायनज्ञ के पास आर्गन और हीलियम के मिश्रण का नमूना 1890 से पूर्व था, किन्तु वह अपनी उपलब्धि को पहचान न पाया। उसने यह पता लगा लिया था कि कुछ खनिज अम्ल जब क्षार के सम्पर्क में आते हैं तो उनमें एक गैस निकलती है। इसे उसने नाइट्रोजन कहा। रैम्जे का ध्यान इस लेख की ओर गया। उसने हिलब्राण्ड के कार्य की पुनरावृत्ति की और यह जाना कि वह गैस नाइट्रोजन नहीं, वरन् आर्गन और हीलियम का मिश्रण थी। हीलियम ने विद्युत-विसर्जन नली में एक लाक्षणिक वर्णक्रम पैदा किया। यह वर्णक्रम सूर्य के लाक्षणिक वर्णक्रम के समान था। इसलिए इसे एक ऐसे तत्त्व का वर्णक्रम माना गया। अभी तक इस धरती पर ज्ञान नहीं था। हिलब्राण्ड ने अपनी गैस के बारे में और अच्छी तरह खोज-बीन क्यों नहीं की, यह एक दिलचस्प प्रश्न है। रैम्जे के कार्य के पश्चात् अपनी असफलता के विषय में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि, "जिन स्थितियों और हालात में मैंने कार्य किया है वे मेरे अनुकूल न थीं। रसायन सम्बन्धी अनुसंधान के कार्यों में बहुत समय लग गया था, अपने दूसरे नियमित कार्य से इसके लिए और अधिक समय निकालना उचित न प्रतीत हुआ। मैं इस प्रकार के वर्ण-क्रमदर्शी (स्पैक्ट्रोस्कोपिक) कार्य के लिए नौसिखिया ही था।......निस्सन्देह यह बात आपकी समझ से बाहर की दीखती है कि क्लीवाइट से प्राप्त गैसों के तेज आर्गन तथा अन्य गैसों की रेखाएँ मेरे अवलोकन से रह गईं। वे अवलोकन में रह नहीं गईं। मैंने और डा० हैलॉक दोनों ने एक-दो अवसरों पर अनेक चमकदार रेखाएँ देखीं। कुछ को ज्ञात-तत्त्वों—यथा पारद, अथवा गंधकाम्ल से प्राप्त गंधक आदि की रेखाएँ माना जा सकता है, परन्तु उनमें कुछ अन्य भी थीं जिन्हें मैं किन्हीं ज्ञात तत्त्वों की रेखा के रूप में पहचान न सका। सुविदित है कि नलिका में निर्वात की मात्रा की परिवर्तित परिस्थितियों में कुछ वस्तुओं के

वर्णक्रम परिवर्तित हो जाते हैं। इन चमकदार रेखाओं का भी मैंने यही कारण बताया। हमारे एक सहयोगी ने संदेहजनक गंभीरतापूर्वक यह सुझाया कि ये रेखाएँ किसी नए तत्त्व की तो नहीं हैं, लेकिन हमने इस सुझाव को भी अमान्य ठहराया।"

अन्दाज लगाया जा सकता है कि किसी सरकारी रसायनज्ञ के लिए, जिसका उस समय की व्यावहारिक आवश्यकता को पूरा करने की ओर अधिक ध्यान है, विज्ञान सम्बन्धी किसी नयी बात को आगे बढ़ाना अपेक्षाकृत कम महत्त्व का होता है। यदि यह बात सही है तो विरल गैसों की कहानी का यह दौर इसी सम्मति की पुनः याद दिलाता है कि किसी आकस्मिक खोज को आगे बढ़ाने के लिए "तैयार मस्तिष्कों" (पास्च्युर के शब्दों में) पर लोगों का बहुत असर पड़ता है।

दूसरी टिप्पणी है रैले के श्रमसाध्य मात्रात्मक परीक्षण से निकाली गई सदोष व्याख्या की संभावना। पाठक के लिए यह एक और बेहद मामूली बात हो सकती है परन्तु सम्बन्धित भ्रान्ति काफी व्यापक है, अतः यह प्रश्न विचारणीय है। वस्तुतः रैम्जे के जीवनी लेखक ने आर्गन की खोज की कहानी आरम्भ करते हुए लार्ड केलविन का उद्धरण देकर एक दृष्टिकोण को पुष्ट किया है, जिसे मैं ग़लत मानता हूँ। लार्ड केलविन का उद्धरण है :

"सामान्य व्यक्तियों के लिए सही और सूक्ष्म माप का कार्य कुछ नई चीज़ खोजने से कम ऊँचा और कम गरिमा का काम है। परन्तु विज्ञान की प्रायः सभी महानतम खोजें, सही माप और गणित के द्वारा, अत्यधिक श्रम करके, परिणाम निकालने की प्रतिफल हैं।"

यह सत्य है कि 'गणित के द्वारा परिणाम निकालने से' ही लार्ड रैले आर्गन की खोज की ओर प्रेरित हो सका। परन्तु इससे लार्ड केलविन की घोषणा की यथार्थता सिद्ध नहीं होती, इससे केवल यह सिद्ध होता है कि आकस्मिक प्रेक्षण के और अधिक अध्ययन का उद्गम श्रमसाध्य मापों में है। परन्तु इससे यह कहना कि माप को एक और दाशमिक बिन्दु की सूक्ष्मता तक पहुँचा देना लाभप्रद होगा, बिलकुल बेतुका है। किस स्थान पर पहुँचकर वैज्ञानिक परिणामों को इकट्ठा करना, टिकट इकट्ठे करने के शौक की तरह हो जाता है, विवादास्पद है। व्यवस्थित ज्ञान में कमी को पूरा करना तर्कसंगत मालूम देता है; इतना ही नहीं सम्मानपूर्ण विज्ञान सम्बन्धी श्रम भी यही है। जहाँ तक क्रमबद्ध योजना में वास्तविक कमियाँ हैं। उन्हें पूरा करने में निश्चय ही सावधानीपूर्वक प्रेक्षण आवश्यक हैं। वैसे यों कोई चाहे तो तत्त्वों और यौगिकों के माप और घनत्व, विद्युत

सम्बन्धी क्रियाशीलता, पानी में घुलनशीलता तथा इसी प्रकार अन्य भौतिक गुणों का अन्तहीन सूक्ष्म विवेचन कर सकता है। यदि व्यावहारिक उद्देश्य से यह काम किया जाए तो ठीक है—अच्छा है, परन्तु यदि किसी धारणा की जाँच के लिए यह काम किए जाएँ तो यह वैज्ञानिक जुए से अधिक कुछ नहीं। सही माप और गणित के द्वारा परिणाम निकालने का श्रमसाध्य काम, कोई शोध-कार्य करने वाला व्यक्ति केवल इस काम से प्राप्त सन्तुष्टि के लिए कर सकता है। परन्तु उस अवस्था में उसे जनता से टिकट इकट्ठे करने वाले की अपेक्षा अधिक समर्थन प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।

परन्तु उपरोक्त बात का ध्येय मात्रात्मक परीक्षणों का हल्कापन सिद्ध करना नहीं। सही माप के बिना भौतिकी और रसायन का विकास ही संभव न था। परन्तु इन मापों का महत्त्व नई धारणाओं अथवा धारणा-पद्धतियों के साथ उनके सम्बन्ध में है, और सबसे अधिक उस विधि में है जिससे तर्कसंगत प्रक्रिया द्वारा गणितीय परिणाम प्राप्त हों। आगामी अध्याय में हम विज्ञान में माप के उपकरणों की आधारभूत भूमिका और मात्रात्मक परिणामों के गणित सम्बन्धी सिद्धान्तों में परिवर्तित करने के महत्त्व के सम्बन्ध में कुछ उदाहरण देंगे।

रेखागणितीय तर्क और मात्रात्मक सम्परीक्षण

मैं एक बार पाठकों को फिर अपने साथ सत्रहवीं शताब्दी और वायविकी के अध्ययन की ओर ले चलता हूँ। पाठकों को स्मरण होगा कि टोरिसेली की योजना से कुछ अनुमान निकले, जिनकी जाँच परीक्षणों द्वारा सम्भव थी। परिणामों से अनुमानों की पुष्टि हुई। लोग उत्तरोत्तर वायु के समुद्र की धारणा को यथार्थ मानने लगे। निश्चित रूप से ये परीक्षण गुणात्मक थे। अर्थात् सही माप की आवश्यकता नहीं थी और न प्राप्त संख्यात्मक मूल्यों के गणितीय हिसाव की आवश्यकता समझी गई। इस विकास की गुणात्मक प्रकृति एक ऐसा गुण है जिसके कारण वायविकी के इतिहास को आसानी से समझा जा सकता है। कारण, बहुत से पाठक, जो वैज्ञानिक नहीं हैं, यह संकेत पाते ही घबराकर पुस्तक बन्द कर देते हैं कि अब बीजगणित का इस्तेमाल शुरू होने वाला है। इतने पर भी अन्य लोगों को इस स्थान पर वैज्ञानिक विधियों का विवेचन करना असंगत मालूम पड़ेगा।

निस्संदेह गुणात्मक परीक्षण भौतिक विज्ञानों की उन्नति में अनेक बार सर्वतोमुखी महत्त्व के रहे हैं। जीव विज्ञान में तो कुछ समय पूर्व तक परीक्षण का केवल यही एक तरीका था। इसलिए यदि ऐसे प्रयोगों का अध्ययन किया जाए जिनमें न तो सूक्ष्म मापों की आवश्यकता है और न जटिल गणितीय विचारों का प्राधान्य तो हमें प्रायोगिक विज्ञान का काफी ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। इतने पर भी यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि खगोल, भौतिकी और रसायन का निर्माण संवेदी उपकरणों द्वारा ली गई सावधानीपूर्ण मापों पर ही हुआ है। इसके अतिरिक्त इन मापों का महत्त्व गणितीय धारणाओं के साथ इनके सम्बन्ध पर आधारित है, जिनके प्रयोग में विशुद्ध विचार के क्षेत्र में नये आविष्कारों का हाथ है। इसलिए विज्ञान को समझने के लिए आवश्यक है कि माप के उपकरणों और उनके विकास के महत्त्व का भी पता होना चाहिए; इसी तरह यह भी थोड़ा-बहुत मालूम होना चाहिए कि अनुसंधानशाला के प्रेक्षणों से गणितीय विषयों का परस्पर सम्बन्ध क्या है। अतः इस अध्याय में **मात्रात्मक सम्परीक्षणों** और गणित के उपयोग का विवेचन किया गया है। यदि कुछ पृष्ठ पढ़ने के उपरान्त

पाठक कुछ कठिनाई अनुभव करें तो बेहतर होगा कि वह अगला अध्याय पढ़ना आरम्भ कर दें। वे एक बार फिर अनिवार्यतः गुणात्मक क्षेत्र में पहुँच जाएँगे, लेकिन उन्हें इस बात का एहसास रहना चाहिए कि जो कुछ उन्होंने नहीं पढ़ा वह महत्त्वपूर्ण था।

आगे के पृष्ठों में दिये गए प्रारम्भिक विचारों और गणित के लिए क्षमा-याचना की आवश्यकता मैं नहीं समझता, किन्तु किसी भी पाठक को यह नहीं सोचना चाहिए कि चुने गए उदाहरण 17वीं शताब्दी के विज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं कि 17वीं शताब्दी गैलीलियो और न्यूटन की थी—इस शताब्दी का आरम्भ हुआ गैलीलियो के गिरने वाली चीजों के अध्ययन से और समाप्ति हुई न्यूटन की यांत्रिकी तथा केलक्यूलस के आविष्कार से। सैद्धान्तिक भौतिकी के विकास में गणित योग को अच्छी तरह समझने के लिए इन दोनों महान् वैज्ञानिकों के कार्य का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। परन्तु सम्बन्धित विचार इतने कठिन हैं कि इस पुस्तक में उनका विवेचन सम्भव नहीं, क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य वैज्ञानिक विधियों का आरम्भिक विवेचन प्रस्तुत करना है। गत्यात्मक वस्तुओं की समस्याओं (गतिकी) पर विचार करने से साधारण व्यक्ति यह तो नहीं समझ सकेगा कि विज्ञान की प्रगति में माप और गणित का महत्त्व क्या है, वरन् उलटे भ्रम में अवश्य पड़ जाएगा। न्यूटन के नाम से सम्बन्धित भौतिकी के विभागों की प्रारम्भिक बातों को ही जानने के लिए गम्भीर अध्ययन, जिसमें साँख्यिक समस्याओं का समाधान भी शामिल है, आवश्यक है।

बौद्धिक इतिहास की सारी समझ को नष्ट न करने के लिए आवश्यक है कि वायविकी के परीक्षणों को, मध्य युग के अरस्तूवादी दृष्टिकोण से 18वीं शताब्दी के न्यूटनवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन की पृष्ठभूमि में रखना होगा। (इस सम्बन्ध में हर्बर्ट बटरफील्ड की 'द ओरिजिन्स आफ़ मॉडर्न साइन्स' नामक पुस्तक उपयुक्त रहेगी।) यह स्मरणीय है कि वायविकी का विकास गैलीलियो और न्यूटन के बीच के समय में हुआ था, जब गणित के ऐसे विचार जन्म ले रहे थे, जो इस पुस्तक में प्रस्तुत विचारों से कहीं अधिक जटिल थे। अरस्तू का विश्ववादी दृष्टिकोण अभी विद्यमान था परन्तु उसमें बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा था। कोपरनिकस ने अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की थी कि विश्व का केन्द्र सूर्य है और खगोलज्ञ सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में सावधानी से लिये गए प्रेक्षणों के साँख्यिक आँकड़ों द्वारा इसी परिकल्पना को पुष्ट कर रहे

थे। खगोलज्ञ बहुत पहले से माप के उपकरणों में सुधार के लिए यत्नशील थे। भौतिक प्रक्रियाओं के विवेचन में गणित लाभप्रद है, यह सिद्ध किया जा चुका था। गैलीलियो का योगदान इस दिशा में महत्त्वपूर्ण था। मध्य युग का तर्क और गणित, अर्थात् निगमनीय तर्क प्रवाह, बहुत शीघ्रता से सम्परीक्षण कला में मिश्रित हो रहा था। मात्रात्मक सम्परीक्षण अपनी शक्ति उजागर कर रहे थे।

भौतिक क्रियाकलापों में किस प्रकार रेखागणितीय अथवा निगमनीय तर्क को लागू किया जाता है, इसका उदाहरण है यांत्रिकी की एक शाखा जलस्थैतिकी का इतिहास। चूँकि इस विषय का वायविकी से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः यह मात्रात्मक सम्परीक्षणों की सुविधाजनक पूर्वपीठिका का काम देती है। नलों और हौज़ों में पानी के व्यवहार को सभ्यता के उदय काल से ही देखा और समझने का प्रयत्न किया जाता रहा होगा, परन्तु हमें अपने मतलब के लिए तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में रहने वाले आर्किमिदीज़ से अधिक पूर्व जाने की आवश्यकता नहीं। सिराक्यूज़ के पतन के समय एक रोमन सिपाही के हाथों उसकी मृत्यु की कहानी इतनी प्रसिद्ध है कि वैज्ञानिक का परिचय इसी कहानी से हो जाता है। इसी प्रकार पहले वायु में और फिर पानी में तोलकर सोने के मुकुट के खरे-खोटे होने की जाँच की उसकी कहानी से भी सभी परिचित हैं। 'यूरेका' ('मैंने पा लिया') शब्द और स्नान के टब के उच्चारण-मात्र से ही कम-से-कम इस प्रसिद्ध कथा की धूमिल स्मृति मानस-पटल पर उभर आती है। भौतिक साधनों द्वारा मूल्यवान् धातुओं की जाँच का सिद्धान्त, जो पहले-पहले आर्किमिदीज द्वारा ही लागू किया समझा जाता है, के कारण उसका नाम फैला है। किन्तु यह नियम उसके द्रव और द्रवों के दबाव सम्बंन्धी परस्पर सम्बद्ध विचारों में से एक था। उसकी कृतियों द्वारा उसके विचारों का पता आगामी पीढ़ियों को लग सका था। पश्चिमी संसार को आर्किमिदीज़ के सिद्धान्तों का पता 16वीं शताब्दी में लगा। तब स्थिर द्रवों के व्यवहार का और अधिक विवेचन किया जाने लगा। इस विज्ञान का नाम है जलस्थैतिकी।

जलस्थैतिकी के नियमों का काफी महत्त्व है, क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि विज्ञान की जाँच की एक दिशा में आरम्भ से आज तक उन्नति कैसे हुई? 16वीं और 17वीं शताब्दी की जलस्थैतिकी की पुस्तकें, जिनमें आर्किमिडीज़ के नियमों का परिवर्द्धन और विवेचन किया गया, रेखागणित की पाठ्य-पुस्तकों के समान प्रतीत होती हैं। उदाहरणतः इस विषय पर ब्रगेस के स्टेविन की कृतियों (1600 के लगभग प्रकाशित) तथा पैस्कल की कृतियों

(लगभग 1650 में लिखित और 1663 में प्रकाशित) में वास्तविक सम्परीक्षण करने का बहुत कम विवरण है अथवा विवरण है ही नहीं। मान्यताओं के निगमनीय तर्कों द्वारा ही इन आरम्भिक भौतिकशास्त्रियों ने आर्किमिदीज़ के विचारों को और आगे बढ़ाया। ऐसा करके वे तर्कपूर्ण विचारों का ही अनुसरण कर रहे थे जिन्हें यूक्लिड ने शताब्दियों पूर्व स्थापित किया था। उनकी कार्य-विधि का स्थान कौशलपूर्ण सम्परीक्षण नहीं वरन् नियमबद्ध विश्लेषण और सावधान तर्क थे।

आज भी कुछ तार्किक कहते हैं कि यदि आर्किमिदीज़ (या अन्य कोई) स्वर्ण की जाँच के अपने मूल सिद्धान्तों को परीक्षण द्वारा पुष्ट करने का प्रयत्न करता तो यह समय का भारी अपव्यय ही होता। सामान्य रेखागणित की तरह जलस्थैतिकी के सिद्धान्त भी कुछ मान्यताओं से तर्कसंगति द्वारा अपने आप निकलते चले जाते हैं। कम-से-कम स्टेविन, पैस्कल और मध्य-बीसवीं शताब्दी के कुछ लेखक ऐसा ही दावा करते हैं। उनका यह दावा पूरी तरह सही है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। मैं भी इसका उत्तर आगामी कुछ पृष्ठों बाद ही दूँगा जब तक यह स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तुतः समस्या कहाँ स्थित है।

महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में भौतिकी के विकास में तर्क का रेखागणितीय ढंग भौतिक प्रक्रियाओं के विवेचन में अपना लिया गया था। इस तरह का निगमनीय तर्क वास्तविक परीक्षण पर अधिक जोर नहीं देता, परन्तु प्रदर्शनों पर अधिक जोर देता है, जो व्यावहारिक रूप से सिद्ध हो सकते हैं किन्तु यदि होते हैं तो बहुत कम। पैस्कल के जलस्थैतिकी और वायविकी की कृति के सम्बन्ध में यह बताना असम्भव है कि उसमें वर्णित प्रयोगों में से कभी पहले कोई वस्तुतः किए भी गए थे।

पैस्कल और बॉयल का अन्तर स्पष्ट है। बॉयल चतुर प्रयोगकर्त्ता, श्रम-साधक प्रेक्षक और प्रत्येक विवरण का अथक लिपिबद्धकर्त्ता था। उसने वैज्ञानिक सम्परीक्षण करने की परम्परा को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उसके बौद्धिक पूर्वज वे शिल्पकार थे जिन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी धातु निर्माण जैसी कला की उन्नति के लिए सफल परीक्षण किए। पैस्कल गणितज्ञ और तार्किक था—यूनानी गणितज्ञों का आध्यात्मिक वंशज। वह तर्क के किसी महत्त्वपूर्ण मुद्दे की जाँच के लिए वास्तविक प्रयोग की आवश्यकता मानता था ('पाई-डी-डोम' अभियान इसी कारण हुआ), परन्तु उसकी तर्क पद्धति में तर्क और सम्भव

प्रयोग का ही स्थान था, तथा वास्तविक प्रेक्षण का बहुत ही कम अथवा कोई महत्त्व न था। विवेचन में सर्वत्र सम्भव प्रयोगों—कुछ लोग कहेंगे कागजी परीक्षणों—का उपयोग किया गया है। पैस्कल अपनी कृतियों में आधुनिक भौतिकी के ताने-बाने के एक क्रमिक सूत्र का प्रतिनिधित्व करता है। वह सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्रियों के अग्रदूतों में से है। बॉयल सभी प्रयोगों-परीक्षणों का आरम्भकर्त्ता माना जा सकता है। आधुनिक काल के सैद्धान्तिक परम्परा के प्रतिनिधियों में केवल मैक्सवेल और आइन्स्टीन के नाम लिए जा सकते हैं तथा प्रायोगिक परम्परा में फैराडे और लार्ड रदरफोर्ड के नाम। परन्तु कुछ महान् वैज्ञानिक ऐसे हैं, जैसे गैलीलियो और न्यूटन, जिनमें दोनों परम्पराओं का मिश्रण है।

शताब्दियों से प्रयोगवादी और सिद्धान्तवादी एक-दूसरे के सहयोगी रहे हैं और एक का कार्य दूसरे का पूरक रहा है। फिर भी कभी-कभी एक दूसरे के प्रति रोष भी प्रकट किया गया है। इसका एक बहुत प्राचीन उदाहरण है—पैस्कल के कुछ तथाकथित परीक्षणों के विषय में बॉयल के विचार। बॉयल ने कहा था कि फ्रेंच गणितज्ञ यह नहीं बताता कि उसने वास्तव में प्रयोग करने का कोई यत्न भी किया या नहीं। "उसने सम्भवत: उनके विषय में इस विश्वास
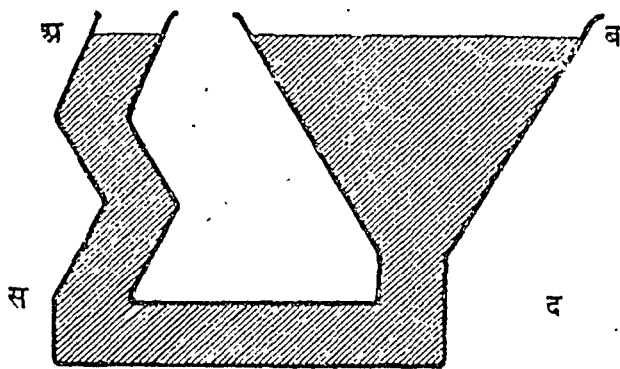
चित्र 17—दो बर्तनों का चित्र, जो एक नली द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यदि एक बर्तन में पानी डाला जाए, तो पानी का तल दोनों बर्तनों में तुरन्त समान हो जाता है।

पर लिखा कि उसके तर्कों में कोई गलती नहीं थी।" बॉयल ने आगे उसकी खिल्ली इसलिए उड़ाई है कि उसने परीक्षणों का काफी ब्यौरा—यदि वे कभी

किये गए थे—नहीं दिया जिससे कोई उनकी पुनरावृत्ति कर सके। बॉयल लिखता है कि पैस्कल ने उदाहरण के रूप में कुछ बातें ऐसी लिखी हैं कि जिन पर विश्वास नहीं होता। उसने पैस्कल के एक प्रयोग का हवाला दिया है जिसमें एक व्यक्ति 20 फुट गहरे पानी में बैठा है और उसकी जाँघ पर रखी एक नली पानी की सतह से कुछ ऊपर तक पहुँचती है। बॉयल कहता है कि पैस्कल ने हमें यह नहीं बताया कि "एक हौज में 20 फुट गहरे पानी के नीचे कोई व्यक्ति जीवित कैसे रह पाएगा ?"

जलस्थैतिकी के सिद्धान्त : परिभाषा द्वारा सत्य की प्राप्ति

भौतिकी में सैद्धान्तिक परम्परा के इस सामान्य परिचय को ध्यान में रखते हुए हम जलस्थैतिकी की कुछ खास समस्याओं की जाँच कर सकते हैं। सबसे पहले हम उस प्रक्रिया का स्मरण करते हैं जिसे, 'पानी अपनी सतह स्वयं निर्धारित करता है' के मुहावरे से व्यक्त किया जाता रहा है। चित्र 17 से पाठक को यह स्मरण हो जाएगा कि किसी भी आकार के दो बर्तन यदि आपस
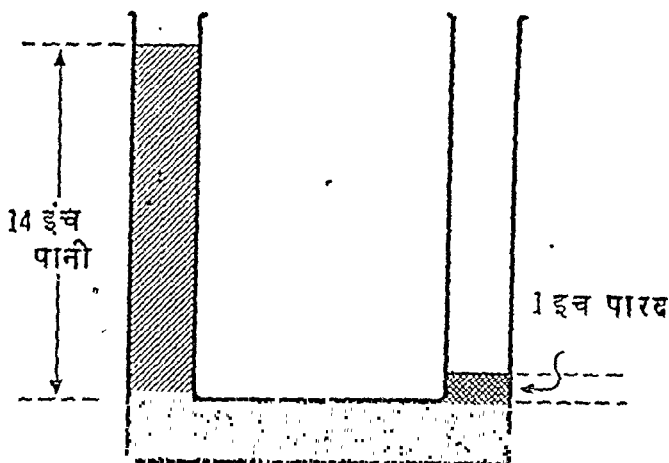
चित्र 18—दो उर्ध्व नलियों का चित्र जिनके पेंदे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक में पारद है और दूसरे में पानी।

में जुड़े हुए हों और उनमें से एक में पानी डाला जाए तो दोनों बर्तनों में पानी की सतह समान हो जाएगी स्पष्ट रूप से पानी की दोनों ऊँचाइयाँ (अ स और ब द) एक दूसरे का सन्तुलन करती हैं—यद्यपि दोनों ओर के पानी की कुल

मात्रा में बहुत अन्तर है। यदि पानी जल्दी-जल्दी डाला जाएगा तो पहले-पहल दोनों स्तर ऊपर-नीचे हिलेंगे—परन्तु जल के दोलन के समाप्त होते ही दोनों का स्तर समान हो जाएगा और हम कहेंगे कि 'सन्तुलन स्थापित हो गया है'। यहीं पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सन्तुलन की धारणा का विज्ञान में बहुत महत्त्व है। जलस्थैतिकी के सिद्धान्त सन्तुलन की अवस्थाओं में ही, अर्थात् इस उदाहरण में बताई गई परिस्थिति में, लागू होते हैं। साम्यावस्था में हम पाते हैं कि 14 इंच ऊँचा पानी का स्तम्भ पारद के एक इंच ऊँचे स्तम्भ को ही सन्तुलित करेगा, (चित्र 18); यह सही भी है क्योंकि पारद जल से 14 गुणा भारी है।

पिछले अनुच्छेद में वर्णित प्रक्रियाओं के प्रेक्षणों को नियमबद्ध करने में दबाव की धारणा अत्यन्त सुविधाजनक सिद्ध हुई है। इस धारणा का मूल प्रतिदिन के अनुभव में है। यदि कनस्तर की तली के छेद में कार्क अथवा उंगली लगाकर द्रव के बहाव को रोकने का प्रयत्न किया जाए तो उसका बल स्पष्ट मालूम देगा। यह बल बर्तन में रखे द्रव के भार के कारण है और सिद्ध किया जा सकता है कि यह द्रव की गहराई, उसके घनत्व और सूराख के आकार पर निर्भर करता है। यदि हम द्रव से भरे एक बर्तन के पेंदे में दो बड़े-छोटे सूराख करें, तो बड़े सूराख पर बल अधिक होगा। परन्तु बलों पर सूराख के क्षेत्रफलों से भाग देने पर भजनफल समान होगा। प्रति इकाई क्षेत्र पर पड़ने
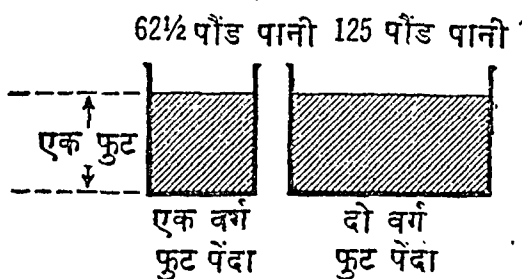
चित्र 19—पानी से भरे दो बर्तनों का चित्र। यद्यपि प्रत्येक बर्तन के पेंदे पर लगे कुल बल की मात्रा अलग-अलग है, तथापि पेंदे पर पड़ने वाली दाब दोनों बर्तनों में समान है।

वाले बल को 'दाब' कहते हैं और यह दाब द्रव के घनत्व पर और इस बात पर आधारित है कि सूराख द्रव की सतह से कितने नीचे है। इस प्रकार द्रव का बल

सूराख के आकार पर आश्रित है, किन्तु दाब कनस्तर के पेंदे में एक-सा होगा।

मान लीजिये, हमारे पास एक और दो वर्ग फुट क्षेत्रफलों की पेंदी वाले दो कनस्तर हैं और उन दोनों में एक-एक फुट ऊँचा पानी भरा गया है। (चित्र 19)। हम जानते हैं कि प्रति घनफुट पानी का भार लगभग 62½ पौण्ड होता है; इसलिए एक बर्तन में 62½ पौण्ड और दूसरे में 125 पौण्ड पानी है। सीधी दीवारों वाले ऐसे बर्तनों के पेंदे पर पड़ने वाला बल उसमें भरे पानी के भार के बराबर होगा। परन्तु पेंदे पर पड़ने वाला दाब कुल बल को पेंदे के क्षेत्रफल से विभाजित करने पर मालूम होता है। दोनों ही बर्तनों में यह 62½ पौण्ड प्रति वर्ग फुट ही होगा। एक महत्त्वपूर्ण सामान्य सिद्धान्त यह है कि एक फुट पानी का भार सदा ही 62½ पौण्ड प्रति वर्ग फुट होगा—भले ही किसी भी शक्ल के बर्तन में कितना ही पानी क्यों न हो। इस प्रकार दाब को पानी की गहराई से निश्चित किया जा सकता है। 34 फुट पानी का दाब $=34 \times 62\frac{1}{2}$ अथवा 2125 पौण्ड प्रति वर्ग फुट होगा।

इसी प्रकार हम एक और द्रव का भी प्रयोग कर सकते हैं। पारे का भार बराबर आयतन के पानी के भार से 14 गुणा होता है अतः पानी की 34 फुट ऊँचाई के बराबर $34 \times 1/14$ अर्थात् 30 इंच पारे की ऊँचाई है। चित्र 17 में पानी की दो ऊँचाइयाँ एक-दूसरे को सन्तुलित कर रही हैं क्योंकि दोनों बर्तनों के पेंदे में दाब बराबर है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पानी का कोई स्तम्भ अपने से 1/14 ऊँचाई के पारद स्तम्भ से सन्तुलित हो जाए (चित्र 18)।

द्रव की दाब को नापने का एक और तरीका चित्र 20 में दिखाया गया है। इसमें एक उपकरण का अनुप्रस्थ क्षेत्र दिखाया गया है। A और B भली प्रकार एक दूसरे में फिट होने वाले पिस्टन हैं—परन्तु उनमें खूब ग्रीज़ लगी है ताकि वे आसानी से आगे-पीछे चल सकें। सी और डी खुले मुँह की नलियाँ हैं। नली सी में पानी है और डी में द्रव पारद। यदि यह सारी प्रणाली संतुलित हो तो 100 वर्ग इंच के क्षेत्र के पिस्टन पर 100 पौण्ड का भार 10 इंच के क्षेत्र के पिस्टन पर 10 पौण्ड के भार को संतुलित रखेगा। (यदि पाठक को अचरज हो कि 100 पौण्ड का भार 10 पौण्ड के भार को कैसे सन्तुलित कर सकता है, तो उसे यह जानकर कुछ सन्तोप हो जाएगा कि इसे बहुत पहले से जलस्थैतिक विरोधाभास कहा जाता है।) दोनों ही बार दाब एक पौण्ड प्रति वर्ग इंच है। और जैसा चित्र में दिखाया गया है कि 28 इंच ऊँचा पानी का स्तम्भ और 2

इंच ऊँचा पारे का स्तम्भ इतनी ही दाव पैदा करेंगे। पौण्ड प्रति वर्ग इंच, पानी के इंच अथवा पारद के इंच, द्रव के दाव को नापने के पैमाने मात्र हैं।
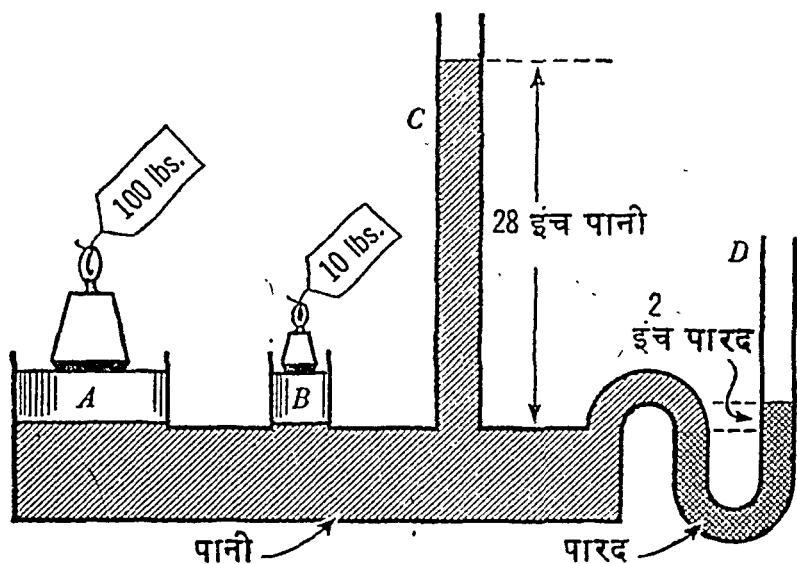
चित्र 20—दाव सूचित करने के विभिन्न ढंगों को दिखाने वाला यंत्र। पिस्टन A का क्षेत्रफल 100 वर्ग इंच और पिस्टन B का 10 वर्ग इंच है। अतः दाव प्रत्येक दशा में 1 पौण्ड प्रति वर्ग इंच है। यह लगभग 28 इंच पानी तथा 2 इंच पारद के तुल्य है।

वायविकी सम्बन्धी विमर्श में हमने यह मान लिया था कि पाठकों को द्रव के दाव और सन्तुलन स्थापित करने वाले द्रवीय स्तम्भों के बारे में कुछ-न-कुछ ज्ञान है। स्पष्ट है कि जलस्थैतिकी के नियमों के विकास के बिना टोरिंसेली की वायु के समुद्र सम्बन्धी कल्पनाएँ सम्भव ही न थीं। वास्तव में, उसने केवल इतना किया कि द्रव स्तम्भों के परस्पर सन्तुलित करने की धारणा को एक अन्य तरल वायु में लागू किया। जिस प्रकार पानी का दाव पानी के स्तम्भ की ऊँचाई से मालूम किया जा सकता है उसी प्रकार वायु का दाब वायु के स्तम्भ की ऊँचाई से व्यक्त किया जा सकता है।

इस स्थान पर विचारणीय है कि साम्यावस्था में यन्त्रों का अध्ययन करने वाली यांत्रिकी की शाखा जलस्थैतिकी का विकास परीक्षणात्मक विज्ञान के रूप में नहीं हुआ। प्रेक्षित प्रक्रियाएँ अवश्य थीं, किन्तु या तो किसी सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए (पैस्कल का पाई-डी-डोम परीक्षण) अथवा व्यावहारिक

ज्ञान के आँकड़ों के रूप में। जिस तरह के तर्क प्रयुक्त होते थे उनका उदाहरण है हमेशा दिया जाने वाला यह तर्क कि निरन्तर गति असम्भव है। यह स्टेविन का प्रिय तर्क था। इस प्रकार अपनी 'फोर्थ बुक ऑफ़ स्टैटिक्स' में प्रथम प्रमेय पर प्रकाश डालते हुए स्टेविन अनिवार्यतः यों तर्क देता है : वर्तन के पानी का कोई भाग 'उसी स्थिति में रहता है जिसमें उसे रखना होता है' अन्यथा पानी निरन्तर गतिशील रहेगा और यह एक बेहूदा बात है। इस प्रकार के तर्क से पुष्ट करने के बाद इस प्रमेय का उपयोग अन्य धारणाओं के आधार के रूप में किया जाता था।

निरन्तर गति की असम्भाव्यता की धारणा का उपयोग किस प्रकार किया जाता था इसके लिए हमें जलस्थैतिकी के क्षेत्र के एक अत्यधिक आधुनिक उपयोग की जाँच करनी चाहिए। आइए हम देखें कि इस तरह के तर्क के उपयोग से यह नियम किस तरह प्रतिपादित होता है कि द्रव की सतह के नीचे सभी दिशाओं में दाब एक-सा रहता है। कल्पना कीजिए कि द्रव की
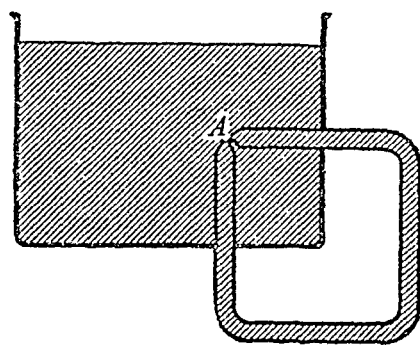
चित्र 21—द्रव से भरे एक बर्तन का चित्र। बिन्दु A से एक नली ऊर्ध्वाधरतः पेंदे में होकर जाती है, मुड़कर एक पक्ष से वही वापस क्षैतिज रूप से मिलती है।

सतह के नीचे एक बिन्दु A है (चित्र 21)। यह भी कल्पना कीजिए कि दो पतली नलियाँ चित्र में दिखाए तरीके के अनुसार घुसेड़ी गई हैं—उनमें एक उर्ध्व है और दूसरी क्षैतिज, दोनों में द्रव भरा है और चित्र में दिखाए अनुसार वे आपस में जुड़ी हैं। यदि दाईं ओर दाब नीचे के दाब से कम अथवा अधिक है तो द्रव सारी नली में घूमेगा। परन्तु यह तो द्रव की निरन्तर गति होगी जो हम असम्भव मानते हैं ; अतः नीचे और दाईं ओर के दाब समान होने चाहिएँ।

(नलियाँ किसी भी प्रकार रखी जाएँ, हर दशा में यही तर्क लागू होगा।)

इस उदाहरण को बहुत सरल करके आधुनिक भाषा में वर्णित किया गया है, फिर भी यान्त्रिकी की समस्याओं के प्राचीन खोजी जिस प्रकार निगमनीय तर्कों का सहारा लेते थे उन्हें नहीं बिगाड़ा गया है। तर्क के इसी तरीके के प्रयोग से आर्किमिदीज़ के सिद्धान्त को भी सिद्ध किया जा सकता है कि 'द्रव में तोले जाने पर किसी ठोस पदार्थ के भार में उसी आयतन के बराबर द्रव के भार के बराबर कमी हो जाती है।' यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि ये तर्क आदर्श द्रवों पर ही लागू होते हैं। आदर्श द्रव उन परिस्थितियों में द्रव हैं जिनमें तर्क के लिए आवश्यक मान्यताएँ सही उतरें। स्पष्टतः इनमें से एक है दाब में अन्तर होते ही द्रव की गति। दूसरी है प्रति इकाई आयतन तन्मात्रा (घनत्व) में अन्तर न पड़ना। आइए, हम पहली मान्यता पर पहले विचार करें। यदि चित्र 17 के दो बाँहों वाले उपकरण में पानी की बजाय बालू डाली जाए तो स्पष्ट है कि दोनों ओर असमान ऊँचाइयाँ होंगी। हम कहेंगे कि बालू 'अटक' गई है और शायद सारी आयु भर सन्तुलित न हो सकेगी। इसी तरह ठण्डा राब भी काफी समय तक इसी तरह के भ्रान्त परिणाम देगा। दोनों ही बार जलस्थैतिकी साम्यावस्था में प्रणाली के लिए आवश्यक परीक्षण ठीक नहीं उतरेंगे। किसी क्षेत्र पर दाब बदलने से (और अधिक बालू अथवा राब डालने से) कोई शीघ्र परिवर्तन नहीं होता। दूसरी ओर, पानी, अल्कोहल, पारद और लवण के घोल दबाव में अन्तर पड़ने पर फौरन गतिशील हो उठते हैं।

दूसरी मान्यता (समघनत्व) का महत्त्व पारद बैरोमीटर (चित्र 22) को विशुद्ध पानी के गहरे कुएँ में उतारकर प्रकट किया जा सकता है। यह बैरोमीटर जलस्थैतिक दाब को नापने के उपकरण का काम देगा। कुएँ की सतह पर तो केवल वायुमंडलीय दाब ही पारद-स्तम्भ को ऊँचा रखता है (हम मान लेते हैं कि पारद-स्तम्भ की ऊँचाई 30 इंच है) परन्तु ज्यों ही हम उसे नीचे उतारते हैं तो जलस्थैतिक दाब भी काम करने लगता है। सतह से लगभग 34 फुट की गहराई पर दाब वायुमंडलीय दाब से दो गुणा हो जाएगा। (यह याद रखिए कि जलीय बैरोमीटर में पानी की ऊँचाई 34 फुट के करीब होगी)। इसलिए यहाँ पर पारद 60 इंच के अंक तक पहुँचेगा। उसी कुएँ में 68 फुट नीचे उतारने पर पारद 90 इंच के करीब उठ जाएगा (यदि बैरोमीटर की नली इतनी लम्बी है तो)। मैंने जानबूझकर लगभग अंकों का प्रयोग किया है। और अधिक सही अंकों को प्राप्त करने के लिए समान आयतन के पानी
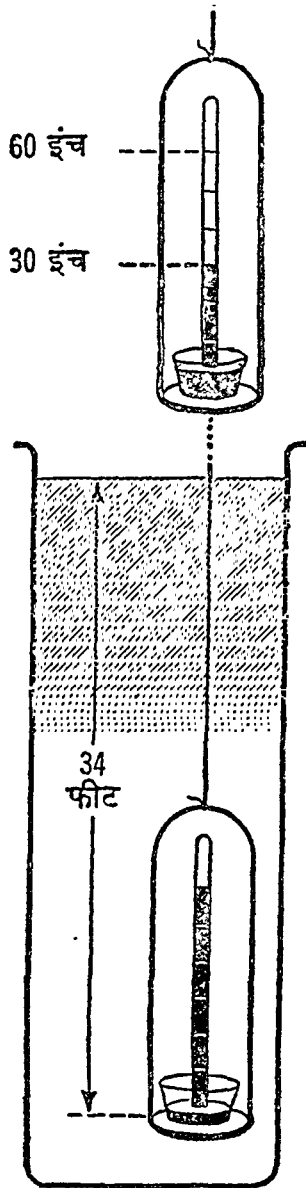
चित्र 22—पानी में उतारने से दाब में वृद्धि दिखाने वाला चित्र। यदि एक बैरोमीटर को कुएँ में लटकाया जाए तो प्रत्येक 34 फीट गहराई पर लगभग 30 इंच पारा चढ़ जाएगा।

और पारद के भार तथा सापेक्षिक घनत्व को जानने की आवश्यकता है—वशर्ते कि कुएँ के सम्पूर्ण पानी का घनत्व एक जैसा हो। यदि ताप एक जैसा हो तो यह वात लगभग सही होगी। अन्यथा, समुद्र के समान, द्रव की विभिन्न परतें मिलेंगी, जिनके घनत्व में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होगा, क्योंकि पानी का घनत्व उसके ताप पर आधारित होता है। यदि हम अपने इस विवेचन को और आगे ले जाएँ तो हम देखेंगे कि गहरे कुएँ में सर्वत्र ताप एक जैसा हो तो भी एक और उलझन है। गहराई के साथ-साथ पानी का घनत्व भी थोड़ा-थोड़ा वढ़ता जाता है, क्योंकि वायु के मुकावले में पानी संपीड्य न होने पर भी वहुत साधारण-सा संपीड्य अवश्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जलस्थैतिकी का एक प्रत्यक्षत: स्वयं स्पष्ट नियम केवल उस द्रव पर लागू होता है जो वास्तव में विद्यमान ही नहीं। इस कल्पित द्रव के गुणों के अधिकाधिक समीप पानी के गुण हैं। स्थिर ताप पर पानी का व्यवहार विलकुल इसी काल्पनिक द्रव के समान होता है। हम कह सकते हैं कि पानी की सतह के नीचे का दाव (स्थिर ताप पर) सतह से नीचे के फासले के वरावर है वशर्ते कि दोनों को इंचों में व्यक्त किया जाए। यह ध्यान देने की वात है कि जो वस्तु जलस्थैतिक दाव की स्वयंसिद्ध परिभाषा मालूम पड़ती है वह वास्तव में आदर्श द्रव—अर्थात् ऐसा द्रव जिसका घनत्व जलस्थैतिक दाव पर निर्भर नहीं है—की परिभाषा ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जलस्थैतिकी के सिद्धान्त जिन्हें तर्क की रेखा-गणितीय विधि द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है, किसी ऐसे तरल के वारे में जिनकी परिभाषा केवल मान्यताओं द्वारा होती है। यथार्थ में, स्थिर ताप पर अनेक द्रवों का व्यवहार लगभग उसी प्रकार होता है जो आदर्श द्रव का माना गया है। अनेक उद्देश्यों के लिए पानी अथवा पानी में नमक के घोल (समुद्री पानी) की सम्पीड्यता को नजरअन्दाज किया जा सकता है इसी तरह वदलते हुए ताप के साथ-साथ पानी अथवा इसी तरह के द्रवों के घनत्व के साधारण परिवर्तन को भी नज़रअन्दाज़ किया जा सकता है। गत शताब्दी में एकत्र आँकड़ों से हम गणना कर सकते हैं कि 10 हज़ार फुट तक गहराई में द्रव का समान घनत्व मान लेने पर कितनी गलती रह जाएगी। यह वहुत कम अर्थात् 2 प्रतिशत से भी कम होती है। 16वीं और 17वीं शताब्दी के लेखकों ने व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए कुछ ऐसी वास्तविकताओं की उपेक्षा की जो वाद में वहुत ही सतर्क परीक्षण से पता चलीं और ऐसा करके उन्होंने

कोई गलत काम नहीं किया।

आइए, अब हम बैरोमीटर द्वारा कुएँ अथवा एक गहरी झील के भीतर के काल्पनिक प्रयोग पर वापस आएँ। पारद के इंचों में नापे हुए दाब को ताजे पानी के फुटों द्वारा अभिव्यक्त दाब में बदलने का तरीका यह है : पारद के इंचों में दाब को एक फुट के इंचों तथा (प्रयोग के समय के ताप पर) पारद के आपेक्षिक घनत्व से गुणा कर देते हैं। ऐसा हम पहले भी कर चुके हैं। हमने देखा था कि 34 फुट की गहराई में पारद-स्तम्भ लगभग 30 इंच ऊँचा उठ जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार जलस्थैतिक दाब की माप करके हम सतह के नीचे की गहराई को काफी सही नाप सकते हैं (द्रव के घनत्व के परिवर्तन का ध्यान अवश्य इस प्रेक्षण में रखना होगा)। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे आदर्श द्रव में हर जगह समान घनत्व वाला मूल गुण सावधानीपूर्वक किए गए मापों पर आधारित नहीं है।

परीक्षण द्वारा यह सिद्ध करना समय का नितान्त दुरुपयोग होगा कि फुटों में पानी की गहराई का पानी के फुटों में व्यक्त दाब से कहाँ तक सम्बन्ध है। उदाहरण के रूप में, कोई व्यक्ति कुएँ में बैरोमीटर लटकाकर इस बात का परीक्षण करना चाहे तो दाब की वृद्धि के कारण घनत्व में परिवर्तन को नापने का परोक्ष ढंग होगा। पानी की सम्पीड्यता नापने के दूसरे तरीकों से हमें विश्वास है कि इस कार्य में जलस्थैतिक दाब नापने के बहुत ही सूक्ष्म उपकरणों (जिनमें पारद के इंच के हजारवें भाग तक शुद्ध माप की जा सकती है) द्वारा परीक्षण करने होंगे। ऐसा हो तो सकता है, परन्तु जलस्थैतिकी के उन सिद्धान्तों पर कोई प्रकाश न पड़ेगा जिनसे हम दाब प्रणाली में पारद की ऊँचाई और सतह के नीचे की गहराई के आपसी सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं। इस परीक्षण के परिवर्तियों को—पानी और पारद के घनत्व में ताप और दाब के परिवर्तन के साथ परिवर्तन—सीधी प्रक्रियाओं द्वारा बड़ी आसानी से नापा जा सकता है।

तो क्या हम यह समझें कि जलस्थैतिकी के सिद्धान्तों का कोई परीक्षणात्मक आधार नहीं और वे काल्पनिक मान्यताओं के तर्कसंगत विवेचन के परिणाम हैं? नहीं, ऐसी बात नहीं। पानी अपना तल स्वयं निर्धारित करता है—यह एक गुणात्मक प्रेक्षण है और इसमें निहित सन्निकट मापें निश्चय ही आधारभूत आँकड़े हैं। जो चीजें चित्र 17 में दिखाए अनुसार दो-भागों वाले बर्तन में डालने पर थोड़े समय के अन्दर सन्तुलित अवस्था में नहीं आ जातीं,

उन्हें द्रव की श्रेणी में रखा ही नहीं जा सकता। और जो सन्तुलित हो जाती हैं उनके लिए कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए जा सकते हैं, जिनकी जाँच परीक्षणों द्वारा हो सकती है। यदि माप-कार्य बहुत सावधानी से किया जाए तो भी दोषों का पता लगेगा जिनका सम्बन्ध द्रव सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों (जैसे, ताप परिवर्तन से द्रव के घनत्व में परिवर्तन होता है) से होता है। जलस्थैतिकी के सिद्धान्तों के विकास में हम उन सब कारणों की उपेक्षा कर जाते हैं जिनका आदर्श-द्रव की हमारी मान्यताओं से मेल नहीं बैठता। उदाहरणत: चित्र 20 में हम पिस्टनों के घर्षण की उपेक्षा कर जाते हैं; पानी के स्तम्भ वाली लम्बी नली की दीवारें पानी को आकर्षित करती हैं (इसे केशिकत्व कहते हैं और बहुत पतली नलिकाओं में यह काफी होता है) किन्तु हम उसकी भी उपेक्षा कर जाते हैं।

संक्षेप में, कल्पित परीक्षणों और तर्कपूर्ण दलीलों के प्रयोग से हम कुछ सिद्धान्त बना लेते हैं और उनसे कुछ परिणाम निकालते हैं जिनका सम्बन्ध यथार्थ द्रवों से होता है। ऐसा करके जिन लोगों ने पहले-पहल यान्त्रिकी के इस अंग का विकास किया, वे आज के सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्रियों के अगुआ थे। वे रेखागणितज्ञों की तरह तर्क तो अवश्य उपस्थित करते थे परन्तु वे गणितज्ञों की विचार-विधियों का उपयोग उन प्रक्रियाओं में भी कर रहे थे जिनके प्रति परीक्षणकर्त्ताओं की रुचि बढ़ती ही जा रही थी। यहाँ वर्णित सामान्य उदाहरण से भी स्पष्ट है कि इस प्रकार के तरीकों से शक्तिशाली बौद्धिक उपकरण प्राप्त हुए थे। जैसे-जैसे भौतिकी की समस्याएँ और अधिक उलझनपूर्ण तथा जटिल होती गईं, वैसे-वैसे नई किस्म का गणित आविष्कृत होता गया। जैसे-जैसे विज्ञान उन्नति करता गया वैसे-वैसे मूलभूत आँकड़े सामान्य अनुभव द्वारा नहीं अपितु मात्रात्मक परीक्षणों के परिणामों के रूप में प्राप्त हुए। इस प्रकार के अन्वेषण का सम्बन्ध सूक्ष्म उपकरणों के निर्माण के साथ था जिनसे माप-कार्य बहुत ही शुद्धतापूर्वक किया जा सके। 18वीं शताब्दी के बाद बार-बार एक ही ढंग के परीक्षण किए जाने लगे। यह अनुसंधानकर्त्ताओं की इस इच्छा का फल था कि कुछ मात्रात्मक आँकड़ों को और अधिक शुद्ध प्राप्त किया जाए।

कुछ वैज्ञानिकों में अधिकतर विशुद्धता की इच्छा सौन्दर्यपरक भावनाओं के समान है। अधिकतर विशुद्धता के ध्येय से किए परीक्षणों में जितना श्रम लगाया गया है उसका यदि ईमानदारी से जायज़ा लिया जाए तो पता चलेगा

कि बहुत-सा श्रम व्यर्थ गया है, लेकिन अकसर बड़ा परिणाम निकला है। सुप्रसिद्ध माईकेलसन-मॉर्ले परीक्षण, जो सापेक्षता के सिद्धान्त का आरम्भिक सूत्र है, से पता चलता है कि परिणाम कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है। एक विशेष उपकरण के आविष्कार और उन्नत विधियों के विकास से 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के वैज्ञानिक बड़ी शुद्धतापूर्वक प्रकाश के वेग को नापने में समर्थ हुए। तभी यह निश्चय करना सम्भव हुआ कि स्थिर तारों की अपेक्षा, पृथ्वी के धरातल की गति की अपेक्षा उपकरण के दिशामान का प्रकाश के वेग पर प्रभाव पड़ता है या नहीं। उससे जो परिणाम निकले उनसे आइन्स्टीन द्वारा महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी विचारों का उद्भव हुआ। परन्तु इन बहुत ही कठिन मामलों पर मैं विचार नहीं कर सकता। मैं तो बिलकुल दूसरी ओर पहुँचना चाहता हूँ। यह बताने के लिए कि मात्रात्मक परीक्षण से नई धारणाएँ कैसे पैदा होती हैं, मैं 17वीं शताब्दी की वायविकी और बॉयल के नियम की खोज पर पुनः आना चाहता हूँ।

बॉयल का सिद्धान्त

'वायु बहुत अधिक सम्पीड्य तरल है'; इस तथ्य से स्पष्ट है कि जलस्थैतिकी के सिद्धान्तों का उपयोग वायविकी में नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः यदि हम अपना ध्यान बैरोमीटर पर केन्द्रित करें तो हम देखते हैं कि पारद का 30 इंच ऊँचा स्तम्भ (समुद्र के स्तर पर) वायु के गगनचुम्बी स्तम्भ को सन्तुलित करता है। लेकिन वायु का यह स्तम्भ कितना ऊँचा है? यदि वायु की सम्पीड्यता की उपेक्षा की जा सके तो हमारे लिए दत्त ताप पर वायु और पारद के समान आयतन के आपेक्षिक भार जानकर आवश्यक गणना करना ही शेष रह जायगा। परन्तु एक क्षण के विचार से ही स्पष्ट हो जाएगा कि इस आसान तरीके से काम नहीं चलेगा। कारण, वायु में ज्यों-ज्यों ऊपर जाया जाए वायु 'पतली होती' जाती है; अर्थात् दूसरे शब्दों में वायु के स्तम्भ का घनत्व निरन्तर कम होता जाता है। यह कैसे कम होता है? दाब और घनत्व में क्या सम्बन्ध है? अथवा यदि आप अपना ध्यान वायु के किसी ज्ञात भार की ओर लगाएँ तो हमें यह जानना होगा कि इस वायु के आयतन और दाब में क्या सम्बन्ध है? केवल गुणात्मक ढंग से ऊन और वायु की तुलना करने के अतिरिक्त टोरिसेली और पैस्कल किसी ने भी इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया। अन्ततः बॉयल ने आँकड़े एकत्र किए तथा उसके परिचितों ने मूलभूत सम्बन्ध का अनुमान लगाया। इस

कहानी को सम्पूर्णतः जानने के लिए हमें कुछ क्षण के लिए बॉयल के पम्प और वैरोमीटर के ऊपर के स्थान में निर्वात पैदा करने के प्रयोग की ओर ध्यान देना होगा। (देखिए चित्र 8)।

स्मरणीय है कि बॉयल के वैरोमीटर और उसके पम्प के परीक्षण में ऐसे प्रेक्षण थे जिनमें माप की शुद्धता का विशेष महत्त्व न था। ज्यों ही पम्प चलाया जाता था पारा नीचे गिर पड़ता था ; और जब उसमें वायु प्रविष्ट की जाती थी, पारद ऊँचा उठता था ; यह एक लाक्षणिक गुणात्मक प्रेक्षण है। बॉयल प्रत्येक बार हवा निकालते समय अपने पिस्टन के धक्कों की संख्या का सम्बन्ध पारद-स्तम्भ की साख्यिक न्यूनता के साथ स्थापित तो अवश्य करना चाहता था, पर वह इसमें असफल रहा। अधिक से अधिक वह यही दिखा सका कि पात्र जितना छोटा होगा, पिस्टन के प्रत्येक धक्के पर दाव में गिरावट उतनी ही अधिक होगी (पम्प का सिलेण्डर हर अवस्था में एक ही आकार का था)। हम देखते हैं कि अपनी पहली रिपोर्ट में वह इस समस्या को सुलझाने के प्रयत्न में था। वस्तुतः वह वायु की प्रत्यास्थता ('वायु की लचक') के सम्बन्ध में नियम निर्धारित करने के लिए प्रयत्नशील था, ताकि गणितीय तर्क प्रयुक्त किए जा सकें। बॉयल परीक्षणकर्ता था, गणितज्ञ नहीं। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि फलप्रद विचार का संकेत उसके एक-दो दोस्तों ने उपस्थित किया। उन्होंने यह परिकल्पना सुझाई कि वायु की लचक का बल उसके आयतन पर आधारित है। वायु के आयतन को दो गुणा करने पर 'लचक' आधी हो जाती है, और इसके विपरीत आयतन को (सम्पीडन द्वारा) आधा करने पर 'लचक' दो गुणी हो जाती है। यह एक सामान्य सिद्धान्त था और इसके परिणामों की जाँच परीक्षण से हो सकती थी, बशर्ते कि वायु के आयतन और उसकी 'लचक' को नापने की कोई विधि हो। बॉयल का पम्प, संग्राही और दाबमापी का संयोजन एक अपर्याप्त उपकरण था क्योंकि इसमें अनेक रंध्र थे। परन्तु एक बहुत ही साधारण तरीके ने परीक्षणकर्त्ता का ध्यान अपनी ओर खींचा। मेरा संकेत अंग्रेजी के अक्षर ('जे') की शक्ल की नली से है जो आज भी बॉयल के सिद्धान्त के प्रदर्शन के लिए प्रत्येक आरम्भिक भौतिकी की प्रयोगशाला में प्रयुक्त होती है (चित्र 23)। हम एक पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि बॉयल ने इस नली का आविष्कार 'फ़नीक्युलस' सिद्धान्त के समर्थकों को पराजित करने के लिए किया था।

नली के बड़े और छोटे दोनों हिस्सों में पारद का तल एकसमान रखने

के बाद बॉयल उनमें पारद डालता तथा थोड़ी-थोड़ी देर बाद दोनों लम्बाइयों को नापता रहा। एक माप थी छोटी नली के पारे के तल से ऊपर बड़ी नली के पारे की ऊँचाई, और दूसरी माप थी छोटी नली के बन्द सिरे और नली
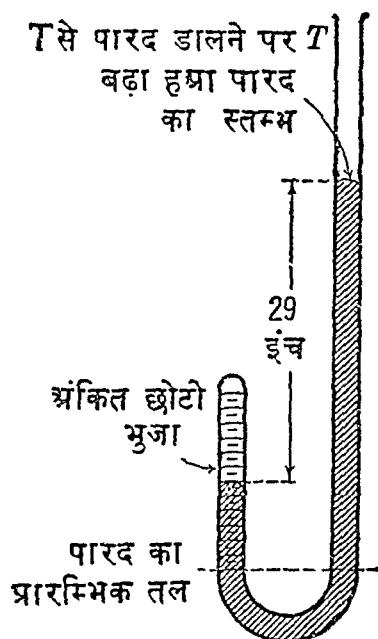
चित्र 23—उस उपकरण का चित्र जिसका प्रयोग बॉयल ने आयतन और दाब के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करने के लिए किया था।

के पारे के तल के बीच की जगह। दूसरी लम्बाई छोटी नली में वायु केआयतन की माप है बशर्ते कि नली समान सूराख की हो और पहली लम्बाई परीक्षणात्मक प्रक्रिया द्वारा इस वायु पर लगने वाला अतिरिक्त दाब है। इस प्रकार कुल दाब हुआ वायु मण्डलीय दाब तथा इस अतिरिक्त दाब का योग। पारद इंचों में, जो दाब मालूम करने का एक आसान तरीका है, नली के छोटे भाग में बन्द वायु का दाब आसानी से मालूम किया जा सकता है। इसके लिए वायुमण्डलीय दाब के पाठ्यांक में पारद स्तम्भ की इंचों में लम्बाई को जोड़ दिया जाता है। बॉयल ने वस्तुतः यही विधि अपनाई थी। उसने यह किया तो देखा कि कुल दाब को दो गुणा करने पर आयतन लगभग आधा हो जाता है; दाब को

चार गुणा करने पर आयतन लगभग चौथाई रह जाता है। सामान्य रूप से दाब और आयतन के सांख्यिक सम्वन्ध का सिद्धान्त पुष्ट हो गया। वायु को सम्पीडित करने पर 'वायु की लचक' वढ़ती है और यह सम्वन्ध सरलानुपातिक है।

और अधिक औपचारिक शब्दों में कहा जा सकता है कि बॉयल के प्रयोग में वायु के आयतन और दाब में व्युत्क्रमानुपाती सम्वन्ध है। यदि हम P_1 को आरम्भिक दाव और P_2 को दूसरा दाब तथा V_1 और V_2 को तदनुरूप आयतन मान लें तो हम इस व्युत्क्रमानुपात को इस प्रकार लिखेंगे :

$$\frac{P_1}{P_2} = \frac{V_2}{V_1}, \text{ अथवा } P_1 V_1 = P_2 V_2$$

बीजगणित के सम्बन्ध में वास्तविक अंकों में वदलने से आसानी से सारी बात स्पष्ट हो जाएगी। हम मूल दाब P_1 को पारद की 30 इंच ऊँचाई (समुद्री सतह पर का वायुमण्डलीय दाब लगभग यही होता है) और मूल आयतन 10 घन इंच मानते हैं। तब $P_1 V_1$ बराबर हैं $30 \times 10 = 300$। अब यदि हम दाब को बढ़ाकर पारद के 60 इंच (P_2) कर दें तो स्पष्ट रूप से V_2 कम होकर 5 घन इंच रह जाएगा, क्योंकि 5×60 भी 300 के बराबर है। पारद की ऊँचाई द्वारा वर्णित इंचों के अनुसार वायु के किसी भी आयतन, 10 घन इंच, के नमूने में, यदि दाब को पारद के इंचों और यदि अनुपात में व्यक्त किया जाए तो सभी दाबों और आयतनों का गुणनफल (PV) 300 ही होगा बशर्तेकि अनुपात सही हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रथम अनुमान के रूप में, कम-से-कम, गुणनफल PV निरन्तर स्थिर होगा। बॉयल के सिद्धान्त को वर्णन करने का यह एक सामान्य ढंग है।

बॉयल के काल में यह बात सभी जानते थे कि वायु को यदि गरम किया जाए तो वह फैलती और यदि उसे ठण्डक पहुँचाई जाए तो सिकुड़ती है। इसलिए बॉयल को एक और परिवर्ती मालूम था जिसके अनुसार वायु की किसी तन्मात्रा का आयतन निर्धारित होता था। यह परिवर्ती था ताप। उसने यह बात सिद्ध करने के लिए कि गरम करने पर अत्यन्त सम्पीडित वायु भी फैलती है और ठण्डी करने पर सिकुड़ती है कुछ सामान्य परीक्षण किए। परन्तु उसने और उसके दोस्तों में से किसी ने इस बात को मापने का यत्न नहीं किया कि तापमान के परिवर्तन से उसके आयतन में कितना अन्तर आता है। ये परीक्षण तब तक संभव

न हो सके जब तक तापमापी अधिक संवेदी न बनने लगे। इस विकास के सम्बन्ध में थोड़ा और आगे चलकर कुछ अधिक कहूँगा। परन्तु पूर्वाभास के रूप में हम ध्यान में रख सकते हैं कि 18वीं शताब्दी के परीक्षणों से सिद्ध हो गया था कि सामान्य ताप पर प्रत्येक फॉरनहाइट डिग्री ताप की वृद्धि पर गैस अपने आयतन का 1/530 के लगभग फैलती है। यह काफी बड़ा प्रभाव है। इसलिए यह बात अवश्य कही जाती है कि बॉयल का सिद्धान्त स्थिर ताप पर रहने वाली वायु पर ही लागू होता है।

ताप को अच्छी तरह नियन्त्रित करने के बावजूद दाब और आयतन के सम्बन्ध को मापने पर यह पता चलेगा कि बॉयल का सिद्धान्त वायु अथवा किसी दूसरी गैस के व्यवहार का एक लगभग नियम मात्र है। बॉयल के सिद्धान्त से विचलन का परिमाण गैस के गुण पर निर्भर करता है और सामान्यतया जब दाब वायुमण्डलीय दाब से अधिक हो विचलन अधिक और कम हो तो कम होता है। वस्तुतः, बहुत शुद्धतापूर्वक ली गई मात्रात्मक मापों से यह पता लगता है कि वायुमण्डलीय दाब के बहुत कम भाग दाब पर बॉयल का सिद्धान्त गैस के वास्तविक व्यवहार के निकट पहुँचता है। जैसा कि हमने आदर्श तरल के विषय में कहा है, वैसा ही हम आदर्श गैस के विषय में कह सकते हैं। पहली का वर्णन जलस्थैतिकी के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है और दूसरी का बॉयल के सिद्धान्त के अनुसार। वस्तुतः 'आदर्श द्रव' का मुहावरा बहुत ही कम प्रयुक्त होता है, किन्तु भौतिक और रसायनशास्त्रियों में पिछले सौ वर्षों में आदर्श गैस की धारणा बहुप्रचलित है। आदर्श गैस वह है जिसके लिए सभी तरह के दाब में यह सम्बन्ध PV = स्थिरांक (किसी स्थिर ताप पर) है। हीट इंजनों से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण नियमों की उत्पत्ति इसी आदर्श गैस से किये गए कल्पित परीक्षणों द्वारा हुई है। तर्क भी वैसे ही प्रयोग में लाये गए हैं जैसे जलस्थैतिकी के आरम्भकर्ताओं ने किए थे। परन्तु दोनों में अन्तर है। प्रेक्षणों द्वारा सामान्य प्रक्रियाओं (जैसे, द्रव अपना तल स्वयं निर्धारित करते हैं) द्वारा आधारभूत आंकड़े नहीं मिले, किन्तु बॉयल के समान सावधानीपूर्ण मापों से मिल सके थे। यहाँ हम दोनों परम्पराओं के मेल का उत्तम उदाहरण देखते हैं—वे परम्पराएँ हैं रेखागणितीय तर्क और परीक्षण के ढंग। परीक्षण अब इस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ मात्रात्मक परीक्षणों से आवश्यक आँकड़े मिलते हैं।

वायविकी और जलस्थैतिकी पर विचार-विमर्श की समाप्ति हम एक

क्रियात्मक प्रश्न पर विचार करके ही कर सकते हैं—इस प्रश्न को मैंने पहले उठाया था और विना उत्तर दिए ही छोड़ दिया था। समुद्र की सतह पर बैरोमीटर के 30 इंच ऊँचे पारद स्तम्भ को संतुलित करने वाला वायु-स्तम्भ कितना ऊँचा होगा ? मैं पाठक को याद दिलाए देता हूँ कि हमें इस वात को जानने की जरूरत है—कि यदि हम भूमि की सतह से ऊपर उठते चले जाएँ तो किस प्रकार वायु का घनत्व परिवर्तित होता है। पहले-पहल हमें कुछ मान्यताओं पर आधारित एक अनुमान से ही कार्य लेना होगा। यदि ताप स्थिर है (जो निश्चय ही नहीं है) और यदि वॉयल का सिद्धान्त वायु के लिए सही है (जो लगभग सही है), तो ज्यों-ज्यों भूमि से दूरी बढ़ती जाएगी तो हम उसे नियमित रूप से कम होता पाने की आशा कर सकते हैं। यदि हम इस पर कुछ मिनट विचार करें तो मालूम होगा कि सम्बन्ध आसान नहीं है ; इन आसान मान्यताओं के होने पर भी हिसाव में कुछ गड़बड़ अवश्य होगी। हम गुब्बारे (अथवा विमान) में ऊपर जाएँ तो दाव कम होता जाता है (पैस्कल और पैरी के पाई-डी-डोम परीक्षण)। ज्यों-ज्यों दवाव कम होता जाता है त्यों-त्यों वायु की कोई मात्रा उतना ही अधिक आयतन घेरती है (वॉयल का सिद्धान्त)। सांख्यिक ढंग से इसे कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

वॉयल के सिद्धान्त को वायु के सुनिश्चित आयतन के भार और दाव के सम्बन्ध से व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार समुद्र की सतह पर समान आयतन होने पर पारा वायु से दस हज़ार गुणा भारी होगा, जबकि वायुमण्डलीय दाव के आधे दाव (पारे के 15 इंच) पर अनुपात 20 हज़ार होगा बशर्ते कि ताप स्थिर हो और वॉयल के सिद्धान्त से विचलन नगण्य है। अब बताइए कि बैरोमीटर में पारे के 30 इंच ऊँचे स्तम्भ को सन्तुलित करने वाले वायु-स्तम्भ की ऊँचाई का अनुमान लगाने में इनमें से किस मान का उपयोग किया जाए ? निश्चित रूप से, दोनों में से कोई नहीं। परन्तु भूमि की सतह से कुछ ऊपर की जगह पर पहली गिनती वहुत अधिक गलत नहीं होगी। इसे प्रयुक्त करते हुए पहला अनुमान लगाया जा सकता है कि भूमि की सतह से 1,20,000 इंच (10,000 फुट) ऊपर उठने पर बैरोमीटर का पारा 1/10,000 अथवा 12 इंच नीचे आ जाएगा। इस प्रकार बैरोमीटर 10 हज़ार फुट की ऊँचाई पर (30-12) अथवा 18 इंच ऊँचा होगा। इस अन्दाज़ से भी यह मालूम होता है कि 10 हज़ार फुट पर दाव विशेप रूप से कम हो जाती है—दरअसल पारे के 15 इंच के लगभग अथवा वायुमण्डलीय दाव के आधे के

वरावर और इसलिए वायु का घनत्व पारे के घनत्व का 1/20,000 भाग कम हो जाएगा। वस्तुतः पारे के 18 इंच दाव पर घनत्व समुद्र की सतह पर घनत्व का 18/30 भाग होगा, इसलिए वायु का घनत्व पारे के घनत्व का 1/16,000 भाग है। इस अंक का प्रयोग करके हम गणना कर सकते हैं कि 10 हज़ार फुट ऊँचाई और बढ़ जाने पर (अर्थात् कुल ऊँचाई 20 हज़ार फुट) हो जाने पर वैरोमीटर का पारा केवल 7·2 इंच के लगभग नीचे गिरेगा क्योंकि यहाँ वायु धरती के निकट की वायु की अपेक्षा कम घनी है। उस समय 20 हज़ार फुट की ऊँचाई पर बैरोमीटर लगभग 10·8 इंच सूचित करेगा। इसी प्रकार 20 से 30 हज़ार फुट ऊँचाई के क्षेत्र में वायु का घनत्व और भी कम है, इसलिए हम गणना कर सकते हैं कि 30 हज़ार फुट की ऊँचाई पर वैरोमीटर 4·3 इंच और नीचे उतरेगा अर्थात् 6·5 इंच पर होगा।

इससे ऐसा दीखता है कि इसका कहीं अन्त नहीं। यदि हम इतने ऊँचे चढ़ जाएँ जहाँ बैरोमीटर में पारा केवल तीन इंच ऊँचा रह जाए तो उस ऊँचाई पर पारे के घनत्व और वायु के घनत्व का अनुपात समुद्र तल पर दोनों के अनुपात का 10 गुणा हो जाएगा। (क्योंकि दाव दसवाँ भाग रह जाएगी) और यह 1,00,000 होगा। इसी घनत्व की 25 हज़ार फुट और अधिक ऊँची वायु 3 इंच पारे को सन्तुलित करने में सफल होगी। परन्तु ज्यों-ज्यों हम ऊँचे उठते जाते हैं वायु का घनत्व निरन्तर कम होता जाता है। अतः दाव जब गिरकर 0·3 इंच रह जाएगी (इतनी ऊँचाई पर राकेट के विना जाना कल्पना ही है)* तव घनत्वों का अनुपात 10 लाख हो जाएगा। 0·3 इंच पारे को सन्तुलित करने के लिए इसी घनत्व की 25 हज़ार फुट ऊँची वायु की और जरूरत होगी। बॉयल के सिद्धान्त के अनुसार वायुमण्डल का कोई अन्त नहीं।

यदि कोई स्थिर ताप पर एक गुब्बारे में सीधा ऊपर हवा के समुद्र में उठता चला जाए तो क्या होगा, इसका अनुमान लगाने की यह विधि वड़ी अनगढ़ है। वस्तुतः प्रत्येक इंच के अंश तक ऊपर चढ़ने के साथ-साथ वायु का घनत्व लगातार कम होता जाएगा ; इसलिए प्रत्येक 10 हज़ार फुट पर घनत्व को पुनः परिगणित करने की आवश्यकता नहीं। सैद्धान्तिक तौर पर हर थोड़ी ऊँचाई पर घनत्व की गणना करनी चाहिए। वैसे यदि हम प्रत्येक 10 फुट के अन्तराल पर वायु के घनत्व को स्थिर मानें तो अशुद्धि वहुत ही कम होगी।

---

*यह कल्पना अव यथार्थ में वदल चुकी है—अनुवादक।

इसलिए यदि हम हर दस फुट की ऊँचाई पर घनत्व का नया मान मालूम करें तो हमें स्थिति का सही भान होगा। अन्तराल जितना कम होगा, परिणाम उतना ही सही होगा। सामान्य रूप से हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों दवाव कम होता जाता है वायु पतली होती जाती है ; इसीलिए ऊपर की ओर दूरियों में अन्तर दाव में कमी के अनुरूप होता है। अथवा इसे वायु की एक परत से दूसरी परत में उतरते हुए गुब्बारे के दृष्टिकोण से देखें तो कह सकते हैं कि नीचे जाने की दूरी, जो दाव में वृद्धि के अनुरूप है, मूल दवाव पर आधारित है।

द्रव और वायु की स्थितियों में अन्तर बहुत स्पष्ट है। यदि दाव-प्रमापी को किसी द्रव में ऊपर या नीचे करें तो दाव के परिवर्तन का सम्बन्ध दूरी के साथ जोड़ा जा सकता है (कम-से-कम काफी सही रूप में)। परन्तु गुब्बारे में केवल दाव के परिवर्तन को ही नहीं, आरम्भिक दाव को जानना भी आवश्यक है ; तभी दूरी की गणना सम्भव है। जो बात 30 हज़ार फुट पर सही है वह 10 हजार फुट पर कतई सही नहीं हो सकती। पर्वतों की चढ़ाई में ऊँचाई की माप के लिए बैरोमीटरयुक्त ऊँचाईमापी का प्रयोग करने वाले जानते हैं कि पैमाने का समंजन विशेष ढंग से होता है ; ऊँचाई वाले सिरे पर अंक पास-पास लिखे होते हैं और नीचाई वाले सिरे पर दूर-दूर। जैसा कि कुछ पाठक जानते होंगे कि ऊँचाई और वायुमण्डलीय दाव का सम्बन्ध लगभग लघुगुणकीय होता है।

गणक (कैलकुलस) द्वारा यह दिखाना सम्भव है कि जब किसी परिवर्ती (जैसे दूरी) की लघु वृद्धि के अनुसार दूसरे परिवर्ती (जैसे दाव) में परिवर्तन जब कभी मात्रा उसी वस्तु (दाव) के सरल अनुपात में होती है, तो उसे लघुगणकीय सम्बन्ध कहते हैं। यदि चिह्न Δh को ऊँचाई में लघु परिवर्तन और उसके अनुरूप Δp को दाव में परिवर्तन मान लें, तो जिस सीमा तक बॉयल का सिद्धान्त वायु के व्यवहार को बता सकता है उसके अनुसार हम दिखा सकते हैं कि $\Delta p/p$ और Δh सरल अनुपात में हैं, जबकि p उस स्थान पर वायुमण्डलीय दाव है। गणक के प्रयोग से हम इस सम्बन्ध को, जो बहुत छोटे परिवर्तनों में लागू होता है, ऐसे सम्बन्ध में परिवर्तित कर सकते हैं जो किसी भी परिवर्तन में लागू हो सके। गणितीय प्रक्रियाओं द्वारा लघुगणकीय रूप में समीकरण प्राप्त होते हैं ; दो विभिन्न ऊँचाइयों पर दावों के लघुगणकों का अन्तर ऊँचाइयों के अन्तरों के अनुपात में होता है।

यदि वायुमण्डल का ताप स्थिर हो तो क्या होगा ?—इस ज्ञान का महत्त्व

है क्योंकि इससे यह जाहिर होता है कि गणितीय सिद्धान्त भौतिक समस्याओं के सुलझाने में कितना महत्त्वपूर्ण है। बॉयल के सिद्धान्त का यह उपयोग एक सरल उदाहरण है कि किसी समस्या को सुलझाने के लिए गणक का प्रयोग कैसे किया जाता है। इसके उपयोग बिना अनिश्चित अनुमानों से ही काम लेना पड़ता। लघुगणक से अपरिचित पाठकों को गणित के प्रति चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। कारण, पिछले अनुच्छेदों का मूल्य केवल यही है कि उनमें मात्रा अथवा परिणामों की गणितीय प्रक्रियाएँ हैं। वस्तुतः वायुमण्डल के ताप में इतनी अस्थिरता है कि बॉयल के सिद्धान्त द्वारा की गई गणनाएँ, भले ही वे गणक की सहायता से की गई हों, समीपवर्ती ही हैं। एक और परिवर्ती है आर्द्रता। इसके बावजूद, अपेक्षाकृत कम ऊँचाइयों पर, यदि किसी स्थान में वायुमण्डलीय दाब स्थिर रहे तो बैरोमीटर से 10 हज़ार से 15 हज़ार फुट तक की ऊँचाइयाँ काफी सही-सही मालूम हो सकती हैं (गलती 100 फुट के आसपास ही होती है)। पूर्व वर्णित ढंग द्वारा निकाले गए दाबों और बैरोमीटर द्वारा अंकित दाबों की निम्न तुलना रोचक है :

फुटों में ऊँचाई	बैरोमीटर के पाठ्यांक (पारद के इंच)	साधारण मान्यताओं द्वारा परिगणित दाब
0	30	30
10,000	21	18
20,000	14	11
30,000	9	7

निश्चय ही यह ध्यान देने की बात है कि समुद्र तल पर वायुमण्डलीय अवस्थाओं के परिवर्तन से बैरोमीटर के पाठ्यांक में एक-आध इंच का अन्तर पड़ जाता है। अतः उपरोक्त पाठ्यांक केवल लाक्षणिक हैं।

उत्सुक पाठक इस बात पर आश्चर्य करेगा कि 'वस्तुतः' वायुमण्डल की कोई सीमा भी है या नहीं। आधुनिक धारणाओं के अनुसार पृथ्वी की सतह से कुछ सौ मील ऊपर एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ गुरुत्वाकर्षण का बल इतना अधिक नहीं है जो अणुओं को पृथ्वी की ओर खींचे नहीं रह सकता। 'वास्तव में' पृथ्वी के वायुमण्डल की यही ऊपरी सीमा है।

माप के उपकरणों का महत्त्व

धारणाओं, धारणापद्धतियों और परीक्षणों के आपसी जटिल सम्बन्ध को

समझना ही विज्ञान को समझना है। बेशक, कुछ धारणाएँ गुणात्मक परीक्षणों अथवा प्रेक्षणों के आधार पर उत्पन्न हुई हैं। किन्तु उनसे कहीं अधिक धारणाएँ मात्रात्मक परीक्षणों से उत्पन्न हुई हैं। यह कहना कठिन है कि 'उत्पन्न हुई' ठीक है या नहीं। शायद 'विकसित हुई' कहना अधिक ठीक होगा—क्योंकि बहुत-से अस्पष्ट विचार परीक्षणात्मक परिणामों के बाद वैज्ञानिक धारणा का रूप धारण कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में मापने के उपकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 18वीं शताब्दी का एक उदाहरण इस बात के समर्थन के लिए प्रस्तुत है।

हाई स्कूलों की भौतिकी की सभी पुस्तकों में वर्णित दो साधारण धारणाओं के इतिहास से इस पर प्रकाश पड़ेगा। ये धारणाएँ हैं: विशिष्ट ऊष्मा और गुप्त ऊष्मा। ये परिभाषाएँ और इनके पीछे जो विचार हैं उन्हें मापने के उपकरण—थर्मामीटर—को ध्यान में रखकर ही समझा जा सकता है। आज के सभ्य समाज के लिए ताप एक व्यावहारिक ज्ञान की बात है। इसी कारण भौतिकी की पाठ्य पुस्तकों में इसके द्वारा गणनाएँ की जाती हैं तथा इस पुस्तक में 'स्थिर ताप' जैसे मुहावरों का प्रयोग है। विस्तृत इतिहास को कुछ पंक्तियों में व्यक्त करते हुए हम यह कह सकते हैं कि ताप की धारणा का विकास एक मामूली से व्यावहारिक विचार से हुआ। यह विचार था—एक वस्तु का दूसरी वस्तु की अपेक्षा गरम या ठण्डा होना। उदाहरण के रूप में, मानवों के द्वारा ठण्डे और गरम पानी में भेद करने की शक्ति ही इस सारी कहानी का एक मूल आधार है। किन्तु केवल यही आधार नहीं है। कारण, आग द्वारा पानी गरम करने और हर तरह की धातुओं पर आग की लपटों के प्रभाव (यथा काँच और धातुओं के निर्माण में) और रंग (गरम लाल) आदि के परिवर्तन, तथा इसी तरह के अन्य अनेक परिवर्तनों का सम्बन्ध आग से है।

यद्यपि थर्मामीटरों का ज्ञान 17वीं शताब्दी की पहली तिहाई में हो गया था, परन्तु वे माप के सन्तोषप्रद उपकरण सौ साल बाद ही बन सके। फ्लोरेंस की विज्ञान अकादमी (अकादमिया डेल सीमेण्टो) के सदस्यों के पास आज के घरेलू थर्मामीटर जैसे साधारण उपकरण थे। उनमें अन्तर केवल पैमाने का था और यह महत्त्वपूर्ण बात थी। 17वीं शताब्दी के आधे भाग से लेकर अन्त तक बनाए जाने वाले थर्मामीटरों में एक बल्ब में पारा या अलकोहल भरा होता था तथा एक बंद नली में स्तम्भ होता था। उसके आकार में अनेक परिवर्तन हुए, परन्तु महत्त्व की घटना तब हुई जब उसके साथ अपेक्षाकृत सादे पैमाने का आविष्कार हुआ जिसे आसानी से विभिन्न प्रयोगशालाओं में बनाया

जा सकता था। अगली शताब्दी के प्रारम्भ में 'दो स्थिरांकों' का प्रयोग आरम्भ हो गया; इन स्थिरांकों का सम्बन्ध ऐसे तापों से था जिन्हें आसानी से पैदा किया जा सकता था। उसमें पानी के द्रवणांक और क्वथनांक को क्रमश: 0 और 100 मान लेने पर एक पैमाना (सेंटीग्रेड) बना। दूसरे (फॉरनहाइट) पैमाने में, जो उसी दौरान प्रयोग में आया, बर्फ और लवण के मिश्रण के ताप को शून्य और खौलते पानी के ताप को 212° माना गया।

उनके पैमानों की भिन्नताएँ और उनकी उत्पत्ति के ब्यौरे के बारे में हमें रुकने की आवश्यकता नहीं। महत्त्वपूर्ण बात यह है : जैसे ही इन उपकरणों को बनाने वाले वैज्ञानिक-अनुसंधानकर्त्ताओं को विश्वस्त स्केल युक्त उपकरण देने में समर्थ हुए, कुछ दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटने लगीं। इससे पहले थर्मामीटरों के पाठ्यांक केवल एक बिन्दु के सहारे लिए जाते थे। इससे यही पता चलता था कि कोई चीज़ (अथवा स्थान) किसी दूसरे की अपेक्षा अधिक गरम अथवा अधिक ठण्डा है। परन्तु उनसे यह पता नहीं लगता था कि वह कितना गरम अथवा ठण्डा है। अब प्रयुक्त पैमाने के अनुसार ताप के अन्तर को अंश सेंटीग्रेड अथवा फॉरनहाइट के रूप में बताया जा सकता था। यह होने पर ऐसे प्रश्न सामने आने लगे जो अब तक नहीं आए थे। लोग अब ऊष्मा के बारे में पहले से बहुत विभिन्न शब्दों में बात करने लगे। विज्ञान के इतिहास में इस प्रकार की घटनाएँ समय-समय पर घटती रही हैं। किसी नए अथवा अधिक विकसित माप-उपकरणों से खोज का नया अध्याय खुल जाता रहा है।

जिसे आज हम ऊष्मा कहते हैं, उसे एक भौतिक पदार्थ मानने की धारणा बहुत प्राचीन है। सामान्य धारणा यही है कि जब कोई आग के निकट खड़ा होता है और गरम हो जाता है तो इसका मतलब यह है कि आग का कुछ भाग उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया है। ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में अरस्तू-वादी विचार 16वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोपीय विचारों पर छाया रहा। 'आग', 'गरमी', और 'ठण्ड' से सम्बन्धित इसकी अपनी अलग धारणाएँ थीं। हम उस ढंग के बारे में कुछ नहीं कहेंगे जिसके अनुसार अरस्तू के पृथ्वी, वायु, अग्नि और पानी आदि चार तत्त्वों की धारणा से उबालने, गलाने, जमाने और दाह के कारण बताए जा सकते थे। इतना अवश्य है कि ताप और ऊष्मा की धारणाओं के सतर्क विश्लेषण में एक लम्बे इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण भाग को ध्यान में रखना ही होगा। मैं कहानी के 18वीं शताब्दी के भाग की ओर

ध्यान दिलवा रहा हूँ क्योंकि मैं यह बताना चाहता हूँ कि माप के नए उपकरणों ने वैज्ञानिक विचारों में अभूतपूर्व योगदान दिया था।

विज्ञान सम्बन्धी ऐतिहासिक बातों का ब्यौरा सन्तोषप्रद नहीं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिन परीक्षणों से विशिष्ट और गुप्त ऊष्मा की धारणाएँ बनीं वे सम्भवतः स्वतन्त्र रूप में जोजफ ब्लैक नामक स्कॉटलैण्डवासी और हेनरी कैवेण्डिश नामक अंग्रेज ने किए थे। ब्लैक को इस कार्य का श्रेय ठीक ही दिया जाता है, क्योंकि उसने ग्लासगो विश्वविद्यालय में भाषणों द्वारा अपने विचारों का प्रसार किया। (उनकी ओर काफ़ी लोगों का ध्यान गया क्योंकि उन्होंने वाट के भाप के इंजन की खोज के लिए काफी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार की। बदकिस्मती से यह पता नहीं लगता कि वाट ने अपने मित्र ब्लैक को अथवा ब्लैक ने वाट को कहाँ तक प्रोत्साहित किया।) फिर भी, ब्लैक और कैवेण्डिश से पूर्व 18वीं शताब्दी के अन्य वैज्ञानिक नए ढंग के थर्मामीटरों (जिनके साथ अच्छा पैमाना लगा था) से मात्रात्मक परीक्षण कर रहे थे। इस तरह के प्रश्न पूछे जाते थे—यदि 40° फॉरनहाइट और 100° फॉरनहाइट के ताप वाले पानी की बराबर की मात्राएँ मिला दी जाएँ तो इस मिश्रण का ताप क्या होगा ? और यदि पानी तथा पारद जैसे भिन्न द्रवों को गरम किया जाए और फिर मिला दिया जाए तो क्या होगा ?

पदार्थों के मिश्रण से सम्बन्धित परीक्षणों के तर्कों अथवा युक्तियों पर विचार करने की बजाय मैं ब्लैक द्वारा प्रयुक्त दूसरी तरह के प्रयोग के वर्णन करके विशिष्ट ऊष्मा की धारणा को समझाने का यत्न करूँगा। इस प्रयोग को बहुत ही थोड़े उपकरणों से आज भी आसानी से घर पर किया जा सकता है। पानी और पारद के बराबर आयतन, काँच के दो पतले पात्रों (उदाहरण के लिए, दो शराब के गिलास) में डालें, दोनों में एक-एक थर्मामीटर डालें और ठण्डक वाले दिन उन्हें बाहर ले जाएँ। दोनों का ताप 50°फा० पहुँचने तक उन्हें बाहर रहने दें (दोनों द्रवों में थर्मामीटर हिलाते रहें ताकि सारे द्रव का ताप लगभग समान रहे)। उसके बाद दोनों गिलासों को गरम कमरे में (70° फा० के करीब) ले जाएँ। दोनों को पास-पास मेज़ पर रखें और थर्मामीटर लगाकर देखते रहें कि दोनों को 60° फा० ताप तक पहुँचने में कितनी देर लगती है। प्रयोग को फिर दोहराएँ और देखें कि परिणाम क्या होते हैं।

खुशक़िस्मती और धैर्य से प्रयोग करने वाला देखेगा कि पारद और पानी का तापमान 10 डिग्री बढ़ने में लगने वाले समय का अनुपात (10 प्रतिशत

अशुद्धि की सीमा में) सभी प्रयोगों में समान है और इन अवधियों का अनुपात लगभग 2 है। पानी और पारद के समान आयतन हों तो पारद पानी से दो गुणा से कुछ जल्दी गरम होता है। और यदि आयतन की बजाय भार के अनुसार परिणामों का वर्णन करें तो, चूँकि पारद पानी की अपेक्षा 13.6 गुणा भारी है, अन्तर और भी स्पष्ट होगा। भार समान होने पर पारद पानी से 27 गुणा (2×13.6) जल्दी गरम हो जाता है। पानी और पारद के आकार अथवा उनके ताप की वृद्धि कुछ भी हो, यह अनुपात स्थिर रहता है।

यहाँ तक कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं निकलती। इस प्रकार के मात्रात्मक प्रेक्षण अनेक प्रकार की वस्तुओं को लेकर अधिकाधिक सावधानी-पूर्वक किए जा सकते हैं, परन्तु इनसे विज्ञान की कुछ प्रगति नहीं होती। मैं एक अत्यन्त सरल उदाहरण पर आवश्यकता से अधिक श्रम कर रहा हूँ किन्तु यही बात है, जिस पर मैं, पाठक के धैर्य छूट जाने का खतरा मोल लेकर भी, जोर देना चाहता हूँ। स्वयं माप से किसी नई धारणा की उत्पत्ति नहीं होती। जिन वैज्ञानिकों ने मापने के नए अथवा अधिक उन्नत उपकरणों के प्रयोग से प्रगति की, उन्हें यह ज्ञात था कि मापना क्या है, क्योंकि वे उचित समय पर नई धारणाओं अथवा धारणा-पद्धतियों को पेश करा सके थे। अभी तक जाँच-पड़ताल के किसी अछूते क्षेत्र के सम्बन्ध में (विशेपतया मानव के अध्ययन के सम्बन्ध में) मैंने एक तर्क सुना है, जो इस प्रकार है : मापने का एक उपकरण बनाइए, और अनेक परिवर्तियों को नियन्त्रण में रखते हुए अनेक माप लें, परिणामों का वर्गीकरण करें और एक नया वैज्ञानिक सिद्धान्त निकल आएगा। यह निरर्थक और बेहूदा बात है, विज्ञान के इतिहास की एक तरह की प्रक्रिया का विद्रूप मात्र। नवीन मापक उपकरण महत्त्व के हो सकते हैं और कल्पनाशील विचारकों के हाथों महत्त्वपूर्ण सिद्ध भी हो चुके हैं, परन्तु इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि इस अथवा किसी और मार्ग से वैज्ञानिक तरक्की हो ही।

अब मैं पारद और पानी के 'गरम होने' की गति के अन्तर की ओर फिर आता हूँ। इस प्रक्रिया को एक ढंग से यों व्यक्त किया जा सकता है कि नगण्य भार वाला एक अदृश्य द्रव, सुनिश्चित गति से उष्ण वातावरण से शीतल द्रव में बहता है। यदि यह कल्पना सही मान ली जाए तो कुछ ताप (10 अंश) के बढ़ने में जो समय लगा है वह नली में बहने वाले द्रव की मात्रा का माप होगा। इस तरल को हम 'ऊष्मा' कहेंगे। इसी पद्धति का अनुसरण करने पर हम कह सकते हैं कि पारद और पानी में ऊष्मा के लिए विभिन्न सामर्थ्य है क्योंकि

पारद के किसी भार को 10 अंश गरम करने के लिए जितनी ऊष्मा की आवश्यकता होती है, पानी की उसी मात्रा को 10 अंश ताप तक पहुँचाने के लिए 27 गुणा अधिक ऊष्मा की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार के तर्क द्वारा ब्लैक विशिष्ट ऊष्मा की धारणा पर पहुँचा। विशिष्ट ऊष्मा किसी वस्तु की ऊष्मा सामर्थ्य और पानी की ऊष्मा सामर्थ्य का अनुपात है बशर्ते कि दोनों वस्तुओं के भार बराबर हों। पानी की विशिष्ट ऊष्मा को एक मानकर विशिष्ट ऊष्माओं का पैमाना बना लेना आसान है। इस मामले में पारद की विशिष्ट ऊष्मा 1/27 अथवा 0.037 है (सही माप 0.033 है)।

ऐसा मालूम होता है कि विभिन्न तापों वाले द्रव जब मिश्रित किए जाते हैं तो विशिष्ट ऊष्मा की धारणा से ताप के परिवर्तनों से सम्बन्धित कोई सिद्धान्त बनाया जा सकता है। उदाहरण के रूप में, आसानी से हिसाब लगाया जा सकता है कि यदि समान आयतन के पानी और पारद को क्रमशः 40° फा० और 80° फा० के ताप के होते हुए मिलाया जाए और यदि पारद की विशिष्ट ऊष्मा 0.033 है तो इस मिश्रण का तापमान 60° फा० नहीं बल्कि 52° फा० के करीब होगा। परीक्षण द्वारा इस गणना की पुष्टि हो चुकी है। सच तो यह है कि इस तरह के परीक्षण से अनेक वस्तुओं की विशिष्ट ऊष्माओं का सही ज्ञान होता रहा है।

ब्लैक और उसके समकालीन वैज्ञानिक जमने और उबलने की सामान्य प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण मापें लीं और उनके परिणामों को सिद्धान्त रूप में व्यक्त किया। एक और साधारण घरेलू परीक्षण इस नई धारणा के विकास पर प्रकाश डाल सकता है। एक निश्चित परिमाण में (मान लीजिए एक औंस) कुटी हुई बर्फ एक काँच के गिलास में डालकर उसे गरम कमरे (सम्भवत: 70° फा० पर) में रख दें और उसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद थर्मामीटर से हिलाते रहें और समय नोट करें। आप देखेंगे कि थर्मामीटर 32° फा० पर ही बर्फ के पूरा पिघलने तक रहेगा, और बर्फ़ पिघलने में कुछ समय तो लगेगा ही। गत अनुच्छेद के विचारों के अनुसार यह कैसी प्रक्रिया है? हम कह सकते हैं कि ऊष्मा उस बर्फ में आ रही है और उसे पानी बना रही है। क्या हम इस बात का अन्दाज लगा सकते हैं कि क़ितनी ऊष्मा आ रही है? हाँ, सापेक्षिक शब्दों में। यदि समान परिस्थितियों में हम पानी की किसी मात्रा के गरम करने का समय मापें। इस परीक्षण को करने का एक ढंग यह हो सकता है: दो औंस बर्फ और 33-34° फा० तक ठण्डा किया दो औंस

पानी एक काँच के गिलास में डालें ; एक अन्य गिलास में 33-34° फा० तक ठण्डा किया पानी डालें। दोनों गिलासों को 70-75° फा० ताप वाले कमरे में पास-पास रख दें। एक औंस बर्फ लगभग एक घण्टे में पिघलेगी (पानी का आयतन तीन औंस हो जाएगा)। दूसरे गिलास में पहले पन्द्रह मिनट में पानी का ताप 8-10° फा० बढ़ जाएगा। यह ताप प्रति घण्टे में 32-40° फा० की दर से बढ़ता है—वह पानी और बर्फ के मिश्रण में एक घंटे में पहुँचने वाली ऊष्मा की मात्रा का एक पैमाना है। यदि विशिष्ट ऊष्मा की धारणा सन्तोषप्रद है तो 32-40° फा० तक गरम किया गया पानी 1° फा० तक गरम किए 128-160 औंस पानी के बराबर है, और ऐसा मालूम देता है कि इतनी ही ऊष्मा एक औंस बर्फ को पिघलाने के लिए आवश्यक है। ब्लैक ने इसी ऊष्मा को गलन की गुप्त ऊष्मा कहा और इसे अनेक तरह से मापा—इनमें से एक ढंग अनिवार्यतः उपरोक्त विधि के समान था। इसे हम प्रायः संगलन ऊष्मा कहते हैं। यदि पानी की किसी निश्चित मात्रा को निश्चित दर्जे तक गरम करने के लिए आवश्यक ऊष्मा को इकाई मान लें तो इस प्रकार की इकाइयों में हम इस गुप्त ऊष्मा को वर्णित कर सकेंगे।

गुप्त ऊष्मा की धारणा क्वथन प्रक्रिया पर भी लागू होती है। मालूम होता है कि एक पौंड पानी की भाप बनाने में जितनी ऊष्मा की आवश्यकता होगी उतनी ही ऊष्मा 970 पौंड पानी को 1° फा० तक गरम करने में लगती है। इसी तरह एक पौंड भाप के संघनन में उतनी ही ऊष्मा उसमें से निकलती है (पानी में भाप को छोड़कर और संघनित भाप के कारण प्रत्येक पौंड अधिक भार पर ताप की वृद्धि को जानकर यह ऊष्मा मालूम की जा सकती है)।

विशिष्ट और गुप्त ऊष्मा के विचारों के विकास में मैंने एक धारणापद्धति का प्रयोग किया है जिसमें यह माना गया है कि ऊष्मा एक विशेष प्रकार का अदृश्य तरल है। परन्तु ऊष्मा के तरल होने का विचार इस तर्क का आवश्यक अंग नहीं—क्योंकि, सभी जानते हैं, आजकल ऊष्मा का सम्बन्ध सूक्ष्म कणों की गति से जोड़ा जाता है। फिर भी यह विचार कि ऊष्मा 'कोई बहने वाली चीज़ है', विशिष्ट और गुप्त ऊष्मा की धारणा के शीघ्र विकास में बहुत सहायक हुआ है। कुछ भी हो, 19वीं शताब्दी के मध्य तक लोगों ने ऊष्मा को एक 'कैलोरी सम्बन्धी तरल' मानना छोड़ दिया था, जिसकी मात्रा गरम चीज़ों में ठण्डी चीज़ों की अपेक्षा अधिक समझी जाती थी अथवा पानी बनते समय बर्फ जिसे अपने भीतर ग्रहण करता था।

कैलोरी सिद्धान्त के उत्थान और पतन की कहानी का अध्ययन अनेक कारणों से लाभप्रद है। परन्तु इस सम्बन्ध में और अधिक विवेचन के लिए काफी स्थान की आवश्यकता होगी। यहाँ मैंने धारणा-पद्धति की ओर नहीं वरन् दो विशेष धारणाओं की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया है जो धारणापद्धति के बाद भी जीवित रहीं। विशिष्ट और गुप्त ऊष्मा की मूल परिभाषा आज भी वही है जो जोजेफ ब्लैक ने बताई थी। एक प्रवुद्ध परीक्षणकर्त्ता माप के उपकरणों की सहायता से मात्रात्मक परीक्षणों द्वारा नई धारणाएँ स्थिर करने में समर्थ हो सका। ब्लैक और उसके फौरन वाद के अनुयायी साधारण से गणित द्वारा ऊष्मा सम्बन्धी अनेक प्रक्रियाओं की गणनाविधि निश्चित करने और उनकी तरह भविष्यवाणी करने में समर्थ हुए थे। अंशयुक्त थर्मामीटर के आविष्कार से पूर्व ताप अथवा ऊष्मा से सम्बन्धित कोई नियम नहीं थे; परन्तु इस उपकरण के आविष्कार के बाद एक पीढ़ी के अन्दर ही एक अत्यन्त सन्तोषप्रद और लाभप्रद प्रणाली की रूपरेखा विकसित हो गई थी। माप के उपकरणों, मात्रात्मक परीक्षणों और तत्सम्बन्धी कुशल तर्क के आपसी सम्बन्ध जितनी अच्छी तरह ऊष्मा के सम्बन्ध में जोजेफ ब्लैक के कार्य में स्पष्ट हैं उतनी अच्छी तरह किसी अन्य कार्य में नहीं।

गणितीय सत्य और सम्भव ज्ञान

चाहे उपकरण कितने ही शुद्ध क्यों न हों, प्रयोगात्मक प्रेक्षणों में भूल रहने की सम्भावना रहती ही है। इनमें से कुछ भूलें तो किसी माप-योग्य राशि (जैसे, ताप) के परिवर्तनों को देखकर अन्य मापों आदि पर आधारित गणनाओं से ठीक की जा सकती हैं। जलस्थैतिक दाब में परिवर्तनों को नोट करके गहराई नापने की सम्भावित विधि के सम्बन्ध में इसे बताया गया है। इस तरह की भूलों के अलावा माप के सम्बन्ध में अनिश्चितता बनी रहती है। लगभग हर बार प्रेक्षक के प्रेक्षणों में मापों में कुछ अन्तर हो ही जाता है। और अपने परिणामों को लिखने के समय वह यह जरूर लिखता है कि इसमें इतना कम या ज्यादा होगा। नापने के फीते से दूरी नापने वाला कोई भी व्यक्ति कहेगा, 'यह कमरा 10 फुट 10 इंच लम्बा है परन्तु इंच के हिस्सों के सम्बन्ध में मुझे निश्चय नहीं।' वह परिणाम को यों भी लिख सकता है : 10 फुट 10 इंच $\pm$ 0.5 इंच। मतलब यह कि उसका मान $10\frac{1}{2}$ फुट $9\frac{1}{2}$ इंच और 10 फुट $10\frac{1}{2}$ इंच के बीच में है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हमारा यह मत कहाँ तक विश्वसनीय है कि किसी परीक्षण की आवृत्ति हो सकती है। एक पहले अध्याय में भी इस समस्या का हवाला दिया गया है कि प्रकृति की एकसमानता के सम्बन्ध में हमारी धारणा व्यावहारिक ज्ञान से उत्पन्न है। कुछ आधुनिक दार्शनिक अनुभव द्वारा प्राप्त सारे ज्ञान को ही शक्य मानते हैं—वह भले ही व्यावहारिक शब्दों अथवा कठिन वैज्ञानिक शब्दावली किसी में वर्णित हो। इस तरह के तर्क करने वालों पर मुझे पूर्ण सन्तोष है—इस स्थूल जगत के सम्बन्ध में सारा ज्ञान इसी शक्यता के पैमाने पर फैला है, जिसका एक छोर इतना अधिक सम्भाव्य है कि सामान्यत: हम इसे पूर्णतः निश्चित समझते हैं। आज का गणित के समान ज्ञान दूसरी तरह का अथवा दूसरी श्रेणी का समझा जाता है। यह ज्ञान इसलिए सुनिश्चित है कि यह अनेक परिभाषाओं से तर्क-सम्बन्धी प्रक्रिया से निकलता है। 19वीं शताब्दी से पूर्व गणित सम्बन्धी तथ्यों के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विचार कुछ और ही थे। परन्तु अनेक प्रकार रेखागणित की खोज और उसके बाद तार्किकों के कार्यों से अनेक व्यक्तियों ने यह निर्णय किया कि गणित के तथ्य वैसे ही हैं जैसा कि हम कहते है : 12 इंच = 1 फुट।

यूक्लिड के प्रमेय मान्यताओं से प्रादुर्भूत हैं, परन्तु दूसरे प्रमेयों का निर्माण दूसरी मान्यताओं से हुआ। प्रथम सामीप्यता यह है कि यदि हम रेखागणितीय आकृतियों को एक 'चपटी' सतह पर स्थापित करें तो जो कुछ हमें प्राप्त होगा उसका 'सही' प्रतिनिधित्व यूक्लिड के रेखागणित में है। सामीप्यता तथ्य के बहुत समीप है परन्तु यूक्लीड की रेखागणित के तथ्य दूसरे रेखागणित के तथ्यों की तरह (जिनमें आकृतियाँ चपटी सतह पर स्थित नहीं होतीं) वास्तविक मापों से परे हैं। जब हम विशाल दूरियों और अत्यन्त तीव्र गति वाले कणों पर विचार करते हैं तो समस्याएँ सामने आती हैं कि क्या यूक्लिड का रेखागणित परिणामों को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त समर्थ है। परन्तु यहाँ हम एक बार फिर सापेक्षिकता के सिद्धान्त और क्वाँटम भौतिकी के कठिन क्षेत्र की सीमा पर पहुँच जाते हैं। हमारे वर्तमान ध्येय के लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि गणित की पद्धतियाँ अमूर्त विचारों से सम्बन्धित होती हैं। तर्कसंगत प्रक्रियाओं द्वारा उन्हें लागू करने से विशाल सबल उपकरण प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग प्रेक्षणों और परीक्षणों से प्राप्त परिणामों के सम्बन्ध में हो सकता है।

जलस्थैतिकी और बॉयल के सिद्धान्त की साधारण बातों पर इस अध्याय में विस्तृत वर्णन किया गया है ताकि यह पता चले कि अमूर्त विचार परीक्षण-

कर्त्ता के लिए कितने सहायक सिद्ध होते हैं। आदर्श द्रव और आदर्श गैस की धारणाएँ पानी और वायु जैसे विशिष्ट पदार्थों के गुणों का अध्ययन करने वालों के लिए बहुत मूल्यवान सिद्ध हुई हैं। गणित के कुछ तथ्यों से कुछ नियमों का प्रादुर्भाव होता है, जिनमें प्रेक्षणों तथा परीक्षणों से प्राप्त सम्भव ज्ञान को कुछ विधियों से सुनिश्चित किया जा सकता है। धारणाओं और धारणा-पद्धतियों, जो कि आधुनिक विज्ञान के ताने-बाने हैं, का ध्यानपूर्वक विवेचन किया जाए तो पता चलेगा कि ये गणित के तथ्यों और मात्रात्मक प्रेक्षणों का विचित्र मिश्रण हैं। विज्ञान के निर्माण में गणितज्ञों, उपकरण-निर्माताओं और परीक्षण-कर्त्ताओं सभी का योग रहा है। इस पुस्तक का सन्तुलन कायम रखने के लिए मात्रात्मक मापों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम और गणित के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जाएगा। इतने पर भी यह मान लिया जाएगा कि पाठकों को मालूम है कि आधुनिक भौतिकी और रसायन की धारणा-पद्धतियाँ गणित के नए साधनों तथा माप के नए उपकरणों के विकास से ही सम्भव हो सकीं।

विज्ञान की जानकारी प्रदान करने वाली किसी पुस्तक में सिद्धान्त और क्रिया में सन्तुलन रखना अत्यन्त कठिन है। और इसी तरह मात्रात्मक तथा गुणात्मक तर्क और परीक्षण के महत्त्व को समझाना और अधिक कठिन है। कोई इसी बात पर जोर दे सकता है कि आधुनिक विज्ञान का इतिहास यही प्रकट करता है कि विकास की कोई एक प्रक्रिया अथवा एक मार्ग नहीं है; किसी काल में किन्हीं प्रक्रियाओं द्वारा तेज़ी से प्रगति हुई और दूसरे समय में दूसरी प्रक्रियाओं द्वारा। गणित और माप आदि को अनुपयुक्त महत्त्व नहीं दिया जा सकता और उनकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती।

धारणापद्धति का उद्गम : रासायनिक क्रान्ति

इस अध्याय में गणित नहीं है ; फिर भी जो पाठक विज्ञान के बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं या इससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, उनको इस अध्याय में बहुत कठिनाई होगी। यहाँ मैं एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक क्रान्ति की चर्चा करूँगा। यह कहना ग़लत न होगा कि इसका सम्बन्ध रसायन के जन्म से है, क्योंकि इस वृत्तान्त के केन्द्रीय पात्र, लावासिये, को बहुत समय से आधुनिक रसायन का जन्मदाता माना जा रहा है।

यहाँ इस कुछ-कुछ जटिल कथा को विज्ञान के इतिहास की किसी युग-प्रवर्तक घटना के रूप में नहीं दे रहा हूँ। मेरा आशय तो इस उदाहरण से यह दिखाना है कि प्रायोगिक प्रेक्षणों के फलस्वरूप धारणापद्धति किन पदों में परिपक्व-होती है। बात यह है कि लावासिये ने जिस प्रकार अपने नए विचारों को विकसित किया, उसका लगभग पूरा वर्णन हमें प्राप्त है। हमें स्पष्टतः समझ में आ सकता है कि प्रायोगिक परिणामों का अर्थ लगाना कितना कठिन है, क्योंकि अन्तिम चरण तक आकर लावासिये ने एक प्रयोग की ग़लत व्याख्या कर डाली। फुटबाल के खेल के किसी महत्त्वपूर्ण क्षण का धीमी गति वाला चल-चित्र देखने से जिस प्रकार हम समझ लेते हैं कि वहाँ क्या हुआ, वैसे ही यहाँ हम एक क्रान्तिकारी वैज्ञानिक खोज के विकास-क्रम का अध्ययन कर पाएँगे। इस घटना के और भी कई रोचक पहलू हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि कोई वैज्ञानिक खोज प्रभावकारी तभी होती है जब उसके लिए उचित वातावरण तैयार हो गया हो। परिवर्तियों पर नियन्त्रण का महत्त्व भी प्रकट होता है ; रसायनज्ञ के लिए इसका अर्थ कई बार पदार्थों की विशुद्धता पर नियन्त्रण रखना होता है। अन्त में, हम यह भी देखेंगे कि किस प्रकार एक धारणापद्धति किस प्रकार दूसरी पद्धति की स्वीकृति के मार्ग में बाधक हो सकती है और किस प्रकार एतदर्थ मान्यताओं का सहारा लेकर किसी विनाशगामी सिद्धान्त की रक्षा कैसे की जाती है।

लावासिये के नाम से सम्बन्धित रासायनिक क्रान्ति को समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि पहले तो दहन की प्रक्रिया का आधुनिक धारणाओं

की भाषा में वर्णन किया जाए और फिर यह दिखाया जाए कि किस प्रकार लगभग सौ वर्ष तक दूसरे ही विचार प्रचलित रहे। हाई स्कूल में रसायन पढ़ने वाला प्राय: प्रत्येक विद्यार्थी 'जानता है' कि वायु मुख्य रूप से ऑक्सीजन गैस और नाइट्रोजन गैस का मिश्रण है। वह यह भी 'जानता है' कि जब मोमबत्ती, माचिस या सिगरेट 'जलती है' तो ऊष्मा और प्रकाश की उत्पत्ति होती है, जो एक ऐसी रासायनिक प्रतिक्रिया का परिणाम हैं जिसमें आक्सीजन शामिल होती है। इस प्रक्रिया को 'दहन' कहते हैं। यदि किसी पदार्थ की पर्याप्त मात्रा को किसी बंद स्थान में जलाया जाए तो दहन रुक जाता है क्योंकि आक्सीजन समाप्त हो जाती है। यह क्या है जो जल रहा है? कुछ विद्यार्थी उत्तर देंगे कि यह कार्बन यौगिक हैं। कुछ यह भी बताएँगे कि दहन से कार्बन डायाक्साइड (CO_2) और जल (H_2O) की उत्पत्ति होती है। पिघली हुई बंग को यदि खुली वायु में बहुत देर तक और बहुत ऊँचे ताप पर गरम किया जाए तो चमकदार धातु के ऊपर एक मैला झाग-सा जम जाता है जो स्पष्टत: कोई धातु नहीं है। यह क्या हो गया? अच्छे विद्यार्थी उत्तर देंगे कि यह ऑक्सीजन के साथ योग हो गया है—ऑक्साइड बन गया है। ठीक है। अब मान लीजिए कि इस अधातु पदार्थ, इस ऑक्साइड, को कार्बन के साथ गरम करें, तो क्या होगा? कार्बन ऑक्सीजन के साथ मिल जाएगी, कार्बन का ऑक्साइड बनेगा और धातु अलग रह जाएगी। कोई भी सामान्य पढ़ा-लिखा व्यक्ति बता देगा कि कच्चे लोहे से जब लोहा बनाया जाता है तो भी यही होता है।

बात बड़ी सीधी-सादी है। हाई स्कूलों की प्रयोगशालाओं में विद्यार्थियों को इसे प्रमाणित करने का काम दिया जा सकता है। किन्तु अमरीकी क्रान्ति के समय में सौ में से एक दार्शनिक या परीक्षणकर्त्ता आपको इस व्याख्या का संकेत तक नहीं दे सकता था, जिसे आज हम 'ठीक' कहते हैं। वे बड़े पाण्डित्य-पूर्ण ढंग से 'फ्लोजिस्टन' की बात करते, जिसका नाम इस पुस्तक के पाठकों में से रसायनशास्त्रियों के अतिरिक्त शायद किसी ने कभी न सुना होगा। न्यूटन के सौ वर्ष बाद भी अभी तक वैज्ञानिक दहन-जैसी सीधी-सादी बात के बारे में उलझे हुए थे। यह बात प्रत्येक उस व्यक्ति को समझनी चाहिए जो विज्ञान को समझना चाहता है और जो बिना सोचे-समझे 'वैज्ञानिक विधि' की बात करता है।

रासायनिक क्रान्ति और अमरीकी क्रान्ति लगभग समकालीन थीं। अर्थात् रासायनिक क्रान्ति फ्रांसीसी क्रान्ति से कुछ समय पहले हुई। लावासिये को,

जिसने अपने पूर्वगामियों के कार्य को आधार बनाकर अकेले ही रासायनिक क्रान्ति का आविर्भाव किया, क्रान्तिकारी न्यायालय के हाथों 1794 में अपनी जान से हाथ धोने पड़े (यद्यपि वह इस महान् सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के मूल लक्ष्य के विरुद्ध कदापि नहीं था)। उसके एक वैज्ञानिक सहयोगी (फोरक्राय) ने, जो उस समय के सत्ताधारी अतिवादी दल का भारी समर्थक था, लावासिये को धोखा दिया या नहीं दिया—यह इतिहास का एक रोचक प्रश्न है। वास्तव में इस घटना से बहुत-से इतिहास सम्बन्धी रोचक पहलू निकलते हैं। अन्तिम विवाद में एक और प्रमुख व्यक्ति था प्रीस्ले। वह यूनिटेरियन पादरी था, जिसे फ्रांसीसी विधान सभा ने सम्मानक नागरिक बना लिया था। जिस वर्ष लावासिये की हत्या हुई उसी वर्ष प्रीस्ले प्रतिक्रियावादी अंग्रेजों के दल से जान छुड़ाने के लिए अमरीका चला गया। 18वीं शताब्दी के अन्तिम अंश में विज्ञान और राजनीति का परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए सामग्री की कमी नहीं, किन्तु हमारे प्रस्तुत विषय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

जिन पदों द्वारा लावासिये अपनी नई धारणापद्धति पर पहुँचा, उनका वर्णन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि उसने प्रारम्भ कहाँ से किया। उसने और उसके समकालीनों ने दहन सम्बन्धी एक सिद्धान्त—फ्लोजिस्टन सिद्धान्त—अपने पूर्वजों से पाया था। वास्तव में इस घटना को ऑक्सीजन सिद्धान्त द्वारा फ्लोजिस्टन सिद्धान्त को पदच्युत करना भी कहा जा सकता है, क्योंकि लावासिये द्वारा विकसित नई धारणापद्धति ने फ्लोजिस्टन की सारी धारणा ही बेकार सिद्ध कर दी। किन्तु उस समय के लोगों ने इसे तुरन्त स्वीकार नहीं किया। फ्लोजिस्टन सिद्धान्त का आखिरी कदम (जिस पर इस अध्याय के अन्त में विचार किया जाएगा) पुराने विचारों की सुदृढ़ व्यापकता का एक रोचक उदाहरण है।

फ्लोजिस्टन सिद्धान्त का महत्त्व

हमें यह समझ लेना चाहिए कि अपने दिनों में फ्लोजिस्टन सिद्धान्त प्रगति की ओर एक विशिष्ट पग था। 16वीं और 17वीं शताब्दियों में जो लोग आजकल रसायन कही जाने वाली बातों का कुछ अर्थ निर्धारित करना चाहते थे, बड़ी उलझनों में फँसे हुए थे। उनको कीमियागरों तथा क्रियात्मक लोगों (विशेषकर धातु-निर्माताओं) से 'तत्त्वों' के बारे में बहुत-से तथ्य, जिनका आपस में कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता था, तथा विचित्र विचार मिले थे। अरस्तू

की पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल सम्बन्धी धारणाएँ उनके मस्तिष्क पर अब भी हावी थीं। 1660 में बॉयल ने 'संशयवादी रसायनज्ञ' (स्केप्टीकल कैमिस्ट) नाम की एक पुस्तक लिखी। इसमें उसने तथ्य और कल्पना को बहुत कुछ अलग-अलग किया, जो विचित्र शब्दजाल द्वारा एक-दूसरे के साथ उलझे हुए थे। आइए, हम उन सामान्य प्रक्रियाओं पर दृष्टिपात करें, जिसकी व्याख्या न्यूटन और उसके समकालीनों को सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में करनी पड़ी और जिनको उन्होंने एक धारणापद्धति में बाँधा। कुछ पदार्थों को लकड़ी के कोयले के साथ गरम करने से धातुएँ उपलब्ध होती थीं (यह कच्ची धातु से धातु प्राप्त करने की प्राचीन विधि थी।) देखने में धातुएँ पहले-पहल एक-जैसी लगती थीं तथा उनके ऊपरी गुण समान थे। (आज भी पदार्थों का धातुओं और अधातुओं में वर्गीकरण साधारण-बुद्धि को ठीक मालूम पड़ता है)। अन्य ठोस पदार्थों को 'मिट्टी' कहा जाता था (जिन्हें आजकल हम ऑक्साइड कहते हैं)। पत्थर के कोयले या गंधक आदि को 'दहनशील मूल तत्त्व' कहा जाता था। कुछ मिट्टियाँ ऐसी थीं जिन्हें कोयले के साथ गरम किया जाए तो धातुएँ निकलती थीं इस प्रक्रिया को उलटा भी जा सकता था। जैसे कई बार, सदैव तो नहीं, गरम करने पर धातु (उदाहरणत: वंग) से मिट्टी जैसा पदार्थ बन जाता था। इस प्रकार के कृत्रिम मिट्टी जैसे पदार्थ (आधुनिक भाषा में ऑक्साइड) को कोयले के साथ गरम करने पर धातु पुन: प्राप्त की जा सकती थी। इस प्रकार की विशुद्ध मिट्टी को धातु-भस्म कहा जा सकता है। धातु को गरम करके इसे बनाने की प्रक्रिया को 'निस्तापन' कहते थे।

प्रश्न यह था कि मध्य-युग तथा उससे भी पहले से चले आ रहे इन तथ्यों को आपस में जोड़ा कैसे जाए? इसके लिए फ्लोजिस्टन नामक काल्पनिक तत्त्व का सहारा लिया गया। फ्लोजिस्टन का अरस्तू के प्राचीन तत्त्व, अग्नि, से निकट सम्बन्ध था, परन्तु यह स्पष्ट नहीं था कि यह सम्बन्ध है किस प्रकार का। स्पष्टता चाहने वाले लोगों को प्रकट दिखाई देता था कि धातुभस्मों से धातु बनाने और धातु से धातुभस्म बनाने की प्रक्रिया में कोई मूल-तत्त्व अवश्य होगा। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि उसको फ्लोजिस्टन कहा जाए। धातुभस्म में फ्लोजिस्टन को मिला देने पर धातु बन जाती थी और धातु में से इसे निकाल देने पर धातु-भस्म बन जाती थी। फ्लोजिस्टन एक प्रकार से धातु-निर्माता तत्त्व था। आप देखेंगे कि इस तर्क-धारा में लगभग एक व्यावहारिक धारणा शामिल है। प्राकृतिक अवस्था में सोना या कभी-कभी कुछ और धातुओं के अतिरिक्त प्राय: धातुभस्में

ही मिलती हैं, धातुएँ नहीं। इसलिए धातुभस्में अधिक सरल पदार्थ प्रतीत होते थे और लगता था कि इन्हें धातु बनाने के लिए इनमें कुछ और जोड़ना पड़ेगा। धातुएँ इतनी समान थीं, अतः प्रकट था कि यह 'कुछ और' सभी अवस्थाओं में एक ही होगा। 1703-31 के बीच के काल में बेशर और उसके शिष्य स्टाह्ल ने एक पुस्तकमाला प्रकाशित की और इस 'कुछ और' को फ्लोजिस्टन नाम दिया।

इस जटिल उलझन को सुलझाने की यह एक कुँजी थी और इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया गया। इस धारणा से एक ढाँचा प्राप्त होता था जिसमें समस्त प्रत्यक्षतः असम्बद्ध प्रक्रियाएँ जड़ी जा सकती थीं। यह निर्धारित करना सरल था कि कुछ पदार्थों में फ्लोजिस्टन अधिक है और कुछ में कम। फ्लोजिस्टन स्वयं क्या था? यह सम्भवतः अदृश्य था। जिन पदार्थों में फ्लोजिस्टन अधिक था, वह शीघ्र आग पकड़ते थे। वास्तव में अग्नि को फ्लोजिस्टन का ही प्रकट रूप समझा जाता था या यह समझा जाता था कि अग्नि इसी के साथ काम करती है। (कुछ लोग अभी भी अग्नि को एक तत्त्व मानते थे)। माना जाता था कि लकड़ी के कोयले में फ्लोजिस्टन बड़ी मात्रा में उपस्थित है और धातुभस्म के साथ गर्म करने पर यह अपना फ्लोजिस्टन छोड़ देता है, जो धातुभस्म के साथ मिलकर धातु बनाता है। कोयला अपने आप जलता है तो फ्लोजिस्टन अग्नि के रूप में प्रकट होता है या वायु में मिल जाता है। गंधक प्रकृति में स्वतन्त्र रूप से मिलता था। इसको गरम किया जाता तो यह जलता था और इसमें से एक तेज़ाब निकलता था, जिसे आजकल गंधकाम्ल कहते हैं। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता था कि गंधक गंधकाम्ल है, जिसमें बहुत-सा फ्लोजिस्टन शामिल है। जलने पर फ्लोजिस्टन निकल जाता है और तेज़ाब रह जाता है।

18वीं शताब्दी के रसायनज्ञों के विचार-क्रम को प्रकट करने के लिए हम इन परिवर्तनों को चित्र-रूप में निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं :

धातुभस्म + फ्लोजिस्टन (लकड़ी के कोयले से) → धातु

धातु (वायु में गरम करने पर) → धातुभस्म + फ्लोजिस्टन (वायु में जाता है)।

लकड़ी का कोयला (जलाए जाने पर) → फ्लोजिस्टन (वायु में जाता है), के साथ-साथ अग्नि प्रकट होती है।

फ्लोजिस्टन-मिश्रित तेज़ाब (हमारे लिए गंधक) जलाने पर → फ्लोजिस्टन (वायु में शामिल होता है) + तेज़ाब (गंधकाम्ल)

अमरीकी क्रान्ति के समय फ्लोजिस्टन सिद्धान्त को सब जगह माना जाता था और कालेजों के विद्यार्थियों को प्राकृतिक दर्शन के पाठ्यक्रम में पढ़ाया जाता था। प्रोफेसर सैम्युअल विलियम्स के जो 1780 से 1788 तक हार्वर्ड में गणित तथा प्राकृतिक दर्शन के हॉलिस प्रोफेसर थे, भाषण-लेखों से यह स्पष्ट होता है कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त कैसी विश्वस्त रीति से विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत किया जा सकता था। 'कोई दहनशील पदार्थ लेकर उसे जलाओ या आग लगा दो। इसी अवस्था में इसे किसी ऐसे बर्तन में बन्द कर दो जिसमें वायुमण्डलीय वायु की कुछ मात्रा हो।' (चित्र 24)।
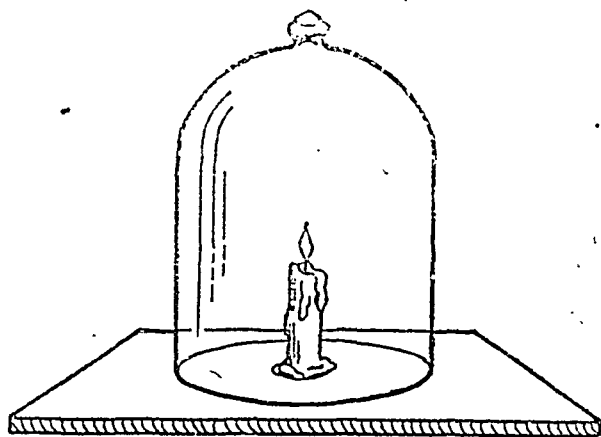
चित्र 24--एक जलती हुई मोमबत्ती पर जब बेल जार रखा जाता है, तो मोमबत्ती तुरन्त बुझ जाती है। हमारी आधुनिक विचारधारा के अनुसार जार की ऑक्सीजन समाप्त हो गई है। फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के अनुसार वायु फ्लोजिस्टन से संतृप्त हो जाती है तथा अधिक नहीं ले सकती।

प्रभाव : दहन थोड़ी देर जारी रहेगा और फिर बन्द हो जाएगा। दहनशील पदार्थ का कुछ भाग राख हो गया और शेष भाग वैसा का वैसा है। और वायु बदली हुई दिखाई देती है।...यह उस चीज़ का प्रदर्शन है जिसे रसायनज्ञ फ्लोजिस्टन कहते हैं और इस बात का भी कि वायु में यह समाया हुआ है। बन्द वायु में दहनशील पदार्थ उस समय तक जलता रहता है जब तक वायु ऐसी चीज से पूर्ण नहीं हो जाती जो और अधिक दहन को रोक दे। बर्तन बन्द होने के कारण वायु जिस चीज से भी परिपूरित हुई हो, वह चीज उसी बर्तन में बन्द रहती है और निकल नहीं सकती।

"इस प्रकार इस प्रयोग से प्रकट होता है कि फ्लोजिस्टन **अवश्य ही कोई वास्तविक वस्तु** है और वायु इसी से परिपूरित है। दहनशील पदार्थ को बोतल में बन्द कर देने से सिवाय इसके और क्या हो सकता है कि किसी वास्तविक वस्तु का निकलना या फैलना रुक जाए? इससे यह भी स्पष्ट है कि जब तक वायु दहनशील पदार्थ में से इस वस्तु को लेती रहती है, तब तक वह चीज़ जलती रहती है और जैसे ही वायु परिपूरित हो जाती है तथा अधिक फ्लोजिस्टन नहीं ले सकती, दहन बन्द हो जाता क्योंकि जलने वाली चीज में से और अधिक फ्लोजिस्टन नहीं निकल सकता। इसलिए जब और ताजी वायु आने दी जाएगी, ताकि फ्लोजिस्टन मिल सके तो दहन फिर प्रारम्भ हो जाएगा।··· इसी से **फ्लोजिस्टीकृत** तथा **अ-फ्लोजिस्टीकृत**-वायु शब्द बनाये गए हैं। फ्लोजिस्टीकृत वायु वह है जो फ्लोजिस्टन से पूर्ण हो और अ-फ्लोजिस्टीकृत वायु उसे कहा जाता है जिसमें फ्लोजिस्टन न हो अर्थात् जिसमें दहनशीलता का यह प्रमुख तत्त्व न हो।" इससे स्पष्ट है कि प्रोफेसर विलियम्स फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के बड़े प्रभावकारी प्रवक्ता थे।

वैज्ञानिक खोजों की अवहेलना संभव है

इस सारे तर्क में एक सरल-सा दोष था। मजे की बात यह है कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के डगमगाने से (जड़ से उखड़ने की तो बात दूर रही) 150 वर्ष पहले भी इस दोष का ज्ञान था। यह विज्ञान के दाँव-पेच में फँसे सिद्धान्त का एक सुन्दर उदाहरण है। वह दाँव-पेच यह है कि वैज्ञानिक खोज का महत्त्व तभी पहचाना जाता है जब उसके लिए वातावरण बन चुका हो। 1630 में ही (सन् का ध्यान रहे—बॉयल के जन्म से भी पहले) एक फ्रांसीसी यां रे ने वंग के निस्तापन का अध्ययन करके यह दिखाया कि धातुभस्म का भार उस वंग से अधिक था जिससे यह तैयार किया गया था। उसने इसकी व्याख्या भी दी, जो 150 वर्ष उपरान्त लावासिये के बहुत समीप और अनुकूल थी। उसने कहा कि 'भार में अधिकता वायु से आती है जो बर्तन के अन्दर अधिक घनी और भारी तथा अधिक चिपकने वाली बन जाती है···यह वायु धातुभस्म के साथ मिल जाती है···और इसके बहुत छोटे-छोटे कणों से मिल जाती है···।' 1673 में बॉयल ने इस तथ्य को प्रस्थापित कर दिया कि निस्तापन से धातु का भार बढ़ जाता है किन्तु कारणों के सम्बन्ध में उसने रे के चातुर्यपूर्ण अनुमान (यह इससे अधिक कुछ नहीं था) का अनुमोदन नहीं किया। वास्तव में, उसने

तो अपने काम से अपने बाद आने वाले जाँचकारों को भटका दिया। अब पुनरावलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि यदि वह अपने ही प्रयोगों का ही अधिक साहसपूर्वक अनुसरण करता तो फ्लोजिस्टन सिद्धान्त प्रस्तावित ही न होता और यदि होता भी तो गंभीरतापूर्वक स्वीकार न किया जाता। लेकिन काल्पनिक इतिहास बनाना बड़ा सरल है। मुझे सन्देह है कि बॉयल से भी अधिक प्रतिभावान् कोई व्यक्ति 17वीं शताब्दी में ऑक्सीजन खोज निकालता और दहन तथा निस्तापन में इसका पार्ट दिखा पाता? भौतिकी और रसायन दोनों की अनेक बातें अज्ञात थीं जो अनेक लोगों के परिश्रम से ही दूर हो सकीं।

कुछ भी हो, बॉयल ने यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि अरस्तू का तत्त्व, अग्नि, कांच के बर्तन की दीवारों में से भीतर चला गया और धातु से मिल गया, जिससे धातु का भार बढ़ गया। निश्चय ही यह एक पीढ़ी बाद फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के समान नहीं था। एक प्रकार से यह उसके विपरीत था, क्योंकि बॉयल के मतानुसार निस्तापन में धातु में कोई चीज़ याने अग्नि **जोड़ी जाती थी** जब कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के अनुसार कोई चीज फ्लोजिस्टन **निकाली जाती थी**। किन्तु बॉयल के लेखों में ऊष्मा और ज्वाला (जो अग्नि और निस्तापन की विशिष्टताएँ हैं) पर ध्यान केन्द्रित किया, वायु पर नहीं; रे की व्याख्या में वायु पर जोर दिया गया था।

अगले 150 वर्षों में, ऐसा प्रतीत होता है, रे के विचार तो भुला दिये गए किन्तु निस्तापन के तथ्य नहीं भुलाये गए। पूरी 18वीं शताब्दी भर इस बात का ज्ञान रहा कि धातुभस्म का भार धातु से अधिक होता है किन्तु यह तथ्य फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के लिए घातक नहीं माना गया। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। क्या इसका अर्थ यह है कि उस काल के परीक्षणकर्त्ता दार्शनिक बुद्धू थे? नहीं। इससे केवल यह प्रकट होता है कि विज्ञान के जटिल मामलों में विभिन्न प्रकार के तथ्यों के कारण खोजने पड़ते हैं और उन सब को मिलाकर धारणापद्धति बनानी पड़ती है। एक अकेला तथ्य सारी व्यवस्था को झुठलाने के लिए पर्याप्त नहीं होता। किसी भी धारणापद्धति का परित्याग इस आधार पर नहीं किया जाता कि कुछ तथ्य ऐसे हैं जिनके साथ उसका मेल नहीं बैठता। धारणापद्धति में या तो सुधार किया जाता है या उससे उत्तम कोई पद्धति उसका स्थान लेती है। उसके स्थानापन्न के बिना उसे छोड़ा ही नहीं जाता।

1770 में केवल इसी बात का ज्ञान नहीं था कि धातु-भस्म का भार उस

धातु से अधिक होता जिससे वह बना हो (जिससे हम यह अर्थ निकालते हैं कि इसके बनने में कुछ और भी जुड़ा होगा), अपितु स्वयं बॉयल ने 1660 में ही यह दिखा दिया था कि अग्नि के लिए वायु आवश्यक है। लगभग उसी समय जान मेयो और राबर्ट हुक ने ज्वलन और श्वासक्रिया के बारे में लिखते हुए कहा कि 'पशुओं के साँस लेने से (वायु की) लोच वैसे ही समाप्त हो जाती है जैसे ज्वाला के जलने से।' पचास वर्ष पश्चात स्टीफ़न हेल्स ने भी ऐसी ही बात कही। परन्तु ये सभी लोग उचित समय आने से पहले की बातें कर रहे थे। उनके लेखों को फिर से पढ़ने पर उनके विचित्र शब्दों और उलझे हुए विचारों के बावजूद समझ में आता है कि उन्होंने यह दिखला दिया था कि जिस वायु में कोई चीज़ जल चुकी हो या पशु साँस ले चुके हों वह और अधिक अग्नि या जीवन को बनाए रखने के योग्य नहीं रहती। उन्होंने यह भी दिखा दिया था कि ऐसा होने पर वायु का आयतन कम हो जाता है। ये सारी बातें सही व्याख्या को मानो हमारे सामने पहुँचा देती हैं किन्तु 18वीं शताब्दी के रसायनज्ञों के सामने नहीं। वे फ्लोजिस्टन की भाषा में ही बात करते रहे और अपनी सीमाओं के अन्तर्गत यह धारणा फलप्रद भी थी।

गैसों के साथ प्रयोग सम्बन्धी कठिनाइयाँ

कोई रसायनज्ञ फ्लोजिस्टनवादियों के लेख पढ़ता है तो सिर पकड़कर बैठ जाता है। उसे कुछ समझ में नहीं आता और वह एक विचित्र संसार में पहुँच जाता है। किन्तु वह धैर्य से काम ले और रुचि रखे तो शीघ्र ही समझ जाएगा कि कठिनाई का मुख्य कारण था प्रयोगकर्त्ताओं का गैसों से काम न ले सकना और उनकी विशिष्टता निर्धारित न कर पाना। इस तथ्य से सम्परीक्षण की कठिनाई सामने आती है। 18वीं शताब्दी के रसायनज्ञ धातुओं, धातुभस्मों तथा गंधक, कोयला और फास्फोरस आदि दहनशील वस्तुओं को पहचान सकते थे और उनका प्रयोग कर सकते थे क्योंकि वे ठोस थीं। कुछ द्रव जैसे, गंधकाम्ल, जल और पारा भी पहचाने जाते थे। लेकिन गैसों के बारे में बड़ी उलझन होती थी। नाइट्रोजन और कार्बन डायाक्साइड दोनों ऐसी गैसें थीं जो जलने में सहायक नहीं थीं। वैसे ही हाइड्रोजन और कार्बन मोनॉक्साइड दोनों ही ऐसी थीं जो स्वयं जलती थीं। इनके बारे में उलझनें थीं। थोड़ी-सी रंगदार गैसों को छोड़कर शेष सब गैसें एक जैसी दिखाई देती हैं। वे एक समान संपीड्य हैं और गरम करने पर लगभग एक समान ही फैलती हैं। उनके घनत्व (अर्थात

एक इकाई आयतन का भार) भिन्न है किन्तु उन दिनों घनत्व निर्धारित करना सरल नहीं था। 18वी शताब्दी में तो ठोस और द्रव के भार और घनत्व के भेद का भी कई बार पहचाना नहीं जा सकता था। प्रत्येक गैस के रासायनिक गुण विशेष हैं। हरेक की निर्माण-विधि भी भिन्न है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण अन्त में ये उलझनें सुलझ सकीं।

175 वर्ष पहले के रसायनज्ञों की कठिनाइयों को समझने के लिए कल्पना कीजिए कि आप एक प्राथमिक विद्यार्थी हैं। प्रयोगशाला में आपके सामने काँच की बोतलें—जिनमें वायु, ऑक्सीजन या हाइड्रोजन भरी है—रख दी जाती हैं, जिनमें से एक में वायु है जो ईथर वाष्प से संपृक्त है। अब आप से पूछा जाए कि सभी बोतलों के अन्दर 'वायु' या गैसें एक समान हैं या नहीं ? तो सबसे अलग आपको वह बोतल दिखाई देगी जिसमें ईथर-वाष्प से संपृक्त वायु है (यद्यपि यह मुख्य रूप से वायु ही है)। विद्यार्थी उनको पहचानने के लिए उन्हें देखेगा, सूँघेगा और मामूली परीक्षण—जैसे घुलनशीलता आदि देखना—करेगा। इसके अतिरिक्त वह कोई विधि नहीं जानता। बॉयल के समय से लेकर प्रीस्ले के समय तक के सभी परीक्षणकर्त्ताओं के सामने यही समस्या थी। वे विभिन्न 'वायुओं' के बारे में बात करते थे परन्तु यह नहीं जानते थे कि भिन्नता वास्तविक है या किसी मिलावट के कारण। 1777 में प्रीस्ले ने लिखा :—

'वान् हैलमोंट और उनके पश्चात् आने वाले रसायनज्ञ इस बात से परिचित थे कि कुछ वाष्प दम घोंटते हैं, ज्वाला को बुझा देते हैं और कुछ स्वयं भी जलते हैं।······परन्तु उनको इस बात का कुछ ज्ञान नहीं था कि ये वस्तुएँ (यदि उनको मालूम रहा होगा कि वे वस्तुतः वस्तुएँ थीं, केवल गुण नहीं अथवा ये प्रभाव पैदा करने वाली पदार्थों की प्रभावशीलता नहीं। **स्थायी लोचपूर्ण वाष्प** के रूप में अलग-अलग दिखाई जा सकती हैं···न ही यह पता था कि गंध क्या चीज़ है। वास्तव में सामान्य वायु के अतिरिक्त उन्हें किसी अन्य वायु का ज्ञान नहीं था। इसलिए वह यह शब्द अन्य किसी भी वस्तु के लिए प्रयुक्त न करते थे ···।' (प्रीस्ले ने 'वायु' शब्द को उन्हीं अर्थों में प्रयोग किया जिन अर्थों में अब 'गैस' शब्द का प्रयोग होता है।)

बॉयल के काल के पश्चात् गैसों के अध्ययन का इतिहास सौ वर्ष का है। तकनीक में कई महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। उनको प्रीस्ले ने महत्त्व दिलाया। उसने 1772 में 'वायुओं' के साथ बड़े पैमाने पर सर्वथा भौतिक प्रयोग किए। उसने इन वायुओं या गैसों को व्यवहार में लाने की तकनीक में भी अनेक सुधार किए

जिससे परीक्षण-विधियों में बहुत अधिक सुविधा हो गई। इनमें प्रमुख था द्रोणिका (चित्र 25)। प्रीस्ले से पहले केवल तीन प्रकार के वायु ज्ञात थे। कुछ ही वर्षों में उसने 11 और खोज निकाले, जिनमें ऑक्सीजन भी शामिल थी। यद्यपि यह क्रान्तिकारी नहीं विकासकारी परिवर्तन था, तो भी इसमें तकनीक का महत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है।
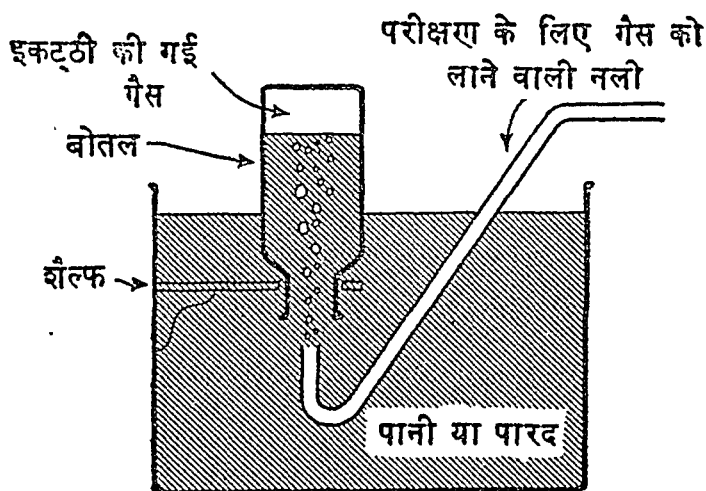
चित्र 25—गैस द्रोणिका का अनुप्रस्थ चित्र। बोतल को द्रोणिका के पानी या पारद में डुबोकर उसे द्रव से भर दिया जाता है और फिर उसे शैल्फ पर टिका दिया जाता है। परीक्षण के लिए इकट्ठी की जाने वाली गैस के बुलबुले उल्टी बोतल में द्रव को हटाकर आने लगते हैं।

लावासिये की कुँजी

लावासिये, जिसने नई धारणापद्धति प्रस्तुत की, फ्रांस का एक नवयुवक था जो विज्ञान में सामान्य रुचि रखता था। उसकी नई पद्धति का प्रारम्भ शायद फास्फोरस और गंधक जलाने से सम्बन्धित उसके प्रयोगों से हुआ (चित्र 26)। 1772 के एक प्रसिद्ध लेख में उसने लिखा है :—

"लगभग आठ दिन हुए, मैंने देखा कि गंधक जलता है तो उसका भार कम नहीं होता, बल्कि बढ़ता है...फास्फोरस का भी यही हाल है। भार बढ़ने का कारण वायु की वह विलक्षण मात्रा है जो दहन के समय निश्चित हो जाती

है और वाष्पों के साथ मिल जाती है।

"यह खोज मेरे उन प्रयोगों के आधार पर है जिनको मैं निर्णायक समझता हूँ। इससे मुझे यह भी विचार आता है कि गंधक और फास्फोरस के दहन के समय जो कुछ देखने में आता है, वही सब कुछ उन वस्तुओं के साथ भी होता होगा जिनका भार दहन और निस्तापन से बढ़ जाता है। मेरा यह भी विचार है कि धातुभस्मों के भार में भी जो वृद्धि होती है उसका कारण भी यही है।..."
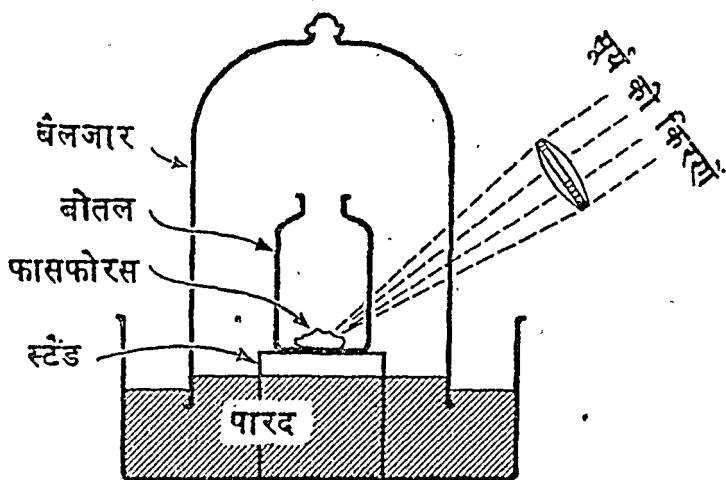
चित्र 26—लावासिये के उस प्रयोग के उपकरण का चित्र, जो उन्होंने फासफोरस के निस्तापन पर उसके भार में वृद्धि के सम्बन्ध में किया था। एक तुली हुई बोतल में एक निश्चित भार वाले फास्फोरस का टुकड़ा रखा जाता है और बोतल को बेल जार से ढक दिया जाता है। पारा बेल जार की वायु को शेष वायुमण्डल से नहीं मिलने देता है। एक आतिशी शीशे द्वारा सूर्य की किरणें को केन्द्रीकृत करके फास्फोरस को जलाया जाता है तो बोतल में एक सफेद भस्म बन जाती है और बेल जार में पारे का तल ऊपर उठ जाता है। भस्म वाली बोतल को हटाकर तोला जाता है। इस प्रकार भस्म का भार फास्फोरस के भार से अधिक है।

यहाँ हमें उस प्रतिभा की झलक मिलती है जो किसी नई धारणा के उपजने में काम करती है। यह भी पता लगता है कि इसको किस प्रकार प्रायौगिक प्रेक्षण से स्फूर्ति मिल सकती है। जैसा कि वह बाद में दावा किया करता था, लावासिये ने इस लेख में एक प्रकार से, समस्त नए रसायन की रूप-रेखा प्रस्तुत कर दी

थी। (यह लेख 1 नवम्बर, 1772 को फ्रांसीसी अकादेमी के मंत्री के पास मुहर-बंद करके रखवा दिया था)। वास्तव में लावासिये भस्म को कोयले के साथ जलाने पर उत्पन्न होने वाली गैस (कार्बन डायॉक्साइड, जिसे उन दिनों 'स्थायी वायु' कहा जाता था) को वह गैस (ऑक्सीजन) समझ बैठा था जो निस्तापन में प्रयुक्त होती है। लावासिये की प्रपत्र-पुस्तिकाओं तथा अन्य प्रकाशित लेखों को पढ़ने से पता चलता है कि निस्तापन में शोपित गैस की प्रकृति तब तक स्पष्ट ज्ञात नहीं हुई जब तक कि प्रीस्ले ने ऑक्सीजन की खोज नहीं कर ली और लावासिये ने इस नई गैस के साथ प्रीस्ले के कुछ प्रयोगों को दुहराया नहीं। इतना हो जाने के पश्चात् ही इस पहेली के विभिन्न अंग एक दूसरे के साथ व्यवस्थित रूप से जोड़े जा सके। नई व्यवस्था में ऑक्सीजन का स्थान केन्द्रीय था। किन्तु लावासिये पहले ही पहचान गया था कि निस्तापन के समय वायु में से कोई चीज शोपित होती है। अनजाने तौर पर वह वही कदम फिर से उठा रहा था जो जीन रे ने लगभग 150 वर्ष पहले उठाए थे, किन्तु जिनका उसके पश्चात् किसी ने भी अनुसरण नहीं किया था। लावासिये ने जब अपने नए सिद्धान्त को प्रकाशित किया तो उसके कुछ समय बाद ही उसका का ध्यान रे की उस पुस्तक की ओर दिलाया गया जो लगभग भुलाई जा चुकी थी।

बहुत-से पाठक एक रोचक प्रश्न पूछेंगे : गंधक और फास्फोरस के अध्ययन से लावासिये ठीक प्रकार की व्याख्या पर कैसे पहुँचा? इन वस्तुओं से प्रयोग करने के पश्चात् इतने विश्वास के साथ व्यवस्थित रूप से उसने नए प्रयोग कैसे शुरू कर दिए? यह उन ऐतिहासिक पहेलियों में से एक है जिनका हल कभी नहीं मिल सकता, किन्तु जिनके बारे में अनुमान लगाना सर्वथा व्यर्थ नहीं। मैं समझता हूँ कि लावासिये के 1 नवम्बर, 1772 के प्रलेख में एक शब्द 'विलक्षण' (भार में वृद्धि का कारण उस वायु की विलक्षण मात्रा है जो निश्चित हो जाती है) अत्यधिक महत्त्व का है। यह ठीक है तो इससे भी यह स्पष्ट होता है कि प्रयोग सम्बन्धी कठिनाइयाँ (या कठिनाइयों की अनुपस्थिति) नई धारणाओं के विकास को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। इस बात का निर्णय करना सरल नहीं कि धातु के निस्तापन में वायु चूसी जाती है या नहीं। इस प्रक्रिया में समय बहुत लगता है, ताप ऊँचा रखना पड़ता है, तथा भार में वृद्धि और शोषित ऑक्सीजन की मात्रा बहुत कम होती है। किन्तु फास्फोरस और गंधक के साथ यह प्रयोग अपेक्षाकृत सुगम था (इन चीजों में आतिशी शीशे से तुरन्त आग लग जाती है)। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रभाव भी बहुत अधिक होता है। इसका कारण

यह है कि आधुनिक रसायन की भाषा में गंधक और फास्फोरस के परमाणु-भार कम अर्थात् 32 और 31 हैं (ऑक्सीजन का 16 है) और दहन में फास्फोरस के 2 परमाणु ऑक्सीजन के 5 परमाणुओं के साथ तथा गंधक का 1 परमाणु ऑक्सीजन के 3 परमाणुओं के साथ मिलता है। धातुओं का परमाणु भार अधिक होता है, तथा उनके साथ मिलने वाले ऑक्सीजन के परमाणुओं की संख्या कम होती है। इस प्रकार फास्फोरस के 62 भारों से $62+(5 \times 16)=142$ भार भस्म के निकलेंगे। वंग का परमाणु भार 118 है और उसके साथ ऑक्सीजन के केवल 2 परमाणु शामिल होते हैं। इस प्रकार वंग के 118 भारों से $118+(2 \times 16)=150$ भार धातुभस्म बनेगी। अर्थात् भार में वृद्धि केवल 25 प्रतिशत है। फास्फोरस के साथ भार दुगुना से अधिक हो जाता है। दोनों का परस्पर अन्तर शोषित ऑक्सीजन के आयतन से प्रकट होगा। इसके अतिरिक्त भट्टी में बहुत ऊँचा ताप रखकर वंग के निस्तापन की प्रक्रिया बहुत लम्बे समय तक चलती थी, और 1770 में कोई भी ऐसा पूर्णरूपेण संतोषजनक उपाय उपलब्ध नहीं था जिससे शोषित वायु का आयतन नापा जा सके।

मात्रात्मक नाप और आकस्मिक त्रुटियाँ

जब तक लावासिये को उस गैस का ज्ञान नहीं हुआ, जो प्रीस्ले ने मर्क्यूरिक ऑक्साइड से तैयार की थी, उसको यह प्रमाणित करने में बड़ी कठिनाई हो रही थी कि धातुभस्मों का भार धातुओं से अधिक इसलिए था कि निस्तापन के समय वायु में से कुछ शोषित हो जाता था। उसने कुछ मामूली संशोधन करके बॉयल के प्रयोगों को दुहराया। यह संशोधन और कठिनाइयाँ दोनों ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि इनसे एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है। बॉयल ने वंग को एक काँच के बर्तन में बन्द करके उस बर्तन को बहुत देर तक कोयले की आग पर गरम किया था (उसके अनुसार यह बहुत खतरनाक काम था क्योंकि काँच कभी भी फट सकता है)। फिर उसने बर्तन को आग से हटाकर उसे ठंडा किया, काँच को खोला, बर्तन को फिर से तोला और भार की वृद्धि को नोट किया। यह उन प्रसिद्ध प्रयोगों में से एक है जिनसे यह पता चलता है धातुभस्म का भार धातु से अधिक है। (पाठकों को याद होगा कि बॉयल के मतानुसार भार में वृद्धि इसलिए होती थी कि आग के कण काँच में से गुज़र जाते थे)। लावासिये ने बतलाया कि बॉयल की ग़लती यह थी कि उसने बरतन को 'खोलने' से पहले नहीं तोला। कारण, यदि उसकी व्याख्या ठीक थी और आग काँच में

से गुज़र कर वंग के साथ मिल गई थी, तो वृद्धि वायु के अन्दर प्रवेश करने से पहले होनी चाहिए और यदि वृद्धि का कारण ऑक्सीजन थी तो भार में वृद्धि वायु के अन्दर आने के 'बाद' होनी चाहिए। लावासिये ने इस प्रयोग को दुहराया तो अपेक्षित परिणाम निकले किन्तु इतने स्पष्ट और प्रभावकारी नहीं थे जितने फास्फोरस के साथ किये हुए प्रयोग थे। इसका कारण हम ऊपर बता चुके हैं। एक प्रयोग में कुल 4,100 भागों में 10 भाग की वृद्धि हुई थी और दूसरे प्रयोग में 4,100 भागों में ही केवल 3 भागों की। अब हम जानते हैं कि काँच के बड़े बर्तन को ठीक-ठीक तोलने में सबसे बड़ी कठिनाई नमी जम जाने से होती है। इसलिए यह कोई हैरानी की बात नहीं कि गरम करने के पश्चात् काँच के भबके के भार में दिन-प्रतिदिन लगभग वही परिवर्तन होता रहा, जो उपरोक्त दो में से एक प्रयोग में भार की कुल वृद्धि थी।

सम्परीक्षण के ये कठोर तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि बॉयल यदि अपने बर्तन को वायु अन्दर आने देने से पहले और बाद दोनों बार तोलता तो भी उसके आँकड़ों में इतनी अधिक अनिश्चिता होती कि वह और उसके बाद के अनुसंधानकर्त्ता सभी भूलभुलैयों में पड़ जाते। **मात्रात्मक माप विज्ञान में महत्त्वपूर्ण प्रगति का आधार तभी बन सकता है जब मापी हुई राशि संभव व्यवस्थात्मक तथा आकस्मिक त्रुटियों के मुकाबिले में बहुत अधिक हो।** फास्फोरस के दहन और वंग की निस्तापन सम्बन्धी इस घटना से मोटेतौ र पर झलक मिलती है कि महत्त्वपूर्ण आँकड़ों का सिद्धान्त क्या है। इस सिद्धान्त का बाद के वैज्ञानिक इतिहास में बहुत बड़ा पार्ट है।

फ्लोर्जिस्टन सिद्धान्त : नई धारणा के लिए बाधा

कभी-कभी कहा जाता है कि लावासिये के समय से पहले के प्रयोगकर्त्ताओं ने मात्रात्मक प्रयोग नहीं किए थे अर्थात् उन्होंने तुला-का प्रयोग नहीं किया था। बताया जाता है कि यदि वे ऐसा करते तो पहले ही पता लगा लेते कि दहन से भार में वृद्धि होती है और फ्लोजिस्टन सिद्धान्त को अस्वीकृत कर देते। यह गलत बात है। हम देख चुके हैं कि फ्लोजिस्टन काल से भी बहुत पहले रे ने दिखा दिया था कि भस्म का भार धातु से अधिक होता है। मात्रात्मक प्रयोग भी बार-बार किये गए थे, यद्यपि वे आधुनिक स्तर के अनुसार बहुत शुद्ध नहीं थे। लावासिये ने 1772 में अपना नोट इस प्रकार लिखा था मानो सभी जानते थे कि भस्म का भार उस धातु से अधिक होता है जिससे वह बना है। फ्लोजिस्टन

सिद्धान्त की किसी सीधी और स्पष्ट परिभाषा में यह तथ्य नहीं समा सकता था। किन्तु फ्लोजिस्टन सिद्धान्त इतना लाभदायक था कि 18वीं शताब्दी के मध्य-काल का कोई भी वैज्ञानिक इसे रद्द करने या अप्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा नहीं कर रहा था। इसके विपरीत उनकी चेष्टा तो यह थी कि कुछ असुविधाजनक तथ्यों को किसी प्रकार उस धारणापद्धति में बाँध सकें, जो उनके मतानुसार बहुत अच्छी थी।

इससे दाँवपेच का जो सिद्धान्त उभरता है, वह स्पष्ट है : पुरानी धारणापद्धति छोड़नी हो तो उसके स्थान पर नई का होना आवश्यक है। जब ऐसे कुछ ही तथ्य सामने आते हैं जो किसी सुस्थापित धारणापद्धति के साथ समन्वित न होते हों तो पहला प्रयास यह नहीं होता कि उस पद्धति को छोड़ दिया जाए अपितु यह होता है कि कठिनाई को किसी प्रकार हल करके उसे बनाए रखा जाए। इसी प्रकार, नई धारणापद्धतियों के प्रतिपादक भी कुछेक तथाकथित विरोधी तथ्यों के आधार पर अपने विश्वास से नहीं हिलते। वे पहले-पहल या तो इन तथ्यों को झुठलाने की चेष्टा करते हैं या इनकी अवहेलना करते हैं। इसी प्रकार, बाद में, लावासिये भी अपने नए विचारों पर कट्टरता से अड़ गया, यद्यपि कुछ प्रयोग ऐसे थे जिनकी व्याख्या उन विचारों के आधार पर नहीं की जा सकती थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही पता लग सका कि उन प्रयोगों की व्याख्या ही त्रुटिपूर्ण थी। धातुओं के निस्तापन के बारे में ऐसा नहीं था। 1770 तक किसी को भी इसमें सन्देह नहीं रह गया था कि निस्तापन के समय भार में वृद्धि एक यथार्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं था कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के अनुसार भार में कमी होनी चाहिए थी या फिर यदि फ्लोजिस्टन को अग्नि की भाँति निर्भार वस्तु माना जाए तो भार में कोई परिवर्तन ही नहीं होना चाहिए था।

निस्तापन सम्बन्धी इस दुविधा में से निकलने का पहला प्रयास तो भार और घनत्व की गड़बड़ का सहारा लेकर किया गया (भस्में धातुओं से कम घनी हैं किन्तु निस्तापन में कुल भार बढ़ता है)। बहुत कुछ सोच-विचार के पश्चात् इसे सुधारा गया। इसके पश्चात् कुछ समय तक यह भी कहा जाता रहा कि फ्लोजिस्टन का भार ऋणात्मक है। इससे पता लगता है कि किसी पुराने विचार को नए प्रयोगों के अनुकूल ढालने के लिए क्या कुछ करने की चेष्टा की जाती है। परन्तु इस मामले में जो संशोधन हुए उनसे प्रगति नहीं हुई, वरन् बहुत पीछे ही हटा गया। निस्तापन के मात्रात्मक पक्ष के लिए स्थान बनाकर

जो लाभ हुआ था, वह सब ऋणात्मक भार के विचार में समाप्त हो गया। फ्लोजिस्टन ऐसी क्या वस्तु या कैसा तत्त्व है जिसे दूसरी चीज में मिला देने से कुल भार कम हो जाता है ? फ्लोजिस्टन के ऋणात्मक भार वाला विचार विश्वसनीय नहीं था और आम तौर से फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के इस तर्कशील प्रसार (एक प्रकार से तर्कशील और दूसरे अर्थों में सर्वथा तर्कहीन) को व्यापक मान्यता नहीं मिली। 18वीं शताब्दी के अनुसंधानकर्त्ताओं पर हँसने से पहले हमें नहीं भूलना चाहिए कि 19वीं शताब्दी से पूर्व ऊष्मा को एक भौतिक वस्तु माना जाता था और पदार्थ की परमाणु और अणुवादी धारणा बहुत दूर थी।

निस्तापन के मात्रात्मक तथ्यों से जो दुविधा पैदा हुई उसको 1770 के अधिकांश रासायनिक प्रयोगकर्त्ताओं ने उन चीजों में से एक मान लिया, जिनकी व्याख्या सम्भव नहीं है। यह प्रवृत्ति विज्ञान में जितनी अधिक प्रचलित है, उतना साधारणतः सोचा नहीं जाता। निस्सन्देह, किसी भी धारणा के विकास की कुछ अवस्थाओं में यह प्रवृत्ति कुछ सीमा तक अनिवार्य होती है। प्रखर-बुद्धि और प्रतिभावान वैज्ञानिक वही है जो इन उलझी पहेलियों को सदा सबसे ऊपर रखे। तभी वह इस योग्य होता है कि उलझी समस्याओं का सम्बन्ध नई खोज या तकनीक के साथ जोड़ सके। वही प्रवर्त्तक, क्रान्तिकारी होता है। विज्ञान को इतिहास की दृष्टि से समझने के लिए आवश्यक है कि किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति के द्वारा रीति-नीति और कार्य-विधि के मेल का अध्ययन किया जाय।

ऑक्सीजन की प्रभावकारी खोज

जिन पाठकों को रसायन का बहुत कम अथवा कुछ भी ज्ञान नहीं है उनकी सुविधा के लिए यहाँ यह बता देना ठीक होगा कि अपने नए विचारों के विकास में लावासिये किन-किन अवस्थाओं में से गुज़रा। प्रथम अवस्था में तो यह अपरम्परागत विचार उठा कि धातुओं के निस्तापन और दहन के समय वायुमंडल में से कोई चीज अवशोषित होती है। दूसरा पग था इस चीज की खोज। तीसरी अवस्था थी इस बात की अनुभूति की इस चीज की खोज एक विशेष धातुभस्म, मर्करी ऑक्साइड, द्वारा हो सकती है। चौथे, मर्करी ऑक्साइड से ऑक्सीजन का निर्माण और स्पष्टतः यह न पहचान सकना कि यह शुद्ध की हुई सामान्य वायु मात्र नहीं। पाँचवाँ, प्रीस्ले का इस बात के प्रमाण प्रकाशित

करना कि मर्करी ऑक्साइड की गैस सामान्य वायु नहीं, कुछ और है। छठा, लावासिये का अपने सम्परीक्षण की गलती को शीघ्र ही समझ लेना और बाद में यह मान लेना कि दहन और निस्तापन में वायुमंडल के ही एक अवयव' नई गैस ऑक्सीजन का अवशोषण होता है। इस अवस्था पर, रासायनिक क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। इसके पश्चात् सारी कहानी सीधी चलती है (यद्यपि हम देखेंगे कि नए विचारों की स्वीकृति और फ्लोजिस्टन सिद्धान्त की अस्वीकृति एकाएक नहीं हुई)।

प्रतिभावान वैज्ञानिकों की मानसिक प्रक्रियाओं को समझने के इच्छुक किसी भी व्यक्ति के लिए लावासिये की खोज के विकास में 1772 से 1777 तक जो 6 अवस्थाएँ आई, उनका बड़ा महत्त्व है। ऐसा बहुत कम होता है कि हमें अन्तर्प्रेरणा और तर्क की उन जटिलताओं का ज्ञान हो सके जो क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारों का मूल आधार होती हैं। लावासिये ने जब गंधक और फास्फोरस के दहन का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उसकी आयु केवल 29 वर्ष थी। यह स्पष्ट मालूम नहीं कि यह धनाढ्य व्यापारी इस विशेष खोज में कैसे लग गया, परन्तु गैसों का अध्ययन तथा फ्लोजिस्टन सम्बन्धी बहस उन दिनों आम बातें थीं। स्पष्ट है कि वह अनुभवहीन प्रयोगकर्त्ता था। 1772 के उसके मुहरबन्द लेख की अनेक बातें सर्वथा गलत हैं। गंधक जलाने पर भार-वृद्धि के बारे में अपने वक्तव्य पर वह फिर लौटकर ही नहीं आता। कुछ ऐसे प्रेक्षण भी हैं, जिनके बारे में हैरानी है कि उसने कैसे उन्हें किया होगा। किन्तु इसके पश्चात् उसने गैसों के अध्ययन की नई तकनीकों (जो प्रायः प्रीस्ले ने निकाली थीं) पर विशेषाधिकार प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। उसने प्रीस्ले और स्कॉटलैंडवासी प्रसिद्ध प्रोफेसर जोज़फ ब्लैक के बहुत-से प्रयोग दुहराए। संभवतः ब्लैक के प्रलेखों से उसे इस बात का महत्त्व समझ में आया कि रासायनिक प्रतिक्रिया में सम्मिलित होने वाले तत्त्वों तथा उत्पादित वस्तुओं के भारों का ज्ञान कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कभी-कभी कहा गया है कि लावासिये ने रसायन में तुला का व्यवस्थित प्रयोग प्रारम्भ किया। यह बात सर्वथा सही नहीं है। इस बात का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को मिलना चाहिए तो वह है जोज़फ ब्लैक। लेकिन लावासिये ने अपने कार्य के प्रारम्भ में ही भार-सम्बन्धों की महत्ता पर बहुत बल दिया। लावासिये एक ऐसी फ़र्म का सफल सदस्य था जो सम्राट् के लिए कर इकट्ठा करती थी। इस बात से प्रभावित होकर एक जीवनीलेखक ने लिखा है कि

उसने व्यापार के नियमों का उपयोग विज्ञान में किया। यह सच है कि उसने एक ऐसे सिद्धान्त का लगातार उपयोग किया जो वाद के सभी रसायनज्ञों के लिए आवश्यक नियम बन गया है। यह सिद्धान्त है कि किसी रासायनिक प्रतिक्रिया में भाग लेने वाले पदार्थों का सम्मिलित भार उत्पादित वस्तुओं के सम्मिलित भार के बराबर होना चाहिए। निश्चय ही यह सब हिसाब का जोड़ मिलाने के समान है। उस जीवनीकार द्वारा प्रयुक्त 'वैलैंसशीट का नियम' शब्द बहुत उचित हैं। ऑक्सीजन की प्रभावकारी खोज के पश्चात् लावासिये को अपने प्रयोगों में सफलता मिली, जबकि दूसरी ओर प्रीस्ले को अधिकाधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसका सीधा कारण लावासिये द्वारा 'बैलैंस शीट के नियम' के प्रयोग को माना जा सकता है।

नई धारणापद्धति के विकास में तुला का प्रयोग केवल पहले प्रेक्षण में होता है—'वायु की विलक्षण मात्रा' जो फास्फोरस के दहन में निश्चित होती है। हमें उन प्रयोगों के परिणामों के अर्थ निरूपण की कठिनता की ओर ध्यान देना चाहिए जिनकी राशि स्पष्ट न हो और प्रेक्षित राशियाँ गैसों का भार नहीं, आयतन हों। किन्तु सबसे पहले पाठकों के सामने एक महत्त्वपूर्ण रासायनिक तथ्य रख देना चाहिए। लावासिये के समय में केवल एक ही धातु ज्ञात थी जिसका वायु में निस्तापन करने (अर्थात् ऑक्साइड बनाने) से ऐसी वस्तु प्राप्त होती थी जो और गरम करने पर फिर धातु बन जाती थी। यह थी द्रव धातु-पारा। इस बात का केवल ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। इससे रासायनिक खोजबीन में कुछ पदार्थों का महत्त्व भी ज्ञात होता है। रसायन के इतिहास में प्रगति बहुत समय तक अध्ययन के लिए ठीक तत्त्व या मिश्रण पाने पर निर्भर थी। ठीक उसी प्रकार जैसे भौतिकी की प्रगति उपकरणों के सुधार पर निर्भर थी।

लावासिये की इस समझ में कि पारद ऑक्साइड के अध्ययन से सफलता मिल सकती, सम्भवतः प्रीस्ले का भी भाग है। पेरिस के एक ऐतिहासिक सह-भोज में प्रीस्ले ने लावासिये को बताया था कि इस लालचूर्ण (निस्तप्त पारा) को गरम करके उसने एक गैस निकाली थी, जो मोमबत्ती के दहन में सहायक थी। किन्तु प्रीस्ले उस समय इस भ्राँति में था कि वह 'हास गैस' है (यह गैस नाइट्रोजन की एक ऑक्साइड है जिसकी ऑक्सीजन के साथ केवल यही समानता है कि इससे बत्ती वायु से अधिक तेज़ जलने लगती है।) किन्तु हमारा प्रीस्ले की गलतियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह एक अलग बात है। हमारे लिए

लावासिये की गलतियाँ अधिक महत्त्व रखती हैं। प्रीस्ले के साथ यह बातचीत होने के कुछ महीने पश्चात् लावासिये ने स्वयं भी पारद की लाल ऑक्साइड को गरम करके एक गैस तैयार की। इसका परीक्षण करके उसने बताया कि यह कार्बन डायॉक्साइड नहीं थी (उस काल के रसायनज्ञ इसको 'निश्चित वायु' कहते थे।) इस बात पर उसने बहुत परिश्रम किया क्योंकि कुछ समय पूर्व एक फ्रांसीसी रसायनज्ञ ने कहा था कि उच्च ताप पर जब लालचूर्ण से पारद बनाया जाता है तो दूसरी उत्पन्न वस्तु 'निश्चित वायु' होती है। गैसों के साथ आरम्भिक प्रयोग अधिक कठिन थे।

जिस शुभ परिणाम की प्रतीक्षा लावासिये 1772 से कर रहा था, वह मार्च 1775 में उसके हाथ में आया तो वह एक ग़लती कर बैठा। गैस कार्बन डायॉक्साइड 'नहीं' थी। प्रीस्ले ने मौखिक रूप से जो कुछ उसे बताया था, उसने उसे पुष्ट कर दिया और लिखा कि "इसमें बत्तियाँ और अन्य जलती हुई चीजें बुझती नहीं, बल्कि उनकी ज्वाला और प्रखर हो जाती है.........और उनसे प्रकाश सामान्य वायु से अधिक होता है" (यद्यपि उसने प्रीस्ले के साथ अपनी बातचीत का कोई उल्लेख नहीं किया)। यदि वह वहीं रुक जाता तो सम्भवतः ठीक निर्णय पर पहुँच जाता है कि उसके सामने एक 'नई' गैस थी। किन्तु उसने एक और परीक्षण किया। यह परीक्षण भी कुछ वर्ष पहले प्रीस्ले ने किया था। इससे सामान्य वायु के 'अच्छेपन' का मोटे तौर पर अनुमान प्राप्त होने की अपेक्षा थी। अर्थात् दहन या साँस लेने के कारण 'अशुद्ध' हो चुकी वायु से निकले परिणाम सामान्य वायु से निकले परिणामों से भिन्न थे। मध्यवर्ती मिश्रणों से मध्यवर्ती परिणाम निकलते थे। इस परीक्षण का रासायनिक पक्ष इतना उलझा हुआ है कि उसका वर्णन इस पुस्तक में नहीं दिया जा सकता (इसमें नाइट्रिक ऑक्साइड और ऑक्सीजन की आपसी प्रतिक्रियाएँ और उत्पादित पदार्थों का जल में विलय शामिल है।) इसमें अनुभववाद का अंश बहुत था क्योंकि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त की भाषा में बात करते हुए प्रीस्ले वास्तव में अंधेरे में ही हाथ मार रहा था।

कुछ भी हो प्रीस्ले का यह परीक्षण जब शुद्ध ऑक्सीजन पर लागू किया जाता था तो भी लगभग वही परिणाम प्राप्त होता था जो सामान्य वायु पर लागू करने से होता था। जिस वायु की परीक्षा करनी हो उसे विशेष अनुपात में 'परीक्षा गैस' (नाइट्रिक ऑक्साइड) के साथ मिलाया जाए तो आयतन में कमी आ जाती है और आयतन की यह कमी लगभग उतनी ही होती है जितना

आयतन मिलाई गई परीक्षा गैस का होता है। आयतनों में थोड़ा-सा अन्तर है किन्तु या तो लावासिये इसे देख नहीं पाया था इसकी अवहेलना करके ऑक्सीजन का आविष्कारक बनने का अवसर खो बैठा। अत: उसने बताया कि निस्तप्त पारद से निकली हुई गैस प्रीस्ले-परीक्षण में 'सामान्य वायु की भाँति कम हो गई।' इसलिए, ईस्टर 1775 में उसने फ्रांसीसी अकादमी को जो पहला पत्र लिखा वह (नरम शब्दों में भी कहा जाए तो) उलझा हुआ था। उसने लिखा था, "इन सभी परिस्थितियों से मुझे विश्वास होता है कि यह वायु सामान्य वायु ही नहीं, वरन् इसमें साँस लेना और दहन अधिक सुगम है। अतएव यह उस वायु से अधिक शुद्ध है जिसमें हम रहते हैं।"

जिस समय लावासिये पेरिस में अपने सहयोगियों को यह बता रहा था, प्रीस्ले पारद ऑक्साइड को तेज़ गरम करने से पैदा होने वाली गैस के अध्ययन में लगा हुआ था। अब तक वह अपनी वह भूल पहचान गया था। उत्पन्न गैस को हास गैस कहना गलत था। किन्तु ठीक लावासिये की भाँति वह भी वायु के अच्छेपन के अपने ही परीक्षण के कारण भटक गया। फिर कुछ विस्मयजनक घटनाएँ हुई, जिनके वर्णन में बहुत समय लगेगा, जिनके परिणामस्वरूप उसने उस गैस की जाँच की जो उसका परीक्षण पूरा होने के उपरान्त बच रही। उसे तुरन्त दिखाई दिया कि कोई एकदम नई चीज़ हाथ में है। इसका रासायनिक पक्ष यह है कि प्रीस्ले के परीक्षण की प्रयोगात्मक स्थिति में जबकि आयतन का परिवर्तन सामान्य वायु और ऑक्सीजन दोनों के लिए समान था, अवशेष सर्वथा भिन्न थे। सामान्य वायु के प्रयोग में नाइट्रोजन शेष रहती थी और दूसरे में ऑक्सीजन। जलती हुई बत्ती अन्दर ले जाने मात्र से अन्तर स्पष्ट हो जाता था। प्रीस्ले ने ऐसा ही किया था जब पहली बार उसने दोष को देखा।

प्राय: माना जाता है कि ऑक्सीजन तो वास्तव में मार्च, 1775 में खोजी गई, जब प्रीस्ले ने यह देख लिया कि लाल पारद ऑक्साइड को गरम करने से जो गैस निकलती है, वह एक 'नई' गैस है। उसी वर्ष के अगस्त मास तक उसने लावासिये का 'ईस्टर संस्मरण' भी पढ़ लिया जो अनधिकृत रूप से एक वैज्ञानिक पत्रिका में प्रकाशित हो गया था। उसने तुरन्त लावासिये की ग़लती पकड़ ली और अपनी प्रकाशनाधीन पुस्तक में उसे बता दिया। इसमें कोई सन्देह दिखाई नहीं देता कि लावासिये को अपनी ग़लती तभी मालूम हुई जब उसने प्रीस्ले की खोज और ऑक्सीजन के विशिष्टीकरण सम्बन्धी उसके लेख

को पढ़ा । इसके पश्चात् उसने सभी बातों को तेज़ी से सुलझाया । सच तो यह है कि जब फ्रांसीसी अकादेमी उसका 'ईस्टर संस्मरण' छापने को हुई तो सारा मामला साफ हो चुका था । इसीलिए अपने लेख के प्रथम रूप में थोड़ा-सा हेरफेर करके उसने उसे ठीक कर लिया । अन्त में 1778 में जब लेख अधिकृत रूप से प्रकाशित हुआ तो इस 'श्रेष्ठ प्रलेख' में न तो उसकी अपनी ग़लती का ही कोई संकेत था और न ही प्रीस्ले की अयाचित सहायता का कोई उल्लेख था । 19वीं शताब्दी के बाद से विज्ञान की नैतिकता बदल गई है । आज कोई भी खोज करने वाला मौखिक बातचीत या पूर्व प्रकाशित सामग्री के उल्लेख के बारे में उत्तरदायित्व से काम लेता है ।

बड़े से बड़े रीति-नीति और कार्य-पद्धति जानने वाले व्यक्ति भी किस प्रकार लड़खड़ाते हुए आगे बढ़ते हैं, यह बात लावासिये की नई धारणापद्धति के विकास की इस विस्तृत कहानी से स्पष्ट हो जाती है । रासायनिक क्रान्ति का शेष वृत्तान्त विज्ञान के विकास में बार-बार प्रकट होने वाला ढाँचा है । एक सुस्थापित धारणा-पद्धति कुछ समय के लिए नई पद्धति की स्वीकृति का रास्ता रोक लेती है । पुराने सिद्धान्त के रूढ़िवादी रक्षक लीपा-पोती करने की चेष्टा करते हैं । कभी-कभी, जैसा कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के सिलसिले में हुआ, इसका परिणाम केवल विलम्ब ही होता है । इसमें विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस प्रकार के विवाद में दोनों ही पक्ष ऐसे परीक्षणात्मक प्रमाणों को नज़रअन्दाज कर देते हैं जो उनकी पद्धति में ठीक नहीं बैठते । सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि बाद के इतिहास से यह प्रमाणित हो सकता है कि इस प्रकार जान-बूझकर 'सत्य' की अवहेलना करना सर्वथा उचित था । यदि यह बात है तो हम कह सकते हैं कि जो बातें कुछ लोगों को 'अन्तिम प्रमाण' प्रतीत होती थीं, उनमें कोई विदूषक छिपा बैठा था ।

फ्लोजिस्टन सिद्धान्त का अन्तिम मोर्चा

1778 तक लावासिये ने वैज्ञानिक संसार के सामने यह स्पष्ट कर दिया था कि दहन में ऑक्सीजन का क्या कार्य है । उसका महान् प्रयोग, जिसका वर्णन प्रायः प्राथमिक पाठ्य-पुस्तकों में आता है, निम्न प्रकार से था : पारद को सामान्य वायु में गरम करने से एक लाल रंग की वस्तु बन जाती है (ऑक्साइड, जिसे 18वीं शताब्दी के रसायनज्ञ 'धातुभस्म' कहते थे ।) यदि बंद स्थान हो तो इस प्रक्रिया में वायु का पाँचवाँ भाग गायब हो जाता है

(चित्र 27)। लाल रंग की चीज़ का भार उस धातु से अधिक होता है जिससे यह बनाई जाती है। अर्थात् वायु में से कोई चीज़ गायब होकर धातु के साथ
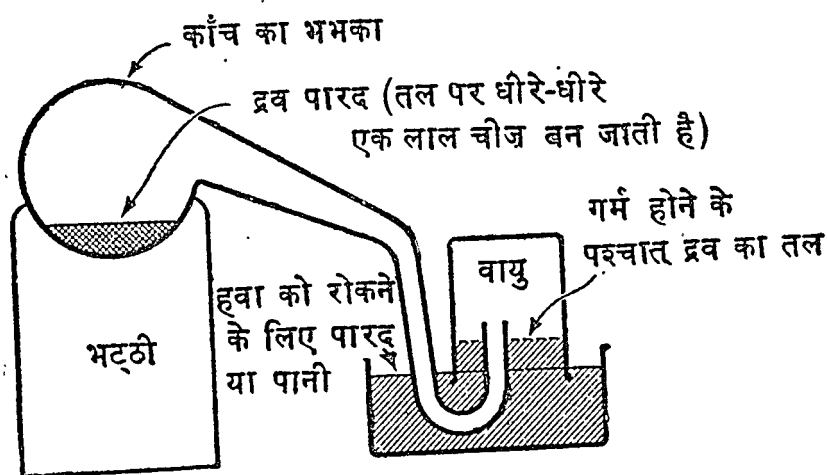
चित्र 27—लावासिये के उपकरण का चित्र। यह दिखाता है कि पारद को जब वायु की
उपस्थिति में गर्म किया जाता है, तो यह ऑक्सीजन का अवशोषण कर लेता है।

मिल गई है। तब यह लाल रंग की चीज़ ऑक्साइड या धातुभस्म, किसी बंद स्थान में रखकर आतिशी शीशे की सहायता से रश्मियाँ केन्द्रित करके, तेज़ गरम की जाती है तो एक गैस निकलती है और धातु फिर से उत्पन्न हो जाती है (चित्र 28)। यही नई गैस ही वह 'कुछ चीज़' है जो मूल वायु से गायब हो गई थी क्योंकि मात्रा उतनी ही है और धातुभस्म का भार भी ठीक उतना ही कम हुआ है। नई गैस 'ऑक्सीजन' को पहले प्रयोग के अवशेष के साथ मिला दिया जाए तो सामान्य वायु के समान मिश्रण बनता है।

प्रयोग सीधे-सादे हैं और प्रमाण सम्पूर्ण प्रतीत होता है। (निस्सन्देह लावासिये ने पारद के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के लिए भी साधारणीकरण कर दिया।) किन्तु नई धारणा-पद्धति को लोगों ने तुरन्त आदरपूर्वक स्वीकार नहीं किया। हुआ इसके विपरीत। लावासिये को अपनी बातें प्रभावपूर्ण युक्तियाँ देकर समझानी पड़ीं। 1783 में उसने 'फ्लोजिस्टन पर विचार' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उसने अपनी धारणापद्धति के पक्ष में गम्भीर तर्क प्रस्तुत करते हुए दिखलाया कि फ्लोजिस्टन धारणा सर्वथा बेकार है। धीरे-

धीरे उसके फ्रांसीसी समकालीन तो मान गए किन्तु प्रीस्ले, वाट, कैवेंडिश तथा बीसियों अन्य रसायनज्ञ फ्लोजिस्टन सिद्धान्त पर अड़े रहे। हाइड्रोजन गैस के साथ कुछ प्रयोगों से तो इस सिद्धान्त को कुछ समय के लिए एक नया जीवन ही मिल गया। कैवेंडिश ने 1766 में इस पदार्थ को वैज्ञानिक विवाद का केन्द्र बना दिया। इसको फ्लोजिस्टन कहा जा सकता था, जिसकी बहुत देर से तलाश थी—या यह कहा जा सकता था कि यह पानी में मिली हुई फ्लोजिस्टन है। कारण, यह गैस एकदम जलने लगती थी और प्रारम्भ में किसी को यह भी पता न लग सका कि इसके जलने पर बनता क्या था। (पुरातनपंथी फ्लोजिस्टनवादियों के पास बेशक एक उत्तर था : फ्लोजिस्टन दहन में प्रयुक्त वायु में विलीन हो गई)। किन्तु ठीक इसी समय हैनरी कैवेंडिश (1731-
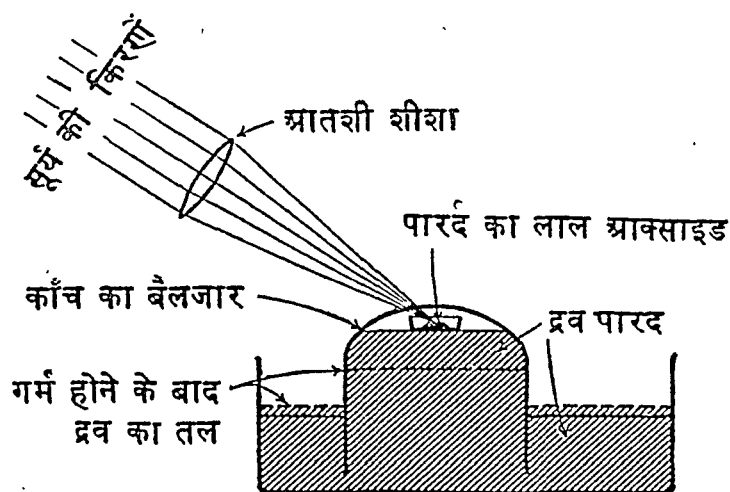
चित्र 28—पारद के लाल ऑक्साइड को गरम करने पर निकली हुई ऑक्सीजन को इकट्ठा करने वाले उपकरण का चित्र।

1810) के प्रयोगों द्वारा जल की संरचना की स्थापना हुई। यही प्रयोग लावासिये ने फौरन दुहराए। रसायन के इतिहासकारों में अभी तक मतभेद चल रहा है कि इस महत्त्वपूर्ण खोज (कि जल की संरचना में भार की दृष्टि से ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में 8 और 1 का अनुपात है) का श्रेय किसको दिया जाए। प्रीस्ले, कैवेंडिश, लावासिये और जेम्स वाट सभी इसके योग्य हैं।

जब यह ज्ञात हो गया कि हाइड्रोजन को वायु में जलाने से जल की उत्पत्ति होती है तो लावासिये की पद्धति पूर्ण हो गई। स्पष्ट था कि जल हाइड्रोजन की ऑक्साइड है। अपनी धारणा-पद्धति के इस विस्तार से उद्भूत स्पष्ट निष्कर्ष की लावासिये ने तुरन्त जाँच शुरू कर दी। निष्कर्ष यह था कि यदि भाप को किसी धातु के साथ गरम किया जाए तो धातुभस्म और हाइड्रोजन प्राप्त होंगे। ऐसा ही हुआ। (लगभग उसी समय इसकी विलोम प्रतिक्रिया भी प्रदर्शित कर दी गई।)

हाइड्रोजन + ऑक्सीजन → जल

धातु के साथ गरम की गई भाप → धातु भस्म + हाइड्रोजन
(ऑक्साइड)

जल, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, धातुओं और ऑक्साइडों के सम्बन्ध के बारे में तथ्यों को देखकर प्रतीत होता है कि फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के पक्ष में कोई दलील नहीं रही। किन्तु कुछ वर्षों तक इस नए ज्ञान का प्रभाव उल्टा हुआ। फ्लोजिस्टन पर विश्वास करने वाले अन्ततः इस बात की व्याख्या कर सके कि धातुभस्म का भार धातु से अधिक क्यों होता है। ऐसा उन्होंने फ्लोजिस्टन सिद्धान्त में कुछ संशोधन करके किया। यह मुख्यतः इस प्रकार है : धातुभस्मों को सरलतम पदार्थ न मानकर उनको जल और किसी 'शुद्ध मिट्टी' के यौगिक मान लिया गया। फ्लोजिस्टन और तत्सम्बन्धित 'शुद्ध मिट्टी' के मिलने से धातु उत्पन्न होती थी।

प्राचीन फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के अनुसार निस्तापन—

वायु में गरम की गई धातु → धातु भस्म + फ्लोजिस्टन
(वायु में विलीन)

संशोधित फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के अनुसार निस्तापन—

(क) वायु में गरम की गई धातु → शुद्ध मिट्टी + फ्लोजिस्टन
(वायु में विलीन)

(ख) शुद्ध मिट्टी + वायु से जल → धातुभस्म

थोड़े से अध्ययन से पाठक को यह विश्वास हो जाएगा कि इन विचारों में यह तथ्य भी समा जाता है कि धातुभस्म का भार धातु से अधिक होता है। जो परिवर्तन (क) रूप में लिखा गया है वह ऐसा माना जाता था जिसमें भार कम होगा (क्योंकि फ्लोजिस्टन धातु से अलग हो जाती थी) जब कि दूसरे पद (ख) में शुद्ध मिट्टी द्वारा जल के अवशोषण से भार में वृद्धि हो जाती थी। दूसरे

पद में भार की वृद्धि मनमाने तौर पर पहले पद में भार की कमी से अधिक मान ली गई। इसका कुल परिणाम यह निकलेगा कि निस्तापन से भार बढ़ता है। यदि प्रत्येक नई खोज के साथ पर्याप्त एतदर्थ कल्पनाएँ जोड़ ली जाएँ तो नए तथ्य बड़ी सुगमता से पुराने सिद्धान्त के अनुकूल दिखाए जा सकते हैं। साथ ही साथ फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के इस अन्तिम मोर्चे से यह भी सिद्ध हो जाता है कि 'रसायन में तुला का प्रयोग प्रारम्भ होते ही फ्लोजिस्टन सिद्धान्त अमान्य हो गया' कहना कितना भ्रामक है।

मैंने इससे पूर्व संकेत किया है कि वैज्ञानिकों में ऐसे तथाकथित 'तथ्यों' की अवहेलना करने की प्रवृत्ति होती है जो उनके मार्ग में बाधक हों। बाद की घटनाओं से कभी तो यह लगता है कि यह मूर्खता थी और कभी यह लगता है कि यह देव-प्रेरित चतुराई थी। जो लोग 1780 के पश्चात् भी फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के पक्ष में रहे उनको या तो बहुत से तथ्यों की अवहेलना करनी पड़ी या एक के बाद एक एतदर्थ परिकल्पनाएँ बनानी पड़ीं। प्रीस्ले 1804 में मृत्युपर्यन्त यही करता रहा। दूसरी ओर, लावासिये और उसके अनुयायियों के सामने जब प्रीस्ले के कुछ 'तथ्य' आते थे तो वे उन्हें नज़रअन्दाज कर देते थे, जैसा कि बाद में पता चला। उनका ऐसा करना उचित ही था। हम कह सकते हैं कि अन्तरानुभूति के कारण ही लावासिये जान जाता था कि किस रासायनिक परिवर्तन से विश्वसनीय परिणाम अपेक्षित हो सकते हैं और किस से नहीं। रसायन और प्राणि-रसायन के इतिहास में ऐसी अन्तर्दृष्टि और अन्तरानुभूति ने बहुत काम किया है, यद्यपि इसका वर्णन प्रायः नहीं हुआ। हम अपने युग में से ही अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु आधुनिक रसायन की उलझनों में जाने से अधिक अच्छा यह रहेगा कि प्रीस्ले के तथाकथित तथ्यों के विषय में और कुछ कहा जाए।

पहली बात तो यह कि प्रीस्ले अनेक प्रयोगों और अनेक प्रेक्षणों में विश्वास रखता था। इससे उसकी उलझनें और अधिक बढ़ती गईं। आज के परीक्षणात्मक क्षेत्रों में काम करने वाले लोग इस बात से सीख ले सकते हैं। जो कुछ भी हो यह बात ध्यान देने की है कि लावासिये तो एक ही धातु-ऑक्साइड के साथ प्रयोग करता रहा जिससे स्पष्ट परिणाम प्राप्त होते थे और प्रीस्ले अन्य ऑक्साइडों के साथ लगा रहा और उसके प्रयोगों में प्रायः मात्रात्मक नियन्त्रण नहीं रह गया। दूसरे ऑक्साइड शुद्ध रूप में मिलने कठिन हैं और रसायनज्ञ के लिए समांगी पदार्थ आवश्यक हैं। यहाँ फिर वही बात आती है—अनियंत्रित परीवर्ती। कहा जा सकता है कि प्रीस्ले सदा न मालूम कहाँ से कोई न कोई ऐसा 'तथ्य' ढूंढ

निकालता था जिससे लावासिये का विरोध और फ्लोजिस्टन विचार का समर्थन किया जा सके। उदाहरणार्थ, वह इस बात पर अड़ा रहा कि कुछ धातु-भस्मों को गरम करने से स्थिर वायु (कार्बन डायॉक्साइड) निकलती है। ऐसा होता भी था, परन्तु इसलिए कि वे कार्बोनेटों के कारण अशुद्ध होते थे। रसायनज्ञ के लिए पदार्थों की शुद्धता उतनी ही आवश्यक है जितनी भौतिकशास्त्री के लिए ताप और दाब आदि परिवर्तियों पर नियन्त्रण। शुद्धता के पर्याप्त मापदंड धीरे-धीरे स्थापित हुए, जब लावासिये का 'बैलैंसशीट का सिद्धान्त' स्वीकृत हुआ। अशुद्ध तत्त्वों के साथ गुणात्मक प्रयोगों से प्रायः उलझनें ही पैदा होती हैं और प्रीस्ले चतुर दाँव-पेच जानने के बावजूद अनेक उलझनों के जंगल में भटकता रहा।

लावासिये के विचारों के विरुद्ध प्रीस्ले का एक प्रमुख तर्क दो भिन्न गैसों की ग़लत पहचान पर आधारित था। लावासिये और उसके साथी इस भूल को न पहचान सके। इस बात से प्रयोग की कठिनाइयों का ज्ञान एक बार फिर होता है। उस काल में गैसों के साथ प्रयोग करने वाला सिद्धहस्त व्यक्ति भी कार्बन मानोक्साइड और हाइड्रोजन को एक ही समझ बैठा, क्योंकि ये दोनों गैसें ज्वलनशील थीं। इन दोनों गैसों को एक मानकर प्रीस्ले ने लावासिये से कई प्रक्रियाओं के कारण पूछे। और यह ठीक है कि इन प्रक्रियाओं की व्याख्या नए रसायन से नहीं हो सकती थी, किन्तु फ्लोजिस्टन सिद्धान्त से हो सकती थी, जिसे नई खोजों के अनुकूल ढालने के लिए प्रतिदिन तोड़ा-मरोड़ा जा रहा था। लावासिये को 1794 में मौत के घाट उतार दिया गया। उसकी मृत्यु के बहुत वर्षों बाद ही इन दोनों गैसों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट किया जा सका। इसीलिए लावासिये अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रीस्ले के सर्वाधिक सुदृढ़ तर्क का उत्तर कभी भी न दे सका। जिस प्रकार प्रीस्ले ने लावासिये के प्रयोगों की अवहेलना की, वैसे ही वह प्रीस्ले के तथाकथित तथ्यों की अवहेलना करता रहा। दोनों का निस्सन्देह यह विश्वास था कि किसी-न-किसी प्रकार प्रस्तुत कठिनाइयों का हल अवश्य निकल आएगा। प्रीस्ले की तो नहीं, किन्तु लावासिये की आशाएँ ठीक निकलीं। विज्ञान का पथ ऐसा ही है। वैज्ञानिक विधि के बारे में लिखने वाले कई लोगों की तरह यह मानना कि किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की सफलता या असफलता किसी एक प्रयोग पर निर्भर करती है, विज्ञान को ग़लत समझना है।

फ्लोजिस्टन सिद्धान्त की अस्वीकृति का अध्ययन किसी एक विषय का वर्णन नहीं, बल्कि कई वर्णनों की सम्बन्धित शृंखला है। इनसे उन तीनों नियमों

का स्पष्टीकरण होता है, जिनका उल्लेख इस अध्याय के आरम्भ में किया गया था। प्रयोगों तथा प्रेक्षणों से एक नई धारणापद्धति के विकास में जो जटिल अवस्थाएँ आती हैं, वे हमारे सामने लिखित रूप से आती हैं : हम इनमें प्रखर बुद्धिमत्तापूर्ण सूझों, तर्कपूर्ण दलीलों और ग़लत क्रियाओं को मिला-जुला देखते हैं। इसके अतिरिक्त फ्लोजिस्टन सिद्धान्त के अध्ययन से यह भी समझ में आता है कि पुरानी धारणाएँ किस प्रकार नई धारणाओं के विकास में बाधक होती हैं। गैसों और निस्तापन सम्बन्धी प्रयोगों के इतिहास को देखने के पश्चात् किसी को इस बात में सन्देह नहीं रहेगा कि वैज्ञानिक खोजें प्रभावकारी तभी होती हैं जब वे समय के अनुकूल हों। इसके अतिरिक्त इस लम्बी कहानी में रीति-नीति और कार्यपद्धति के सिद्धान्तों का प्रश्न भी बार-बार सामने आया है। विज्ञान के इतिहास के इस अध्याय की प्रायः अवहेलना की जाती है परन्तु नई तकनीकों का प्रभाव, सम्परीक्षण की कठिनाइयों, नियंत्रित प्रयोग का महत्त्व, प्रयोग से नई धाराणाओं का विकास—सभी बातें इससे स्पष्ट होती हैं।

रसायनज्ञ के परमाणु सिद्धान्त का विकास

इस अध्याय के अन्त में मैं परमाणु सिद्धान्त के 1800 से 1860 के दौरान हुए विकास का संक्षिप्त वर्णन देना चाहता हूँ। साधारण पाठक के लिए रसायन के इतिहास के इस अंग के अध्ययन के दो महत्त्व हैं। एक ओर तो इससे यह स्पष्ट होता है कि जब लावासिये ने राह स्पष्ट कर दी और मात्रात्मक विधियाँ चालू कर दीं तो किस प्रकार बहुत से प्रस्तुत आँकड़ों को सुव्यवस्थित करने के लिए एक धारणापद्धति की आवश्यकता थी। दूसरी ओर परमाणु सिद्धान्त के मूल विचारों की स्वीकृति में जो 50 वर्ष का विलम्ब हुआ उससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान के विकास में पूर्व-निश्चित विचारों और पूर्वाग्रहों का क्या पार्ट है। वास्तव में, यदि मुझे इस भाग को बढ़ाकर एक अध्याय का रूप देना हो तो मैं उसका शीर्षक रखूँगा : 'पूर्वाग्रहों का पचास-वर्षीय संघर्ष।

यह ऐतिहासिक तथ्य कि रसायनज्ञों के प्रयोगात्मक प्रेक्षणों की व्याख्या कर पाने योग्य परमाणु सिद्धान्त को विकसित करने के लिए 50 वर्ष तक सम्परीक्षण और बहस होती रही है, आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु विज्ञान के इतिहास के इस तथ्य से अपरिचित लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि सभी सम्बद्ध विचार और आधारभूत आँकड़े तो प्रारम्भ से ही पास में थे! प्रतिपक्षी विचारों तथा पक्ष और विपक्ष के तर्कों के विश्लेषण से स्पष्ट दिखाई देता है कि उस

समय के वैज्ञानिकों में प्रचलित कुछ पूर्व धारणाएँ विकास में बाधक थीं। अगले कुछ पृष्ठों में मैं यह संकेत करने का प्रयास करूँगा कि इन विचारों की प्रकृति क्या थी और इनसे उत्पन्न पूर्वाग्रहों पर आखिर काबू कैसे पाया गया।

इससे पहले कि पाठक आगे आने वाले तथ्यों और परिकल्पनाओं की उलझन में फँस जाए, मैं इस वृत्तान्त की शिक्षा पहले दे देना चाहता हूँ। यह शिक्षा एक ऐसे आधुनिक लेखक का उद्धरण है जो 'एक' वैज्ञानिक विधि पर विश्वास करता है। "वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के लिए यह स्वभाव आवश्यक है कि पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर वास्तविकता का सामना किया जाए।" यह विज्ञान के बारे में उन विचारधाराओं का एक नमूना है जो कई क्षेत्रों में प्रचलित हैं और यह एक ऐसा अर्द्धसत्य है जिसका विवेचन अत्यन्त कठिन है। यदि लेखक का आशय यह है कि विज्ञान बौद्धिक ईमानदारी का तकाज़ा करता है, तो हम सब इसके साथ सहमत हैं। यदि उसके मस्तिष्क में यह बात है कि वैज्ञानिक अपने युग की धारणाओं के अंतर्गत तथा सिद्ध की जाने वाली परिकल्पनाओं के आधार पर सम्परीक्षण द्वारा ऐसे स्पष्ट उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा करता है, तो भी इसका विरोध नहीं किया जा सकता। किन्तु इस कथन का अर्थ इससे बहुत कुछ अधिक प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि किसी नई समस्या के उठने से पहले वैज्ञानिक का मस्तिष्क बिल्कुल साफ होना चाहिए। वास्तव में, जैसा कि अब तक के वृत्तान्तों से स्पष्ट है, प्रभावकारी खोज करने वाले के पास बहुत-सी पहले की धारणाएँ होती हैं। ये उसके विज्ञान की धारणाएँ और धारणापद्धतियाँ हैं और असली प्रवर्तकों के पास नए विचार भी होने चाहिएँ। परन्तु इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि ये सभी विचार तो व्यक्त हैं। पूर्वाग्रह तो तर्कविहीन भावुक प्रतिक्रियाएँ हैं। इसके साथ सहमत होते हुए भी मैं यह कहूँगा कि अपने युग के वैज्ञानिक पूर्वाग्रह प्रत्येक वैज्ञानिक के मस्तिष्क में अवश्य होने चाहिएँ। ये पूर्वाग्रह हैं—ऐसी बहुत-सी अस्पष्ट अर्द्ध-निर्मित मान्यताएँ जो उसे 'वैज्ञानिक व्यावहारिक ज्ञान' प्रतीत होती हैं। विज्ञान में इन तत्त्वों का क्या कार्य है, यह स्पष्ट करने के लिए सबसे अच्छा उदाहरण है 19वीं शताब्दी के रसायनज्ञों के द्वारा परमाणु सिद्धान्त के निर्धारण के लिए किये गए प्रयासों की कहानी।

दहन में ऑक्सीजन के भाग तथा जल की संरचना के ज्ञान से नए रसायन के लिए जमीन तैयार हो गयी। लावासिये की पुस्तक 'रसायन के मूलतत्त्व' में नए विचार प्रस्तुत किये गए और विज्ञान-संसार के सामने 'बैलेंसशीट के सिद्धान्त'

की महत्ता स्पष्ट की गई। नई धारणापद्धति के अनुसार पदार्थों के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग थे : तत्त्व और यौगिक। यौगिक दो या अधिक तत्त्वों के निश्चित मात्रा में संयोग का प्रतिफल थे। इस प्रकार कहा जा सकता था कि जल दो तत्त्वों हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक है जिनका अनुपात भार की दृष्टि से 1 और 8 का है। यह कथन कठिन मात्रात्मक सम्परीक्षणों का परिणाम था।

लगभग 1805 में डाल्टन ने नए रसायन में परमाणुओं के प्राचीन सिद्धान्त को लाने का प्रयास किया। पदार्थ के परमाणुओं का बना होने का विचार उन साधारण कल्पनात्मक विचारों में से था जो 18वीं शताब्दी के बहुत-से वैज्ञानिकों के विचारों की पृष्ठभूमि में थे। न्यूटन ने गैसों के भौतिक गुणों सम्बन्धी अपने कई लेखों में परमाणु सम्बन्धी धारणा का उपयोग किया था। किन्तु यह प्रस्तावित करने का श्रेय डाल्टन को ही है कि परमाणुओं की मदद से इस बात की व्याख्या सरल हो जाएगी कि तत्त्व कोई विशेष यौगिक बनाने के लिए भार की दृष्टि से सदा एक ही अनुपात में क्यों संयुक्त होते हैं। यदि यह मान लिया जाए कि किसी एक तत्त्व (जैसे, हाइड्रोजन) के सभी परमाणुओं का भार समान है और तत्त्वों (जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन) का जब भी कभी संयोग होता है तो मिलने वाले परमाणुओं की संख्या एक ही होती है, तो प्रायोगिक तथ्यों की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है। उदाहरण के लिए, हम डाल्टन के समान एक सरल मान्यता स्वीकार कर लेते हैं कि जल का सूक्ष्मतम कण हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के एक-एक परमाणु के संयोग से बना है। (हमारी वर्तमान धारणा-पद्धति के अनुसार यह ठीक नहीं)। अब हम प्रयोग से यह जानते हैं कि हाइ-ड्रोजन का 1 भार ऑक्सीजन के 8 भारों के साथ संयुक्त होता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणुओं के 'सापेक्ष' भार 1 और 8 हैं। परमाणु इतने छोटे होते हैं कि उनको अलग-अलग तोला नहीं जा सकता। किन्तु डाल्टन ने तर्क दिया कि उपरोक्त तर्क-जैसे तर्कों से प्रायौगिक तथ्यों के आधार पर परमाणुओं के सापेक्ष भार निश्चित किये जा सकते हैं।

प्रारम्भ में ही एक कठिनाई दिखाई दे रही थी और यह कठिनाई आधी शताब्दी तक रसायनज्ञों को तंग करती रही। यह कैसे पता लगे कि एक यौगिक की सूक्ष्मतम इकाई में कितने परमाणु संयुक्त होते हैं? डाल्टन ने कहा कि इनका पता नहीं लगाया जा सकता और हमें ऐसे सरलतम सम्बन्ध को 'मान लेना' चाहिए कि जो प्रायौगिक तथ्यों के अनुकूल हो। देखिए, यह उस सामान्य नियम

का सहारा लेने का एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसको कभी-कभी 'अधिकतम सरलता का नियम' कहा गया है। डाल्टन ने कहा कि जल का एक अणु (यह शब्द आजकल यौगिक के सूक्ष्मतम कण के लिए प्रस्तुत होता है) ऑक्सीजन के एक परमाणु और हाइड्रोजन के एक परमाणु के संयोग से बना है। आधुनिक संकेतों में जल के लिए उसका सूत्र था HO। यह मान्यता बना ली जाए 'तो' संयोग करने वाली हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के भारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाणु-भारों का ऐसा पैमाना बन सकता है जिसमें यदि हाइड्रोजन को (मनमाने तौर पर) इकाई मान लिया जाए तो ऑक्सीजन अवश्य 8 होगी।

संक्षेप में, 19वीं शताब्दी के प्रथम भाग में वैज्ञानिक एक त्रिपक्षीय सम्बन्ध में उलझे हुए थे जिसका केवल 'एक' पक्ष प्रयोग द्वारा निर्धारित था। वह था तत्त्वों के उस भार का अनुपात जो संयोग में आता है। यदि जल आदि कुछ यौगिकों का सूत्र मान लिया जाए तो प्रायौगिक तथ्यों से परमाणु-भार पैमाना बनाया जा सकता था। इसके विपरीत, यदि कोई परमाणु भार पैमाना मान लिया जाए तो तत्त्वों के भार सम्बन्ध के आधार पर यौगिकों के सूत्र बन जाते थे लेकिन आवश्यकता थी ऐसे नवीन प्रमाणों की जो या तो परमाणुओं के सापेक्ष भार को निर्धारित करें या जल आदि सरल यौगिकों में परमाणुओं की संख्या को निश्चित करें।

यह प्रमाण और इन प्रमाणों के अर्थ-निरूपण के लिए नई धारणाएँ विज्ञान-संसार के सामने 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में प्रस्तुत किये गए। **किन्तु इस फलदायक संयोग की अवहेलना कर दी गई।** एक इतालवी भौतिक-शास्त्री, एवोगाड्रो ने देखा कि जल का सूत्र कुछ अन्य मात्रात्मक आँकड़ों से निर्धारित किया जा सकता था। किन्तु 1860 तक कुछ नहीं हो सका। तब एक और इतालवी कैनीज़ारो के नेतृत्व में वैज्ञानिक लोग पुनः एवोगाड्रो के विचारों की ओर झुके और उनके आधार पर परमाणु और अणु सिद्धान्त स्थापित किए जिनको वृहत् स्वीकृति मिली। और यही वह सिद्धान्त है जो बाद के पदार्थ-रचना सम्बन्धी सम्पूर्ण विकास का आधार बना।

उन पूर्वाग्रहों को समझने के लिए, जो एवोगाड्रो के समय में उसके सिद्धान्तों की स्वीकृति में बाधक बने, हमें प्रायोगिक प्रमाण और उसकी धारणाओं दोनों का अध्ययन करना पड़ेगा। एवोगाड्रो (तथा उसके कुछ समकालीन) 'गैसीय' तत्त्वों के संयोग में दिखाई देने वाले मात्रात्मक सम्बन्ध से प्रभावित थे। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि हम गैसों के आयतन को सामने रख रहे

हैं, भार को नहीं। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि हाइड्रोजन गैस और ऑक्सीजन गैस के मिश्रण का विद्युत द्वारा विस्फोटन किया जाए तो निम्न-लिखित सम्बन्ध स्थिर होता है :

ऑक्सीजन का 1 आयतन + हाइड्रोजन के 2 आयतन——→जल वाष्प के 2 आयतन

(इस सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए आयतन की किसी भी इकाई, जैसे घनफुट का प्रयोग किया जा सकता है)। आयतनों का परस्पर सम्बन्ध बड़ा सरल है—1 : 2 : 2। यह देखा गया कि अन्य गैसीय तत्त्व भी ऐसे आयतन सम्बन्ध के साथ संयुक्त होते थे जो छोटे पूर्णांकों में व्यक्त किया जा सकता था।

यौगिक निर्माण में गैसीय तत्त्वों के 'आयतनों' के संयोग में जो पूर्णांक सम्बन्ध था उसका कारण बताने के लिए एवोगाड्रो ने दो मान्यताएँ बनाईं। पहली तो यह थी कि **ताप और दाब की समान अवस्थाओं में गैसों के समान आयतनों में कणों की समान संख्या होती है।** दूसरी यह कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन दोनों के कण दो-दो परमाणुओं से मिलकर बने हैं।

इन मान्यताओं की सहायता लेकर एवोगाड्रो ने गैसों की रासायनिक प्रति-क्रियाओं से सम्बन्धित सभी ज्ञात तथ्यों की व्याख्या कर दी। इससे वह इस परिणाम पर पहुँचा कि जल का अणु हाइड्रोजन के 2 और ऑक्सीजन के 1 परमाणुओं के संयोग से बना है, अर्थात् इसे H_2O से व्यक्त किया जाना चाहिए। इस प्रकार, संयोग में आने वाले गैसीय तत्त्वों के आयतन सम्बन्ध की माप को नया प्रमाण बनाकर और अपने नए तर्कों की सहायता से एवोगाड्रो ने कुछ यौगिकों के सूत्र स्थापित कर दिए। इस प्रकार उसने पहले व्यक्त त्रिपक्षीय सम्बन्ध को सुलझा दिया। अब भार के उस अनुपात से, जिसके अनुसार तत्त्वों
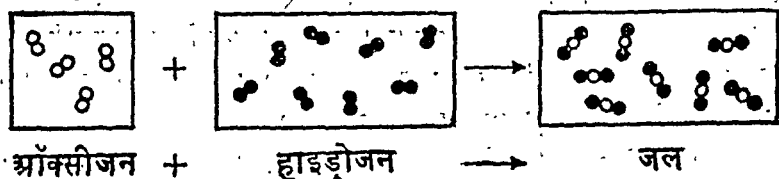
चित्र 29—गैसों के सम्बन्ध में एवोगाड्रो के विचार को दर्शाने वाला चित्र। वर्ग एक ईकाई आयतन प्रकट करता है और आयत दो ईकाई आयतन।

का संयोग होता था, परमाणु-भार पैमाना बनाया जा सकता था। एक उदाहरण

लीजिए। जल का सूत्र H_2O जल-वाष्प, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के संश्लेषण द्वारा जल के निर्माण में उनके आपसी **आयतन** सम्बन्धों के आधार पर बना। अतएव (चित्र 29) यदि हाइड्रोजन का परमाणु भार 1 है तो ऑक्सीजन का अवश्य 16 होगा, क्योंकि जल में ऑक्सीजन और हाइड्रोजन का भार सम्बन्ध 8 : 1 या 16 : 2 का है। एवोगाड्रो की दृष्टि में ऑक्सीजन और हाइड्रोजन का संयोग चित्र 29 में प्रस्तुत है (आज भी इसे हम इसी रूप में समझते हैं)।

डाल्टन इससे सहमत होने को तैयार नहीं था। अगले लगभग पचास वर्षों तक और भी अनेक रसायनज्ञ इसे स्वीकार न करते थे। क्यों? इसलिए कि एवोगाड्रो की धारणापद्धति में यह मान्यता आती थी कि या तो हाइड्रोजन गैस के कण विभाज्य हैं (जोकि परमाणु की परिभाषा के विरुद्ध थी) या फिर वे कण दो **एक जैसे** परमाणुओं से मिलकर बने हैं। किन्तु दो समान परमाणुओं को बाँधकर *क्या चीज़ रखती थी?*

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का स्वीडनवासी रसायनज्ञ बर्ज़ीलियस इस बात पर दृढ़ था कि समान परमाणु मिल नहीं सकते, क्योंकि उसने रासायनिक संयोग की एक ऐसी धारणा बना ली थी जो विभिन्न प्रकार के परमाणुओं के बीच विद्युत-आकर्षण की मान्यता पर आधारित थी। इस धारणापद्धति में इस खोज की झलक मिलती थी कि कुछ यौगिकों का विद्युतधारा से विघटन हो जाता है, जैसे जल का विद्युत-विश्लेषण। बर्ज़ीलियस के विद्युत-रासायनिक विचारों के अनुसार समान परमाणुओं का संयोग नहीं हो सकता था। (चित्र 30)
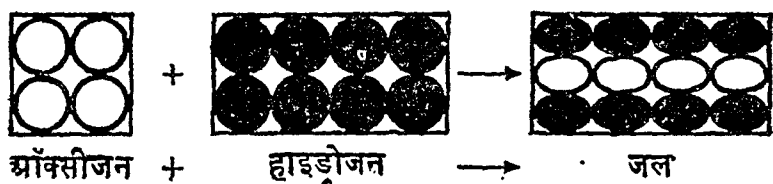
चित्र 30—गैसों के संयोजन के सम्बन्ध में बर्ज़ीलियस के विचार दर्शाने वाला चित्र।

किन्तु बर्ज़ीलियस ने इतालवी भौतिकशास्त्री के आधे विचारों को स्वीकार कर लिया। उसने कहा कि यह बड़े महत्त्व का तथ्य है कि ऑक्सीजन का एक आयतन हाइड्रोजन के दो आयतनों के साथ मिलता है। उसने कहा कि गैसीय तत्त्वों के लिए एवोगाड्रो की परिकल्पना ठीक है (अर्थात् गैसीय तत्त्वों के समान आयतनों में परमाणुओं की संख्या समान होती है)। इसीलिए बर्ज़ीलियस ने

ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के संयोग के बारे में वह धारणा बनाई जो चित्र 30 में व्यक्त है।

इस चित्र में मैंने परमाणुओं को एक-दूसरे के साथ स्पर्श करते हुए दिखाया है, क्योंकि बर्ज़ीलियस और उसके समकालीनों के मतानुसार गैस के विभिन्न कण स्पर्श करते रहते हैं। एवोगाड्रो की धारणापद्धति के अनुसार हम समझते हैं कि अणु बहुत कम स्थान घेरते हैं। बर्ज़ीलियस ने इस बात का कारण नहीं बताया कि भाप के ठीक दो आयतन बनते थे। उसके चित्र के अनुसार जल के अणु के अन्दर परमाणु सिकुड़कर आते थे किन्तु वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि भाप के आयतन का अवयवों के आयतनों के साथ इतना सरल सम्बन्ध कैसे था। सम्भवतः यह 'उन बातों में से एक थी जिनकी हम अभी व्याख्या नहीं कर सकते'। अपनी त्रुटियों के बावजूद यह धारणापद्धति बहुत फलदायक थी। अपनी मान्यताओं के द्वारा बर्ज़ीलियस ने रसायन की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली को जन्म दिया, किन्तु शीघ्र इसमें कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई और इसे त्याग दिया गया।

सिंहावलोकन से दिखाई देता है कि 1815 में एवोगाड्रो के प्रतिकूल तीन पूर्वाग्रह थे। पहला यह कि गैस के विभिन्न कण आपस में जुड़े हुए होते हैं। दूसरा यह कि समान परमाणु संयुक्त नहीं हो सकते। तीसरा था बर्ज़ीलियस का विद्युत रासायनिक सिद्धान्त। तीसरा तो इतना स्पष्ट विचार था कि इसे पूर्वाग्रह नहीं कहना चाहिए। यह तो एक ऐसी धारणापद्धति थी जो दूसरी पद्धति की स्वीकृति में बाधक थी।

एवोगाड्रो के विचारों के पक्ष में प्रायोगिक प्रमाण प्रस्तुत करने का एक प्रयास 1820 के लगभग एक फ्रांसीसी रसायनज्ञ ने किया, किन्तु उसके परिणाम से तो परमाणु सिद्धान्त पर से लगभग विश्वास ही उठ गया। 19वीं शताब्दी के विज्ञान के इतिहास का यह बड़ा विचित्र अध्याय है। इसका संक्षिप्त वृतान्त यह है—पारद और गंधक आदि ऐसे तत्त्व हैं जो बहुत उच्च ताप पर ही गैस रूप लेते हैं और ऐसे तत्त्वों के वाष्पों के सापेक्ष भार जानने की विधि ढूंढ़ ली गई। यदि एवोगाड्रो का प्रथम प्रस्ताव ठीक है तो गैसों के समान आयतनों के सापेक्ष भार इन गैसों के कणों के सापेक्ष भार के सूचक होंगे (क्योंकि मान्यता यह थी कि समान आयतनों में कणों की संख्या समान होती है)। यदि केवल तत्त्वों को ही लिया जाए तो बर्ज़ीलियस के अनुयायी इस विचार को सही मानते थे। अब बहुत-सी खोजें सामने आईं जिनसे कठिनाई होने लगी। अधिकतर तत्त्वों के वाष्पों के

सापेक्ष भारों और परमाणु-भार पैमाना बनाने में प्रयुक्त आँकड़ों में अनुकूलता नहीं थी। आधुनिक शब्दावली में हम कहेंगे कि यदि हाइड्रोजन गैस को H_2 लिखा जाए (प्रत्येक अणु में दो परमाणु), तो गैसीय पारद के परमाणु अकेले होंगे जबकि गैसीय गंधक के कम से कम 6 परमाणु एक-दूसरे से जुड़े हुए होंगे।

1830 के रसायनज्ञों को ऐसे निष्कर्ष सर्वथा असंगत प्रतीत हुए। हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, क्लोरीन आदि गैसीय तत्त्वों का व्यवहार समान था (उनमें या तो बर्ज़ीलियस के अनुसार यह कहा जा सकता था कि प्रत्येक कण में एक परमाणु होता है, या एवोगाड्रो के अनुसार यह कहा जा सकता था कि प्रत्येक कण में दो होते हैं।) कौन कल्पना कर सकता था कि प्रकृति में ऐसे तत्त्व भी हैं जिनके प्रत्येक अणु में 1 से 6 तक परमाणु हों। वैज्ञानिक प्रायः, अनजाने तौर पर, यह मानकर चलते हैं कि प्रकृति में बहुत अधिक सरलता है। 19वीं शताब्दी के पहले कुछ दशकों में इस सिद्धान्त को लागू करने के परिणामस्वरूप यह विचार बन गया कि गैसीय अवस्था में प्रत्येक तत्त्व के एक कण में परमाणुओं की संख्या एक-सी होगी। इसलिए जब तत्त्वों की समावयवता के सिद्धान्त या एवोगाड्रो के प्रस्ताव में से एक को छोड़ने का प्रश्न सामने आया तो अधिकतर वैज्ञानिकों ने एवोगाड्रो के प्रस्ताव को छोड़ दिया। इसके साथ ही बर्ज़ीलियस की व्यवस्था का भी परित्याग हो गया (इस पर और भी कई आपत्तियाँ थीं)। इसलिए 1840-50 में पूर्ण परमाणु सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतिक्रिया देखने में आई। एक युग्माणु के अन्दर संयुक्त तात्त्विक परमाणुओं की संख्या निर्धारित करने का आधार ढूँढ़ने का कोई भी प्रयास बेकार प्रतीत होता था। रसायनज्ञ उसी स्थिति पर आ गए जिस पर डाल्टन था। उन्होंने बिना कारण अधिकतम सरलता का नियम मान लिया, जल का सूत्र HO लिखा और इसी के अनुकूल परमाणु-भार पैमाना बना लिया।

यदि स्थान की कमी न होती और आवश्यक तथ्यपूर्ण सूचना इतनी अधिक न होती तो परमाणुओं की 'वास्तविकता' में विज्ञान-संसार के विश्वास के ऊँच-नीच का वर्णन बहुत रोचक होता। 1840-60 तक यह विश्वास बहुत कमज़ोर था। परन्तु जब भौतिक प्रक्रिया की व्याख्या के लिए गैसों के गतिज सिद्धान्त का विकास हुआ तो एवोगाड्रो का पहला प्रस्ताव अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होने लगा। इसके अतिरिक्त पर्याप्त परमाणु सिद्धान्त न होने के कारण रसायन की प्रगति रुक गई थी। कार्बनिक यौगिकों के रसायन सम्बन्धी जटिल तथ्यों के बारे में तब तक कुछ नहीं किया जा सकता था, जब तक कम से कम सरल वस्तुओं

के प्रत्येक अणु में परमाणुओं की संख्या के बारे में सहमति न हो। रसायनज्ञों और भौतिकशास्त्रियों की एक पीढ़ी ने बहुत से तथ्य प्रस्तुत कर दिये थे, जिनका संकेत एक ही दिशा में था। फिर सहसा सभी लोग एवोगाड्रो की ओर भागे। पहले के सन्देह समाप्त हो गए। 1840-60 के परीक्षणकर्त्ताओं के बहुत से तथ्यों की व्याख्या एवोगाड्रो की धारणापद्धति से होती मालूम पड़ी। स्थिति उस समय जैसी न थी जब लावासिये अपने विचारों की स्वीकृति के लिए संघर्ष कर रहा था। इस समय कोई प्रतिपक्षी सिद्धान्त नहीं था, केवल उलझन ही उलझन थी। 1860 में केनीज़ारो ने एवोगाड्रो के विचारों को बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया जिसके फलस्वरूप अणु-परमाणु सिद्धान्त उस रूप में स्वीकृत हो गया जिस रूप में आजकल रसायन के प्राथमिक विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। इसके तुरन्त बाद ही रसायन कई दशाओं में विकसित होने लगा। इससे धारणाओं और धारणापद्धतियों के उस क्रान्तिकारी प्रभाव का पता चलता है जो नए यन्त्रों की भाँति खोज के नए मार्ग खोल देती हैं। किन्तु वह दूसरी बात है। पाठक रसायन के इतिहास में 19वीं शताब्दी के मध्य तक आ गए हैं। अब हमें वैज्ञानिक कार्य के दूसरे नमनों को समझने के लिए दूसरे विज्ञानों की ओर चलना चाहिए।

जीवधारियों का अध्ययन : प्राकृतिक इतिहास तथा प्रयोगात्मक जीव-विज्ञान

जीव-विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी कह सकता है कि अब तक मैंने इस पुस्तक में प्रयोगात्मक विज्ञान की नहीं, केवल भौतिक विज्ञानों की ही चर्चा की है। ऐसा कहना उचित ही होगा। इस अध्याय में और इससे अगले अध्याय में प्रयास किया जाएगा कि इस असन्तुलन को दूर किया जाए। आधुनिक प्रयोगात्मक प्राणीशास्त्री का रासायनिक और भौतिक समस्याओं से इतना निकट सम्बन्ध है कि प्राणिशास्त्र को समझने के लिए भौतिक विज्ञानों को समझना अनिवार्य है। अनुसंधानकर्त्ताओं के बारे में तो यह सर्वथा सत्य है और मैं समझता हूँ कि देखने वालों के लिए भी सत्य ही है। किसी भी चिकित्सा-विद्यालय, चिकित्सालय या कृषि केन्द्र की प्रयोगशाला में जाइए, वहाँ के उपकरण देखिए और काम करने वाले स्त्री-पुरुषों से बातचीत कीजिए। आपको यह पहचानना कठिन हो जाएगा कि यहाँ जो कुछ हो रहा है वह रसायन या परमाणु शास्त्र की प्रयोगशाला में होने वाले काम से किस प्रकार भिन्न है।

परन्तु आपको एक विशेषता अवश्य मिलेगी जो अन्तर स्पष्ट कर देगी। जिस भी समस्या पर खोज हो रही होगी उसकी व्याख्या का सम्बन्ध सजीव प्राणियों के साथ अवश्य होगा। वास्तव में प्रयोगशाला के अन्दर ही कुछ पौधे या पशु उपस्थित होंगे। अन्दर नहीं, तो आसपास अवश्य होंगे। अनुसंधानकर्त्ता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चिकित्सा-गृह, वनस्पति-गृह, पशुशाला या किसी प्रायौगिक खेत का उल्लेख अवश्य करेगा। अन्वेषक अपने को चिकित्सज्ञ, चिकित्साशास्त्री, विद्यार्थी, वनस्पति शरीर-विज्ञान वेत्ता, प्राणि-रसायनज्ञ या प्राणि-भौतिकशास्त्री चाहे जो भी कहे, यदि उसके विचारों की दिशा किसी जीवधारी की ओर है तो उसके कार्य को मोटे तौर पर प्रयोगात्मक प्राणिशास्त्र के वृहत वर्ग में रखा जा सकता है। पिछले अध्यायों में वर्णित खोज की रूप-रेखाओं और दाँवपेचों तथा कार्य-पद्धतियों के नियमों का उपयोग इस विशाल और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को समझने के लिए भी किया जाता है। तो भी शोध के इस सारे क्षेत्र में कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है जिनसे पाठक को

अवगत करा देना अच्छा रहेगा।

सबसे पहले, व्यवस्थित जीव-विज्ञान के ऐतिहासिक विकास का सम्बन्ध प्रायोगिक जीव-विज्ञान वेत्ता के कार्य के साथ अवश्य होना चाहिए। दूसरे, प्रेक्षणात्मक जीव-विज्ञान के बारे में समकालीन अध्ययन को विधियों के लिए देखना चाहिए। जीवधारियों के जीवन-इतिहास की समझ के लिए पौधों और पशुओं का भौगोलिक वितरण और वर्गीकरण की पद्धतियों का अधिक स्पष्टीकरण आज जीव-विज्ञान सम्बन्धी जाँच के प्रमुख अंग हैं। प्राकृतिक इतिहास को व्यवस्थित करने वालों तथा अध्येतायों की विधियाँ पहले-पहल देखने में व्यावहारिक ज्ञान की विधियों के इतनी निकट मालूम पड़ती हैं कि उस प्रकार के कार्य से भिन्न प्रतीत होती हैं जिन पर हमने अब तक विचार किया है। सच तो यह है कि इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले कुछ वैज्ञानिक तो मेरी विज्ञान की परिभापा का भी विरोध करेंगे। वे विज्ञान की यही परिभाषा अधिक उत्तम समझेंगे कि *व्यवस्थित ज्ञान का नाम विज्ञान है।* किन्तु हाल में ही प्रकाशित अपनी एक पुस्तक 'दी नेचर ऑफ़ नेचुरल हिस्ट्री' में मार्स्टन वेट्स ने कहा है: 'वर्गीकरण मूलतः एक धारणापद्धति है।' उसने यह भी कहा है कि वर्गीकरण को कठोर तथा अनमनशील बनाने के किसी भी प्रयास का अर्थ है इसे विज्ञान के क्षेत्र से बाहर कर देना। कम-से-कम इस जीव-विज्ञानवेत्ता के लिए तो विज्ञान की यह परिभापा कि विज्ञान 'उन धारणाओं और धारणा-पद्धतियों की परस्पर संवद्ध शृंखला, जो प्रयोग और प्रेक्षण से उत्पन्न होती हैं और जिनसे नए प्रयोग और प्रेक्षण पैदा होते हैं, इतनी विशाल है कि इसमें सम्पूर्ण जीव-विज्ञान भी शामिल हो सकता है। फिर भी, जीव-विज्ञान में सम्परीक्षण की कुछ विशेपताओं पर विचार प्रारम्भ करने से पूर्व हमें तनिक रुकना चाहिए और आधुनिक विज्ञान के विकास के बारे मे इस पुस्तक में पहले कही गई बातों में कुछ संशोधन कर लेना चाहिए।

विचार और कर्म की उन तीन धाराओं को, जिनके 17वीं और 18वीं शताब्दियों में परस्पर संयोग के फलस्वरूप आधुनिक विज्ञान का उदय हुआ, पहचानते समय कृषि तथा औपधि विज्ञान की ओर मामूली-सा संकेतमात्र ही किया गया था। सुनिश्चित सम्परीक्षण की प्राचीन परम्परा का प्रस्तुतीकरण धातु-कर्मियों तथा ऐसे ही अन्य दस्तकारों के उल्लेख से हुआ था। किन्तु स्पष्ट है कि पौधे उगाने, पालतू पशुओं की नस्ल बढ़ाने, आसव आदि पेय बनाने, डबल-रोटी पकाने और नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ बनाने की विधियाँ, जो कई

शताब्दियों में विकसित हुई हैं, विशुद्ध अनुभववाद के उत्तम उदाहरण हैं। 1876 में एक भाषण देते हुए जॉन टिंडाल ने 'आनुभविक' शब्द का प्रयोग ठीक उन्हीं अर्थों में किया था जिनमें पूर्व-पृष्ठों में मैंने किया है और उसका भाषण जीव-विज्ञान सम्बन्धी क्रियाओं के बारे में था। उसने कहा था: 'इस वर्ष तक उन कारणों का कोई पूर्ण वैज्ञानिक ब्यौरा नहीं दिया गया था जो बियर के निर्माण, इसके ठीक रहने और इसमें उत्पन्न होने वाले दोषों और कठिनाइयों के पीछे काम करते हैं। अब तक शराब बनाने वाले का कौशल और कार्य चिकित्सक के समान था क्योंकि दोनों का आधार अनुभवसिद्ध प्रेक्षण था। इसका अभि-प्राय: है तथ्यों तथा उनकी व्याख्या करने वाले तथा मस्तिष्क में ठीक तरह बैठा देने वाले सिद्धान्तों का प्रेक्षण। दीर्घकालीन अनुभव से शराब खींचने वाले को यह तो समझ में आ जाता था कि किन परिस्थितियों में काम सफलतापूर्वक होता है, किन्तु यह समझ में नहीं आता था कि इसका कारण क्या है।'

खाद्य और पेय बनाने के साथ सम्बन्धित लोगों के दीर्घकालीन अनुभव के साथ आदिकालीन शरीर-रचना विशेषज्ञों तथा प्रकृति विशेषज्ञों के **अनुभव-सिद्ध प्रेक्षण** भी जोड़ देने चाहिएँ। इन प्रेक्षणों से क्रियात्मक विधियों में परिवर्तन अधिक नहीं हुए किन्तु जीवधारियों की रचना और पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विचारों का विकास हुआ। इसलिए हमें सम्परीक्षण परम्परा के बारे में ही नहीं अपितु काल्पनिक विचारों और निगमनीय तर्क विधि दोनों के बारे में अपने विचारों को बदलना होगा।

प्राचीन काल तथा मध्य युग में पशुओं और पौधों का वर्गीकरण तथा कई प्रकार के जीवधारियों की रचनाओं का विवरण विद्युत परम्परा का एक महत्त्व-पूर्ण भाग था। प्राकृतिक इतिहास के बारे में अरस्तू की कृतियाँ बहुत समय तक इस बात का उदाहरण बनी रहीं कि किस प्रकार तर्कयुक्त प्रक्रियाओं की सहायता से सामान्य विचारों की व्यवस्था करने से वर्गीकृत व्यवस्थाएँ बन सकती हैं। अरस्तू प्रकृति का सतर्क प्रेक्षक भी था और उच्च कोटि का तर्कशास्त्री भी। जब प्राकृतिक इतिहास के बारे में उसके कथनों पर सन्देह होने लगा, तब भी उसकी विधियाँ प्रभावशाली बनी रहीं। जीव-विज्ञानों को स्पष्ट समझने के लिए आवश्यक है कि जिस विचारधारा को मैंने 'निगमनीय तर्क' कहा है उसका कलेवर बढ़ाकर श्रेणियों और वर्गों के तर्क को भी इसमें शामिल कर लिया जाए।

इन अपेक्षाकृत छोटे संशोधनों के साथ 16वीं और 17वीं शताब्दियों में

आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति के बारे में मेरा विवरण जीव-विज्ञानों पर उतना ही लागू होता है जितना भौतिक विज्ञानों पर। जीव-विज्ञान में नई धारणाओं का सम्बन्ध प्रायः प्रेक्षण से था, सम्परीक्षण से नहीं। सामान्य विचारों का विकास रचना और पारस्परिक सम्बन्धों के वर्णन को सुधारने के लिए किया जाता था।

तो भी जीव-विज्ञानों का इतिहास और भौतिक विज्ञानों के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जीव-विज्ञान-वेत्ता कभी भी सम्परीक्षण के कृत्रिम संसार में इतना अधिक नहीं प्रवेश कर सकता। कृत्रिम उपकरणों के साथ वह इतने प्रयोग नहीं कर सकता जितने भौतिक विज्ञानों में काम करने वाले लोग कर सकते हैं। व्यावहारिक ज्ञान सम्बन्धी विचार और क्रियात्मक समस्याएँ सदा सामने रहती हैं। उसका क्षेत्र परिभाषा के अनुसार जीवधारियों तक सीमित है (यद्यपि वह कुछ प्रश्नों को समझाने के लिए मृत जीवों का निरीक्षण भी कर सकता है)। इसका अर्थ है कि उसे प्रकृति-प्रदत्त सामग्री के साथ ही काम करना पड़ेगा। सूक्ष्म दर्शनात्मक विश्लेषण से सम्भव है यह प्रतीत हो कि मैं जो अन्तर दिखा रहा हूँ वह वास्तविक नहीं कृत्रिम है। कहा जा सकता है कि रसायनज्ञ बहुत-से ऐसे संश्लिष्ट यौगिक बना सकता है जो पहले कहीं नहीं थे, किन्तु वह प्रकृति द्वारा प्रस्तुत सामग्री का ही जोड़-तोड़ तो करता है। भौतिकशास्त्रियों ने हमारे युग में आकर बहुत-से नए तत्त्व बना लिए किन्तु उनके बारे में भी कहा जा सकता है कि वे केवल पदार्थ में निहित सम्भावनाओं को ही साकार करते हैं। तो भी इतिहास की दृष्टि से देखते हुए मैं यही कहूँगा कि दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जीव-विज्ञानवेत्ता 'विज्ञान विज्ञान के लिए' वाले नियम का अनुसरण करने का कितना ही इच्छुक क्यों न हो, उसका सम्बन्ध सजीव पदार्थों के साथ है जो मानव जाति के भौतिक कल्याण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। परिणामतः जीव-विज्ञान के रूप में विकास के दौरान सिद्धान्त और क्रिया उस प्रकार अलग-अलग नहीं रहे, जिस प्रकार भौतिकी और रसायन में लम्बे समय तक रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नौचालकों के अतिरिक्त किसी भी व्यावहारिक व्यक्ति ने भौतिकी की प्रगति का कोई लाभ नहीं उठाया। रायल सोसाइटी के संस्थापकों ने बहुत प्रयत्न किया कि उनका विज्ञान उपयोगी बन सके परन्तु उनको बहुत सीमित सफलता प्राप्त हुई।

1550-1850 के काल में भौतिक विज्ञानों और जीव-विज्ञानों का जो अंतर मैं दिखा रहा हूँ, यह अभ्यास से दूर सैद्धान्तिक और अमूर्त विज्ञान-समूह तथा

क्रियात्मक दृष्टिकोण से सम्बद्ध निरन्तर अनुभव-सिद्ध चेष्टा का अन्तर है। व्यवस्थित जीव-विज्ञान अगणितीय है और इसमें प्रयुक्त होने वाली धारणाएँ प्रायः दैनिक जीवन की धारणाओं के समान हैं। जीव-विज्ञानों की प्रगति को मापने का पैमाना है एकत्रित सूचनाएँ और १९वीं शताब्दी तक जीव विज्ञानों के विकास में व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाओं और विशिष्ट धारणाओं का पार्ट अपेक्षाकृत बहुत कम था। किन्तु अनुभव-सिद्ध प्रेक्षण-समूह को व्यवस्थित रूप देने का बहुत बड़ा महत्त्व था, क्योंकि जीव-विज्ञान मानवमात्र के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। रोग और मृत्यु लोगों को कभी नहीं भूलते। औषधि विज्ञान संभवतः विद्वत्-व्यवसायों से सबसे पुराना है। इसलिए पुनर्जागरण काल में जब प्रत्यक्ष प्रेक्षण में दिलचस्पी बढ़ी तो औषधि विज्ञान के विद्यालय नए विज्ञान के केन्द्र बन गए। 16वीं शताब्दी में पडुआ के प्राध्यापकों ने मानव शरीर की रचना के बारे में खोज की। यह इस आशा से किया गया कि इस प्रकार उपलब्ध तथ्यों से चिकित्सा में सहायता मिलेगी। यह बात ध्यान देने की है कि 1600 में गैलीलियो जिस विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था उसी में विलियम हार्वे पडुआ में फेब्रीशियस के पास शरीर विज्ञान का अध्ययन कर रहा था।

1628 में हार्वे की रक्त-प्रवाह सम्बन्धी खोज का विज्ञान के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। रक्त के बारे में नई धारणा, कि यह एक प्रवहमान तरल है, हार्वे के प्रेक्षणों और प्रयोगों का फल थी। यह निश्चय ही अतीव लाभदायक सिद्ध हुई है। मैंने धारणा शब्द का प्रयोग किया है और पाठक इस पर कह सकता है कि रक्त-प्रवाह धारणा नहीं 'तथ्य' है। जब यह विचार प्रस्तुत किया गया था तो यह उतनी ही नई धारणा थी जितनी 'वायु के समुद्र' का विचार। परिकल्पनाओं, धारणाओं, और 'तथ्यों' के बीच में अन्तर करते समय उत्पन्न होने वाली कठिन समस्याओं के बारे में पहले के एक अध्याय में जो कुछ कहा जा चुका है, मैं उसे यहाँ पर दुहराऊँगा नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हृदय जैसे जीवाँग की कार्य-सम्बन्धी धारणा वायु-समुद्र की धारणा से बहुत कम सामान्य और अमूर्त है; और ये दोनों ही परमाणु सिद्धान्त की धारणापद्धति या तापिक तरल की धारणा की तुलना में व्यावहारिक ज्ञान सम्बन्धी विचारों के अधिक निकट हैं। परन्तु हार्वे अनुभवसिद्ध प्रेक्षण और प्रयोग की परम्परा को अपने समकालीन पास्कल के समान साधारणीकरण के उद्देश्य से मिला रहा था। उसके हाथों में पडुआ के शरीर-रचनाशास्त्रियों के सही प्रेक्षण की प्रवृत्ति से एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकला। उसके निष्कर्ष गुणात्मक थे और

किसी भी गणित-रूप में प्रस्तुत नहीं किए जा सकते थे, तो भी भौतिक विज्ञानों की समकालीन प्रगति में उनके अंशदान से इन्कार नहीं किया जा सकता।

स्वयम्भू जनन के प्रश्न पर प्रकाश डालने के लिए जो प्रयोग किये गए वे इस बात के अन्य उदाहरण हैं कि 17वीं शताब्दी के मध्य में ही जीव-विज्ञान में प्रयोग-विधि चल पड़ी थी। पूर्व अध्यायों में उल्लिखित फ्लोरेन्स की अकेदेमिया डेल सिमेन्तो का एक सदस्य फ्रांसेस्को रेडी चिकित्सक था जो अपने युग के प्रयोगात्मक विज्ञान में दिलचस्पी रखता था। सड़ते हुए माँस में जो विशेष जीवाणु पाए जाते हैं क्या वे स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं ?···इस सामान्य तथा इसलिए वैज्ञानिक प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए उसने सतर्क प्रेक्षण और सम्परीक्षण का समन्वय किया। रेडी के प्रयोगों पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

हम इस विषय का निरीक्षण जारी रखें, जिसको मैं 'प्रेक्षणात्मक जीव-विज्ञान' कह सकता हूँ। पौधों और पशुओं के वर्गीकरण की विभिन्न पद्धतियाँ मानव इतिहास के प्रारम्भ में ही उत्पन्न हो गई होंगी। इसी प्रकार, जिन लोगों की जीविका कृषि पर निर्भर थी उनके लिए पौधों और बीजों को अलग-अलग पहचानने के नियम आवश्यक थे। इस प्रकार, लिखित इतिहास के प्रारम्भ में ही मानव के पास जीवों-सम्बन्धी क्रियाओं के अनुभवसिद्ध प्रेक्षणों पर आधारित ज्ञान का विशाल भंडार था। यह सांस्कृतिक भंडार उसके जीवित रहने के लिए अनिवार्य था। लेकिन इसको वैज्ञानिक ज्ञान कहना उचित नहीं। मैं तो इसे शुद्ध अनुभवसिद्ध तथ्यों का समूह कहूँगा। किन्तु जब विचारवान विद्वान सजीव प्रकृति में दिलचस्पी लेने लगे तो व्यवाहारिक ज्ञान का यह भंडार विश्लेषण और चिन्तन का विषय बन गया। व्यवस्थित ज्ञान की वृद्धि मात्र के लिए ही इस पद्धति को सुव्यवस्थित किया गया और प्रकृति के अध्ययन में दिलचस्पी बढ़ाई गई। मध्य युग में अरस्तू पशुओं के रूप और स्वभाव का अधिकारी विद्वान माना जाता था। मानव शरीर-रचना शास्त्र तथा दैहिकी में गेलन को भी यही स्थान प्राप्त था। क्या उनके लेखों को वैज्ञानिक कहा जा सकता है ? यदि हाँ, तो प्रश्न उठता है कि व्यवस्थित जीव-शास्त्र विज्ञान कब बना ? यदि नहीं, तो क्या हम पडुआ के शरीर-रचना शास्त्रियों की परम्परा में अन्तिम व्यक्ति और हार्वे के शिक्षक फेब्रोशियस के लेखों को अवैज्ञानिक कह कर एक किनारे कर सकते हैं ?

इन प्रश्नों पर विवाद कई दिनों तक चलाया जा सकता है और फिर भी

लाभ कुछ नहीं होगा। मेरे विचार में जीव विज्ञान के इतिहास के अध्ययन की अधिक लाभदायक विधि यह होगी कि हम किसी ऐसी धारणा पर विचार करें जो विज्ञान और उद्योग के सम्बन्ध का विश्लेपण करने में लाभदाक सिद्ध हुई है। आपको स्मरण होगा कि किसी भी समय पर किसी क्रियात्मक कौशल में, और शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में भी 'अनुभववाद की मात्रा' का प्रयोग सुविधापूर्ण रहा है। यही आधारभूत विचार बहुत से तथ्यों पर लागू किया जा सकता है। वर्गीकरण के लिए ढाँचा प्रस्तुत करने में सामान्य विचारों और विशिष्ट धारणाओं का जितना अधिक प्रयोग होगा, अनुभववाद की मात्रा उतनी ही कम हो जाएगी। परन्तु जब तक वर्गीकरण के बाहर वृहत् और अधिक अमूर्त विचारों का उल्लेख नहीं आता तब तक व्यवस्थित ज्ञान को अधिकतर अनुभव-सिद्ध ही मानना चाहिए।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए मैं विषय से अलग हटकर सजीव प्रकृति को छोड़कर निर्जीव का उदाहरण लेता हूँ। आजकल जिन्हें खनिज विज्ञान और शिला विज्ञान कहा जाता है इनकी उत्पत्ति शिलाओं और मिट्टियों के वर्गीकरण की आदिकालीन पद्धतियों से हुई है। निस्संदेह यह ज्ञान खनिज-कार्य और धातु-निर्माण के लिए आवश्यक था। 18वीं शताब्दी की खनिज-कार्य सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है कि यह ज्ञान मूलत: अनुभवसिद्ध किन्तु धातु-निर्माताओं के लिए बहुत उपयोगी है। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रासायनिक क्रान्ति के पश्चात् ही खनिज विज्ञान को तर्क-सिद्ध आधार पर लाया जा सका। वास्तव में परमाणु सिद्धान्त का सबसे पहले उपयोग करने वाले रसायनज्ञ बर्ज़ीलियस ने खनिजशास्त्र पर ध्यान दिया ताकि इसे शुद्ध विज्ञान बनाया जा सके। हमने खनिज जगत का वर्गीकरण रसायन और भौतिकी की धारणाओं तथा धारणापद्धतियों के हिसाब से कर रखा है, इसलिए हम प्राचीन खनिजशास्त्र को पूर्णतः अनुभवसिद्ध ठहराकर छोड़ देना चाहते हैं। किन्तु 17वीं और 18वीं शताब्दी की पुस्तकों में भी कुछ प्रारम्भिक धारणाएँ और सामान्य विचार हैं। इसलिए रासायनिक क्रान्ति और परमाणु सिद्धान्त के उदय से हुई विशाल कमी से पहले भी खनिजशास्त्र में अनुभववाद की मात्रा में कुछ कमी मिलती है।

यह कहना उचित ही होगा कि 1850 में व्यवस्थित जीवविज्ञान की वही हालत थी जो 1750 में खनिज विज्ञान की थी। आज भी सन्देह किया जा सकता है कि जीव विज्ञान पर परमाणु सिद्धान्त के समान किसी सिद्धान्त का प्रभाव

हुआ है या नहीं। इतना अवश्य है कि 19वीं शताब्दी में विकास की परिकल्पना के प्रचलन और 20वीं शताब्दी में जनन विज्ञान की तीव्र प्रगति से स्थिति में गम्भीर परिवर्तन आ गया है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि आज जो लोग अपना जीवन व्यवस्थित जीव विज्ञान और पौधों तथा पशुओं के जीवन-विकास और परस्पर सम्बन्धों के अध्ययन में लगा रहे हैं, वह ऐसे क्षेत्र में काम कर रहे हैं जहाँ बहुत कुछ अनुभववाद पर ही आधारित है। परन्तु कुछ ही वर्ष पहले तक कोई इस बात की महत्ता से इन्कार नहीं करता था कि अनुभवसिद्ध प्रेक्षणों के उस समूह को बढ़ाया जाए जो जीव विज्ञान और पशु विज्ञान की पुस्तकों में लिखित हैं और जड़ीशालाओं और संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं।

ऐसे क्षेत्र में, जिसका कार्य प्रायः अनुभवाधारित रहा हो, दिलचस्पी बने रहने के कारण क्रियात्मक और भावुक दोनों प्रकार के हैं। यदि तथ्यात्मक ज्ञान को महत्त्वपूर्ण समझा जाए तो वर्गीकरण की कोई भी पद्धति, चाहे वह कितनी भी निराधार क्यों न हो, पद्धति न होने से अच्छी है। प्राकृतिक इतिहास और व्यवस्थित जीव विज्ञान के विकास के पीछे प्रमुख चालक शक्ति, मेरे विचार में, जीवों के प्रति गहरी दिलचस्पी थी। कृषि और औषधि विज्ञान से उत्पन्न क्रियात्मक कारणों पर पहले ही विचार किया जा चुका है। किन्तु इससे भी ऊपर एक और कारण है। लोग अपने आपको निर्जीव की अपेक्षा सजीव संसार से अधिक सम्बन्धित समझते हैं। रसायन के ज्ञान के बिना खनिज पदार्थों का वर्गीकरण करने की अपेक्षा पशुओं और पौधों के सम्बन्धों पर विचार करते समय मनुष्य अपने आपको अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ों के पास महसूस करता है। इसके अतिरिक्त साधारण-बुद्धि प्रेक्षणों और धारणाओं से जीवों के बारे में अधिक ज्ञान मिलता है, खनिज पदार्थों के बारे में उतना नहीं। कुछ भी हो, पुनर्जागरण के बाद से अन्वेषकों और प्रकृतिवेत्ताओं ने मिलकर संसार भर से पौधों के नमूने एकत्र करके संग्रहालय भर दिए हैं और इन प्रारम्भिक जीव विज्ञानवेत्ताओं के उत्तराधिकारी यह काम आज भी किए जा रहे हैं।

17वीं शताब्दी में अणुवीक्षण यंत्र के आविष्कार के बाद तो अन्वेषण के लिए एक नया संसार खुल गया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में इस यंत्र में सुधार हुए, जिसके फलस्वरूप यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया तथा अति-सूक्ष्म जीवों के जीवन इतिहास का अध्ययन भी सम्भव हो गया। स्वयम्भू जनन सम्बन्धी विवाद पर इस कार्य का क्या प्रभाव पड़ा, यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जायगा। इसी प्रकार सुधरे हुए अणुवीक्षण यंत्र से पौधों तथा पशु-तंतुओं की

रचना का अध्ययन सम्भव हो गया। अणुवीक्षक शरीर-रचना विज्ञान ने स्थूल शरीररचना विज्ञान में वृद्धि कर दी। हर प्रकार के पौधों और पशुओं की नई जातियों और प्रकारों के वर्गीकरण तथा पहचान में लगातार दिलचस्पी के साथ-साथ बहुत-से जीवधारियों के प्रजनन तथा जटिल जीवन इतिहासों की व्याख्या का अधिक गम्भीर अध्ययन भी हुआ। कई बार छोटे पौधे और पशु बड़े जीवों के रोगों के एजेंट थे, इसलिए चिकित्साशास्त्रियों, पशु-चिकित्सकों तथा व्यावहारिक वनस्पतिशास्त्रियों को इस दिशा में और अधिक लगन से जाँच करने की स्फूर्ति मिली। इस दिशा में क्या किया गया है, इसका रोचक वृत्तान्त पढ़ने के लिए पाठक को मार्स्टन बेट्स की उत्तम पुस्तक 'दी नेचर ऑफ़ नेचुरल हिस्ट्री' पढ़नी चाहिए जिसका नाम पहले ही आ चुका है।

यह बात विवादास्पद है कि जीव विज्ञान में व्यवस्थाकार उस स्थिति पर पहुँच गया है जहाँ बहुत-से परिश्रम का थोड़ा फल निकलता हो। आज जीव विज्ञानवेत्ताओं की बिरादरी में कुछ सीमा तक वर्गीकारों और प्रायौगिक जीव विज्ञानवेत्ताओं में एक स्पष्ट दुराव पैदा हो गया है। पौधों और पशुओं के स्वभाव और सम्बन्ध का अध्ययन करने वालों की स्थिति बीच की है। प्रजनन विज्ञान, कोशिका विज्ञान, शरीर विज्ञान, जीव रसायन विज्ञान तथा अन्य प्रयोगात्मक क्षेत्रों की तीव्र प्रगति से प्रतीत होता है कि जीव विज्ञान में क्रान्तिकारी प्रगति होने वाली है। यदि ऐसा है तो शीघ्र ही इनका प्रभाव व्यवस्थित क्षेत्र पर वैसे ही पड़ेगा जैसे 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रसायन की प्रगति का गम्भीर प्रभाव खनिजशास्त्र पर हुआ था। किन्तु दर्शकों के लिए सम्भवतः यही जान लेना काफी है कि अतीत में प्रेक्षणात्मक जीव विज्ञान की उपलब्धि क्या थी और प्रयोगात्मक जीव विज्ञान के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। प्रयोगात्मक जीव विज्ञान का ही क्षेत्र इस समय तेज़ी से फैल रहा है।

व्यवस्थित जीव विज्ञान के विषय को छोड़ने से पहले व्यवस्थित ज्ञान के बारे में कुछ सामान्य बातें कह देना उचित होगा। चिड़ियाघरों और जड़ीशालाओं के अध्यक्षों का भविष्य चाहे कुछ भी क्यों न हो, मैं समझता हूँ कि वैज्ञानिकों की इस श्रेणी ने वर्गीकरण और तथ्यात्मक ज्ञान को प्रमुखता देकर अनजान में ही विज्ञान को हानि पहुँचाई है। मैंने जो कारण बताए हैं उनको सामने रखते हुए पौधों और पशुओं की सभी ज्ञात जातियों, उपजातियों और प्रकारों को सूचीबद्ध कर देना बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जा सकता है। (यद्यपि मुझे सन्देह है कि कुछ अवस्थाओं में रिक्त स्थानों की पूर्ति कोई विशेष बात नहीं)। किन्तु

इस कार्य का व्यावहारिक के अतिरिक्त किसी अन्य दृष्टिकोण से साधारणीकरण करने के फलस्वरूप यह सिद्धान्त उत्पन्न हुआ है कि 'विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान है'। इससे यह परिणाम निकलता है कि ज्ञान की किसी अज्ञात बात की खोज, जो किसी व्यवस्था में जड़ी जा सके, विज्ञान में एक प्रगति है। इस निष्कर्ष की असंगतता कार्बनिक रसायन पर दृष्टि डालते ही प्रकट हो जाती है।

कार्बनिक रसायनज्ञ अपनी प्रयोगशाला के अन्दर जिन कार्बन यौगिकों को तैयार कर सकता है, उनकी संख्या अन्तहीन है। निश्चय ही ऊपरी सीमा अगणित होगी। मैं एक उदाहरण देता हूँ। कार्बनिक यौगिकों की सरलतम श्रेणी वह है जिसका प्रत्येक यौगिक केवल कार्बन और हाइड्रोजन का बना हुआ होता है। आधुनिक रसायन की धारणापद्धति के अनुसार हम कहते हैं कि 'पैराफिन हाइड्रोकार्बन' कहलाने वाले सभी यौगिकों में कार्बन और हाइड्रोजन के परमाणु एक निश्चित सम्बन्ध के अनुसार शामिल होते हैं। यह यौगिक-माला ऐसे यौगिक से प्रारम्भ होती है जिसमें कार्बन का एक और हाइड्रोजन के चार परमाणु होते हैं। इसलिए हम इसका सूत्र लिखते हैं CH_4। इससे अगले यौगिक का सूत्र है C_2H_6, और उससे अगले का सूत्र C_3H_8 है। इसके पश्चात् C_4H_{10}, C_5H_{12},C_6H_{14} आते हैं। ये सूत्र सदा एक ही वस्तु के परिचायक नहीं होते। वास्तव में, पहले कुछ यौगिकों को छोड़कर कोई भी एक ही वस्तु का परिचायक नहीं। C_4H_{10} दो विभिन्न यौगिकों का सूत्र है, C_5H_{12} तीन का, C_6H_{14} पाँच यौगिकों का प्रतिनिधि है और नौ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका प्रतीक एक ही सामान्य सूत्र C_7H_{16} है। **समावयवी** कहलाने वाली इन वस्तुओं की संख्या उतनी ही है जितनी कार्बनिक रसायन द्वारा प्रयुक्त धारणापद्धति के अनुसार होनी चाहिए थी। इस दृष्टि से इस सिद्धात की शुद्धता में किसी को कोई सन्देह नहीं। किन्तु इस यौगिक-माला के ऊपर के यौगिकों के सभी सम्भव समावयवी बनाने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया। यह काम वास्तव में बहुत ही बड़ा होगा। उदाहरणतया, हिसाब लगाया जा सकता है कि $C_{20}H_{42}$ सूत्र 3,00,000 से अधिक समावयवों का परिचायक है और $C_{40}H_{82}$ सूत्र लगभग 70,000,000,000,000, समावयवों का सूचक है। और यह अपेक्षाकृत सरल कार्बन यौगिकों की एक ही माला है!

किसी ने यह हिसाब लगाने की चेष्टा नहीं की कि ऐसे कार्बन यौगिकों की संख्या क्या होगी जिनमें एक से चालीस तक कार्बन के परमाणु हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के साथ विभिन्न संभव युग्मों में जुड़े हुए हों। किन्तु

उपरोक्त आँकड़ों से ही स्पष्ट है कि उस दिन की कल्पना करना भी आसान नहीं जब कार्बन के दस परमाणुओं वाले सैद्धान्तिक रूप से संभव सभी कार्बनिक यौगिकों को संश्लिष्ट किया जा सकेगा। जब कोई नया पदार्थ तैयार होता है और पहचाना जाता है तथा जिसकी रचना निर्धारित हो जाती है, तो नए ज्ञान की निश्चित वृद्धि होती है। कोई लेख जिसमें एक दर्जन के लगभग नये यौगिकों का वर्णन हो किसी भी सम्मानित पत्रिका में प्रकाशित हो जाएगा। परन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इस प्रकार का लेख विज्ञान में महत्त्वपूर्ण प्रगति समझा जाएगा ? यह कार्य टिकट-संग्रह से किस प्रकार भिन्न है ? इस प्रश्न पर विचार करना उचित है क्योंकि इसका प्रभाव कार्बन यौगिकों के रसायन के क्षेत्र से बहुत आगे तक होता है।

टाल्स्टाय ने अपनी पुस्तकों में विज्ञान की निन्दा की है और हँसी उड़ाई है। उसके मतानुसार यह एक बेकार कार्य है जिसका सम्बन्ध 'इस ग्रह के ऊपर पिस्सुओं की संख्या गिनने से है।' (यह बात उसने तब कही थी जब उद्योग और औषधि पर विज्ञान के उपपरिणामों का प्रभाव प्रकट नहीं हुआ था।) वैज्ञानिकों के सामने जब कभी ऐसा कथन आता है तो वे इस प्रकार की दुराभिव्यक्ति के विरुद्ध अपने परिश्रम का तुरन्त समर्थन करते हैं। तो भी मानवतावादी जिन कारणों से 'केवल बौद्धिक उत्सुकता' के प्रति व्यग्रता दिखाता है, उनको समझना भी लाभकरी है। अन्धविश्वास का उत्तर अन्धविश्वास से नहीं दिया जा सकता। वैज्ञानिकों के काम को 'बेकार ज्ञान' कहा जाने पर उसका उत्तर इस प्रकार देने की कोई आवश्यकता नहीं। "यह व्याख्या विशुद्ध गणित के लिए, खुदा करे, उसका कभी भी कोई उपयोग न हो।" वैज्ञानिक अपना झंडा खड़ा कर सकता है और उस पर 'कला कला के लिए' जैसा कोई वाक्य लिख सकता है। किन्तु यही तो शेर का शिकारी, पर्वतारोही और टिकट-संग्रह करने वाला भी कर सकता है। यदि हम विशुद्ध विज्ञान को निजी मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ समझते हैं तो हमें उन सब लोगों को उत्तर देना होगा जो इसकी महत्ता में सन्देह करते हैं।

दुर्भाग्य की बात है कि विज्ञान पर 'व्यवस्थित ज्ञान' के रूप में बल दिया गया है। यह नहीं कि इस प्रकार का ज्ञान विज्ञान का अंश नहीं है, किन्तु यह इसका मूल नहीं। यह ज्ञान उन लोगों के लिए बहुत अधिक महत्त्व रखता है जो सजीव और निर्जीव प्रकृति का अध्ययन करते हैं। किन्तु जिन खोजकारों को हम महान् वैज्ञानिक कहते हैं उनके काम में इसका अंश इतना ही है कि इससे तथ्यात्मक

ज्ञान को व्यस्थित करने के सम्बन्ध में नए विचारों का प्रवेश होता है।

कार्बनिक रसायन सम्बन्धी इस विषयेतर चर्चा के उपरान्त अब प्राकृतिक इतिहास के बारे में भी कुछ लिख देना उचित है। यदि व्यवस्थित पशु विज्ञान या जीव विज्ञान की किसी पाठ्य-पुस्तक को देखा जाए (या इनमें से किसी का सनातन रीति से अध्ययन किया जाए) तो तथ्यात्मक सूचनाओं की विशालता का गहरा प्रभाव पड़ता है। बल प्राय: सूचनाओं पर दिया जाता है। निश्चय ही ये सूचनाएँ अपने तौर पर ही साध्य नहीं हैं, वरन् उनका सम्बन्ध पौधों और पशुओं के कार्य और विकास तथा उनके परस्पर सम्बन्ध के साथ माना जाता है। इस प्रभावकारी तथ्य-संग्रह के अध्ययन की एक और विधि यह है कि यह विचार किया जाए कि यह सब हुआ कैसे ? जीव विज्ञान का यह पक्ष केवल इस विषय के इतिहासों में मिल सकता है। किन्तु इसी स्थान पर प्रारम्भिक जीव विज्ञान-वेत्ताओं की प्रेक्षण विधियों को देखा जा सकता है और समझ में आ सकता है कि नए परिणाम किस प्रकार आगे काम का उत्साह देते हैं।

जीव विज्ञानों को समझने के लिए मैं पाठक का ध्यान वाईटमैन की पुस्तक 'द ग्रोथ ऑफ़ साइंटिफिक आइडियाज़' तथा जीव विज्ञान के विभिन्न इतिहासों की ओर आकर्षित करूँगा। यहाँ मैं केवल कुछ बातों पर जोर दूंगा ताकि भौतिक विज्ञानों के बारे में जो कुछ कहा गया है उसका सम्बन्ध जीव विज्ञान में प्रयुक्त विधियों से जुड़ जाय।

प्रथमत, जीव विज्ञान के इतिहास में 17वीं शताब्दी के बाद से नए यन्त्रों के आविष्कार और पुराने यन्त्रों के सुधार पर बहुत बड़ा महत्त्व है। यह इतना स्पष्ट है कि जीव विज्ञानवेत्ता साधारण लोगों के लिए लिखते समय अवसर इसको उचित स्थान नहीं दे पाते। अणुवीक्षक प्रेक्षण 17वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुए। वास्तव में उस शताब्दी के अन्तिम 50 वर्षो को शास्त्रीय अणुवीक्षकों का युग कहा जाता है। (मजे की बात यह है कि इस युग का महानतम वैज्ञानिक हालैण्ड-वासी अणुवीक्षक एंथनी वान् लीयूवेनहोक साधारण लैन्सों से काम करता था—हम जिसे अणुवीक्षण यन्त्र कहते हैं उसके स्थान पर केवल एक आतिशी शीशा होता था।) अणुवीक्षण विज्ञान का दूसरा महान् युग था 19वीं शताब्दी की दूसरी चौथाई। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय तक दो लैन्सों के प्रयोग सम्बन्धी कठिनाइयों (संयुक्त अणुवीक्षण यन्त्र) पर आखिरकार काबू पा लिया गया था। यह दो बातों का प्रतिफल था। एक तो ऐसी उपयुक्त धारणापद्धति का नियमन जिससे लैन्स में से गुज़ारे जाने पर विभिन्न रंगों के प्रकाश के व्यव-

हार की व्याख्या होती थी। दूसरे, विभिन्न प्रकार के शीशे बनाने और उनको जोड़ने सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति। इससे एक ऐसा यन्त्र बन गया जो आधुनिक अणुवीक्षण यन्त्र से बहुत भिन्न नहीं था। आज के यन्त्र से प्रतिबिम्ब काफ़ी बड़ा और संतोपजनक बन जाता है क्योंकि विभिन्न रंगों का प्रकाश एक ही बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है। इसके अतिरिक्त मध्य शताब्दी तक चीज़ों के निरीक्षण और नमूनों के अनुप्रस्थ क्षेत्र बनाने की नई विधियाँ विकसित हो चुकी थीं और उनका बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाने लगा था।

17वीं शताब्दी के श्रेष्ठ अणुवीक्षकों ने जीवधारियों का एक नया संसार खोज निकाला। इसके कुछ प्रभाव हमारे सामने स्वयम्भू जनन के इतिहास पर विचार करते समय आएँगे। इसी प्रकार उन्होंने मानव वीर्य के अन्दर शुक्राणुओं की खोज की। इन तथा ऐसे ही अन्य प्रेक्षणों द्वारा प्रजनन की जटिलताओं को समझने की ओर महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। बहुत-सी उलझनपूर्ण प्रक्रियाओं, जैसे फूल देने वाले पौधों के प्रजनन को समझना तभी संभव हो सका जब 19वीं शताब्दी के जीव विज्ञानवेत्ताओं ने शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्रों की सहायता से काम किया।

इस सिलसिले में दूसरी बात यह है कि जीवधारियों के विकास की रचना को समझने के लिए उसी प्रकार चलना है जिस प्रकार जंगलों में खोये हुए बच्चे या शिकार की तलाश की जाती है। कार्य-विधियों और धारणाओं दोनों दृष्टि से प्राकृतिक इतिहास और व्यवस्थित जीव विज्ञान, विशाल जटिलताओं के बावजूद, व्यावहारिक ज्ञान के बहुत निकट हैं। वास्तव में, इस सारे क्षेत्र में वैज्ञानिक धारणाओं और धारणापद्धतियों के प्रति मेरा सतर्क और सन्देहपूर्ण रवैया असगंत-सा लगेगा। यह विश्वास करने का प्रयत्न किया जा सकता है कि यह 'तथ्य' नहीं है कि हम ऐसे गोले पर रहते हैं जो वायु के समुद्र से घिरा हुआ है, अपितु यह एक अत्यन्त सम्भव धारणापद्धति है। परन्तु कोई कट्टर अविश्वासी ही इस बात से इन्कार करेगा कि संसेचित अंडा शुक्राणु और रजाणु के संयोग से बनता है। ऐसे लाखों उदाहरण और भी मिल सकते हैं। परागण की प्रक्रिया को ही ले लीजिए। जिस व्यक्ति ने कभी वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन न किया हो वह इसका विवरण पहली बार देखे तो उसे यह लगभग अविश्वसनीय प्रतीत होता है। हमें बताया जाता है कि अणुवीक्षक प्रेक्षणों से मालूम हुआ है कि पराग-कण से एक नली उत्पन्न होती है और वर्तिका से उतरकर अंडाशय में प्रविष्ट होती है। इस प्रकार पराग की एक जनन कोशिकी परागित पुष्प की एक

कोशिका के साथ मिल जाती है, यह उलझनपूर्ण तो है, परन्तु है तथ्यात्मक। एक और उदाहरण लें। हम उन लोगों के अनुसंधान कौशल से विस्मित हो जाते हैं, जिन्होंने पालतू पशुओं और मनुष्यों के कुछ परजीवियों के जीवन विकास के बारे में पता लगाया है। हम प्रकृतिवेत्ताओं को तथ्यों के उलझे हुए समूह को सुलझाते हुए देखते हैं तो लगता है कि यह तो गुप्तचर विभाग का कार्य हो रहा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस समय व्यवस्थित जीव विज्ञान की धारणाएँ तथा व्यावहारिक कार्यकर्त्ता की विधियाँ दैनिक जीवन की क्रियाओं से इतनी निकट हैं कि विज्ञान के इस क्षेत्र में हम व्यावहारिक ज्ञान के बहुत समीप प्रतीत होते हैं। किन्तु आज जीव विज्ञान के भी बहुत-से ऐसे क्षेत्र हैं जिनकी धारणाएँ और धारणापद्धतियाँ गैर-वैज्ञानिकों के लिए व्यावहारिक ज्ञान से उतनी ही दूर हैं जितनी भौतिक विज्ञानवेत्ताओं और रसायनज्ञों की धारणाएँ अथवा धारणापद्धतियाँ। इनमें से एक जनन विज्ञान का क्षेत्र है। जीव (अनुवंशिकता की इकाई) की धारणा प्रारम्भ में उतनी ही परिकल्पनात्मक थी जितनी परमाणु की धारणा 1800 के आसपास थी, जब डाल्टन ने उसे प्रस्तुत किया था। यह जीववैज्ञानिक धारणा का एक उदाहरण है। इससे भी अच्छा यह कहना होगा कि अनुवंशिकता के सम्बन्ध में आधुनिक विचार जीव विज्ञान की एक धारणापद्धति है। ये विचार कैसे विकसित हुए और धारणापद्धति का इस समय क्या मूल्य है, इस बारे में कुछ समझ इस समय विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रजनन विज्ञान वेत्ताओं ने जो मूल विचार अब तक स्वीकार कर लिए हैं उनको सोवियत संघ में कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धान्त के प्रतिकूल घोषित कर दिया गया है। वैचारिकी और विज्ञान एक दूसरे में गडमड हो गए हैं। इस विषय पर मैं इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में और अधिक कहूँगा। परन्तु मैं पाठकों को जूलियन हक्सले की पुस्तक 'हैरेडिटी, ईस्ट एण्ड वेस्ट' पढ़ने का परामर्श दूंगा। यह जीव विज्ञान की इस विशेष शाखा के लिए प्रवेशिका का काम करेगी तथा इससे यह भी मालूम होगा कि लौह आवरण के उस पार विज्ञान को क्या हो गया है।

पास्चर द्वारा किण्वन (फरमेंटेशन) का अध्ययन : प्रायोगिक जीव विज्ञान एक उदाहरण

दैहिक जीव विज्ञान का एक और ऐसा क्षेत्र है जिसकी धारणाएँ और धारणापद्धतियाँ व्यावहारिक ज्ञान के विचारों से दूर हैं। इसका प्रथम कारण

यह है कि विगत डेढ़ सौ वर्षों में पौधों और पशुओं की जीवन-प्रक्रियाओं का अध्ययन अन्वेषकों को भौतिकी और रसायन के क्षेत्र में बहुत दूर तक ले गया है। इसलिए इन विज्ञानों का कुल धारणात्मक ताना-बाना जीव विज्ञान के बहुत बड़े भाग में प्रविष्ट हो गया है (यहाँ यह भी बता देना चाहिए कि इस भाग में अनुवंशिकता का अध्ययन भी शामिल है)। यह कैसे हुआ और रसायन के तर्क और विधियों को जीव विज्ञान पर लागू करने में क्या कठिनाइयाँ हैं, यह दिखाने के लिए हम लुई पास्चर द्वारा किण्वन के अध्ययन पर आते हैं।

विज्ञान की विधियों में दिलचस्पी रखने वाले किसी भी व्यक्ति को सबसे पहले तो रेनो जे० डूबो द्वारा लिखित पास्चर की जीवनी 'लुई पास्चर, फ्री लांस ऑफ़ साइंस' पढ़नी चाहिए। इसके एक अध्याय 'केलासों से जीवन तक' में डॉक्टर डूबोस ने बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है कि किस प्रकार 19वीं शताब्दी के मध्य में युवा फ्रेंच रसायनज्ञ ने केलास विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया और अन्त में जीवों के अध्ययन पर पहुँच गया। 23 से 33 वर्ष की अवस्था के बीच लुई पास्चर ने अपना ध्यान निर्जीव से हटाकर सजीव प्रकृति की ओर लगा दिया। इस प्रतिभावान् व्यक्ति में यह परिवर्तन किन कारणों से हुआ, इसका ज्ञान उसके अपने तथा उसके समकालीनों के लेखों से हो सकता है। ये लेख विज्ञान के इतिहासकारों के लिए दिलचस्पी से खाली नहीं और विज्ञान की कार्यप्रणाली और विधि के बारे में लिखने का प्रयास करने वालों के लिए तो विशेष महत्त्व रखते हैं।

स्पष्ट है कि पास्चर ने किण्वन अध्ययन इसलिए शुरू किया क्योंकि वह शराब की भट्टी में चुकन्दर की चीनी के मद्यिक किण्वन के क्रियात्मक प्रश्न में दिलचस्पी रखता था। वह लिल के विश्वविद्यालय में विज्ञान विभाग का प्रमुख था और वहीं के एक शराब निकालने वाले ने उसको परामर्श के लिए बुलाया था। यहाँ हम वही ढाँचा देखते हैं जिसका वर्णन पहले भी कई बार किया जा चुका है। एक तकनीकी बात में वैज्ञानिक की दिलचस्पी पैदा होती है और उसके परिणामस्वरूप शुद्ध विज्ञान प्रगति करता है। किण्वन की प्रक्रिया के साथ इस आकस्मिक सम्पर्क के अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें थीं जिनके कारण पास्चर ने 'किण्वन' कही जाने वाली जीव वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अन्वेषण प्रारम्भ किया। केलासों का अध्ययन करके उसने एक अत्यधिक प्रभावशाली परिकल्पना विकसित की थी और किण्वन पर अपने पहले लेख के प्रारम्भ में वह इसी की ओर संकेत करता है। परिकल्पना बड़ी निर्भीक थी और कुछ एक

संशोधनों के पश्चात् आज उसने एक निर्विरोध सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। परन्तु इसके नियमन के समय प्रमाण बहुत कम थे किन्तु यह परिकल्पना लाभदायक अवश्य प्रमाणित हुई।

पास्चर कुछ केलासों तथा द्रवों द्वारा ध्रुवीकृत प्रकाश के समतल के घूर्णन का अध्ययन कर रहा था। यह प्रकाशीय क्रिया कुछ उलझनपूर्ण है। वर्तमान कार्य के लिए इसे एक ऐसी भौतिक विशेपता माना जा सकता है जिसको उचित यंत्रों द्वारा मापा जा सकता है। ध्रुवीकृत प्रकाश को प्रभावित करने का गुण जिसे वैज्ञानिकों ने 'घूर्णन' कहा है द्रवों या घोलों में बहुत कम पाया जाता है। (केलासों के साथ पास्चर के कार्य की लम्बी और रोचक कहानी को मैं जानबूझकर छोड़ रहा हूँ।) जिन पदार्थों के अन्दर यह गुण होता है वह सभी पौधों और पशुओं की उपज हैं। आज हमारे पास इस विचार के पक्ष-प्रतिपादन के लिए अनेक उदाहरण हैं कि विचाराधीन प्रभाव केवल जीवों से उत्पन्न पदार्थों से उपजते हैं। पास्चर के पास उदाहरण कम थे तिस पर भी उसको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि **जीवन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न पदार्थ ही ध्रुवीकृत प्रकाश के समतल को घुमा सकेंगे**। यह थी उसकी अतिशय प्रभावशाली परिकल्पना। इसलिए जब उसने देखा कि लैक्टिक एसिड के एक उपोत्पाद एमायल अल्कोहल में ध्रुवीकृत प्रकाश के समतल को घुमाने का गुण है तो उसने यह परिणाम निकाला कि इसकी उत्पत्ति में किसी जीव का अवश्य ही हिस्सा रहा होगा।

मैंने इस वृत्तान्त को सरल कर दिया है क्योंकि पास्चर का लेख पढ़ने से पता चलता है कि उस समय उसके मस्तिष्क में इस व्यापक परिकल्पना के अतिरिक्त एक और परिकल्पना भी थी। लेकिन उस दूसरी परिकल्पना की व्याख्या लम्बी तकनीकी बातों में जाये बिना नहीं की जा सकती। बाद में शीघ्र ही, यह दूसरी परिकल्पना असंगत भी प्रमाणित हो गई। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ पर भी अन्य स्थितियों की तरह ऐसा लगता है कि पास्चर को अपनी निर्मित परिकल्पना पर विश्वास से स्फूर्ति मिली और उसके इस विश्वास का आधार तथ्यों से उत्पन्न तर्कपूर्ण निष्कर्ष के अतिरिक्त कुछ और था। यह परिस्थिति वैसी ही है जैसी लावासिये की थी, जब फास्फोरस के जलने के अध्ययन के परिणामों से प्रभावित होने के बाद उसने अपने तर्क पेश किए थे। परमाणु सिद्धान्त पर विचार करते हुए मैंने उन लोगों का विरोध किया है जो यह कहते हैं कि वैज्ञानिक किसी समस्या को बिना पूर्व-धारणाओं या पूर्वाग्रहों के हाथ में

लेते हैं। कम प्रमाणों से उत्पन्न दृढ़ विश्वास की महत्ता का यह एक और उदाहरण है।

जिस समय पास्चर ने किण्वन की ओर ध्यान दिया, उस समय अल्कोहल किण्वन पर काफी काम हो चुका था। यह माना जा चुका था कि किण्वन अर्थात् शकर के अल्कोहल और कार्बन डायॉक्साइड में परिणत होने की क्रिया के साथ एक जीव, खमीर, का सम्बन्ध हमेशा रहता है। किन्तु प्रायः वैज्ञानिकों का विचार यह था कि अल्कोहल का बनना खमीर के मृत कोषाओं के विघटन का परिणाम है। यह विचार मूलतः महान् जर्मन रसायनज्ञ लाईबिग का था। उसने विचार प्रस्तुत किया था कि सड़ते हुए वनस्पति पदार्थ के अन्दर किसी संयुक्त पदार्थ के विघटन से शकर के अणु में सहानुभूतिपूर्ण लहर उत्पन्न होती है। उसके और पास्चर के बीच विवाद उसी दिन प्रारम्भ हो गया जब पास्चर ने किण्वन पर काम करना प्रारम्भ किया और 1875 में लाईबिग की मृत्यु तक चलता रहा। पास्चर शकर के अल्कोहल बनने का कारण खमीर की जीवन-क्रिया को समझता था। परिणामतः उसने कहा : 'जीवन के बिना किण्वन सम्भव नहीं'। इसको पास्चर की दूसरी व्यापक परिकल्पना कहा जा सकता है। लाईबिग के मतानुसार जीवन प्रक्रिया का इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं था। उसके लिए महत्त्व केवल खमीर के अन्तर्गत पदार्थों का था। उसने हँसी उड़ाते हुए कहा कि जीवों को महत्त्वपूर्ण समझने वाले लोग उन व्यक्तियों के समान हैं जिनकी धारणा है कि पनचक्कियाँ नदी को बहाती हैं।

इस विवाद का महत्त्व इतना ही नहीं है कि 19वीं शताब्दी के मध्य के इन दो महान् वैज्ञानिकों के मतभेद के परिणामस्वरूप बहुत उत्तम अनुसंधान कार्य हुआ। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इससे जीव विज्ञान में शब्दों की परिभाषा निश्चित करने की कठिनाई प्रकट होती है। आखिर, किण्वन शब्द का क्या अर्थ था? निस्सन्देह, खमीर मिलाकर शकर से अल्कोहल बनाना। यह प्राचीन उदाहरण था। किन्तु शकर के कुछ घोलों से लैक्टिक एसिड (और कुछ एमायल अल्कोहल) कैसे बन जाता है? यह क्रिया तो विशेष ताप पर और विशेषकर चाक या श्वेत कल्कमय पदार्थों की उपस्थिति में अपने आप हो जाती थी। क्या यह भी किण्वन था? जब पास्चर ने इसका अध्ययन प्रारम्भ किया तो इसे भी किण्वन कहा जाता था। अध्ययन के पश्चात् पास्चर ने दिखाया कि इसमें एक प्रकार के अतिसूक्ष्म जीव उपस्थित थे और उसने 'लैक्टिक एसिड के खमीर' (जोकि वास्तव में एक जीवाणु था) को अलग करके दिखा दिया। और

वे प्रक्रियाएँ क्या थीं जिनका लाईविग ने एक पीढ़ी पूर्व अपनी युवावस्था में अध्ययन किया था ? उदाहरण के लिए कड़वे बादामों को जल के साथ कूचने से उत्पन्न परिवर्तन क्या था। यह एक रासायनिक प्रतिक्रिया थी जिसमें जल में घुलनशील पदार्थ से एक तेल (कड़वा बादाम का तेल) बनता था। लाईविग ने प्रदर्शित किया कि इस प्रकिया का कारण कड़वे बादाम के छिलके में उपस्थित कोई पदार्थ था। यदि इस प्रतिक्रिया को भी किण्वन मान लिया जाए तो पास्चर को प्रारम्भ से ही दिक्कत थी और भर जीवन बनी रही क्योंकि इसमें कोई सूक्ष्म जीव उपस्थित नहीं था। जहाँ तक मैं जानता हूँ पास्चर ने खमीर या लैक्टिक एसिड के किण्वन के अनुरूप कोई चीज़ ढूंढने का प्रयत्न नहीं किया। उसने इस तथा अन्य ऐसे उदाहरणों को यह कहकर छोड़ दिया कि ये 'वास्तविक किण्वन' नहीं।

अपने एक प्रारम्भिक लेख में पास्चर ने अपने अध्ययन का परिणाम इन शब्दों में प्रस्तुत किया है : "मैंने देखा है कि लैक्टिक 'ब्यूटिरिक या टारटारिक एसिड' मैलिक एसिड या यूरिया के सभी किण्वन, जिनको वास्तव में किण्वन कहा जा सकता है, सदा जीवों की उपस्थिति और वृद्धि से सम्बन्धित होते हैं। मेरे विचार के अनुसार श्वेत कल्कमय पदार्थ स्वयं खमीर नहीं, खमीर के खाद्य हैं। वास्तविक खमीर सुसंगठित सत्ताएँ होती हैं।" पास्चर के अन्तिम दो शब्दों का अभिप्राय जीवों से है। इससे उसके दूसरे व्यापक सिद्धान्त के पीछे जो अनजानी मान्यता है, वह स्पष्ट होती है। यह भी सत्य है कि वह किण्वन की अपनी परिभाषा में से कुछ जीव-रासायनिक परिवर्तनों को निकालने का समर्थन भी कर सकता था क्योंकि इनमें दूसरों की अपेक्षा शिथिल मूलभूत आणविक परिवर्तन होते थे। किन्तु पास्चर ने जब यह काम शुरू किया तो कार्बनिक रसायन इतना विकसित नहीं था कि इस अन्तर को इतना स्पष्ट किया जा सकता जितना आज हम कर सकते हैं।

पास्चर ने यह प्रदर्शित कर दिया था कि जिन परिवर्तनों का उसने उल्लेख किया था उनके लिए जीवों की वृद्धि अनिवार्य थी। जीवों की उपस्थिति ही नहीं वृद्धि अनिवार्य थी। यह अन्तर बड़े महत्त्व का है। लाईबिग और उसके अनुयायियों के मतानुसार मृत कोषाएँ इतना विघटक पदार्थ उत्पन्न कर सकती थीं जो किण्वन के लिए अनिवार्य था। किन्तु पास्चर ने अणुवीक्षण यंत्र के चतुर प्रयोग तथा ऐसी कई नई तकनीकों के आविष्कार द्वारा जो बाद में सूक्ष्म जीव विज्ञान में मानदंड बन गई, पूर्णतः प्रमाणित कर दिया कि उपर्युक्त

सभी अवस्थाओं में रासायनिक परिवर्तन तभी होते थे जब वायु की अनुपस्थिति में सूक्ष्म जीवों की वृद्धि होती थी। वास्तव में शीघ्र ही उसने एक और व्यापक परिकल्पना प्रस्तुत कर दी जिसे उसने इन शब्दों में रखा : "किण्वन का अर्थ है ऑक्सीजन के बिना जीवन।"

अब हमें यह देखना है कि उसके उपरान्त आने वाली अन्वेषकों की पीढ़ियों ने क्या कुछ खोजा और आज अवस्था क्या है। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एक जर्मन वैज्ञानिक ने खोज की कि ऊँचे दाव पर सजीव खमीर के समूह में से एक रस निकाला जा सकता है जिसमें 'कुछ' होता है जो अल्कोहल का किण्वन उत्पन्न करता है। यदि लाईविग ने यह प्रयोग कर लिया होता तो यह उसके हाथ में एक और बहुत बड़ा तर्क होता, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि सजीव कोशिका से उत्पन्न एक पदार्थ द्वारा शकर से अल्कोहल बन सकती है, फिर चाहे वह सजीव कोशिका उपस्थित हो या न हो।

पिछले पचास वर्षों में जीव विज्ञानवेत्ताओं, जीवरसायनज्ञों तथा रसायनज्ञों ने जो काम किया है, उसके आधार पर हम एक ऐसी धारणापद्धति बना सकते हैं जिसमें लाईविग-पास्चर विवाद को फौरन स्थान मिल सकता है। अब हम विश्वास करते हैं कि जीवन प्रक्रियाओं में जो परिवर्तन होते हैं, वे विशेपतः उत्प्रेरित प्रतिक्रियाएँ हैं अर्थात् ऐसे परिवर्तन हैं जो पर्याप्त मात्रा में तभी होते हैं जबकि 'उत्प्रेरक' नामक कुछ विशेष वस्तुओं की कुछ मात्रा उपस्थित हो। जो उत्प्रेरक प्रकृति में पाए जाते हैं, उन्हें विकर कहते हैं। ये सब प्रोटीन प्रतीत होते हैं। उनमें से कुछ तो विशुद्ध केलास रूप में पृथक् किए जा चुके हैं। संक्षेप में स्थिति निम्न प्रकार है : कड़वे बादाम का तेल बनना (लाईविग का प्रथम प्रेक्षण) विकर द्वारा उत्पन्न एक ऐसे परिवर्तन का उदाहरण है जो जीवित या मृत कोशाओं से आसानी के साथ अलग किया जा सकता है। अतः यदि यह परिवर्तन बिना जीवों की उपस्थिति के किये जा सकते हैं तो यह कोई बड़ी चतुराई की बात नहीं। परन्तु शकर से अल्कोहल या शकर से लैक्टिक एसिड या पास्चर के अनुसार सभी "वास्तविक किण्वन ऐसे परिवर्तन हैं जो ऐसे विकरों के कारण होते हैं जो सामान्य अवस्था में जीव कोशाओं को नहीं छोड़ते। इसलिए परिवर्तन तभी होते हैं जब कोशा जीवित और सक्रिय हो क्योंकि तभी शकर जीवित कोशाओं के अन्दर जाकर अंतःकोशीय विकरों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं (अल्कोहल या लैक्टिक एसिड) में परिवर्तित होगी। उत्पादित वस्तुएँ वापस घोल में चली जाती हैं।

कौन ठीक था''''पास्चर या लाईविग ? मैं कहूँगा, कोई भी नहीं। विघटित होने वाले पदार्थ की सहानुभूतिपूर्ण लहरों के बारे में लाईविग के विचार फलदायक नहीं थे और उनमें कोई प्रेक्षण सिद्ध नहीं होते थे। इसके अतिरिक्त, पास्चर के सिद्धान्त में कुछ भी सत्य न देख सकना लाईविग का वैज्ञानिक अंधापन था। पास्चर का सिद्धान्त ग़लत, किन्तु अत्यधिक फलदायक था। मैं एक सतर्क सन्देहशील व्यक्ति की तरह फलदायक धारणाओं और धारणापद्धतियों की बात कर रहा हूँ। इसलिए मुझे अपने ही प्रश्नों के उत्तर देने से इन्कार कर देना चाहिए। पाठक देख रहे होंगे कि इस अनुच्छेद के पहले ही वाक्य में जीव वैज्ञानिक प्रभाव मुझ पर हावी हो गया और मैंने एक व्यावहारिक प्रश्न पूछ लिया। किन्तु इसका स्पष्ट उत्तर देने की योग्यता किसी में भी नहीं है। इसे मैं सन्देहशील रसायनज्ञ के पक्ष में एक प्रमाण मानूंगा। लेकिन मैं इस बात को और आगे बढ़ाऊँगा नहीं।

अन्त में मैं इसी बात पर जोर दूंगा कि एक ओर तो किण्वन की परिभाषा देने की कठिनाई थी और दूसरी ओर जीव तथा जटिल प्रक्रिया में सम्बन्ध दिखाने की। किण्वन शब्दों के स्थान पर यदि निमोनिया, टाइफाइड, चेचक या टायफस रख दें और खमीर के स्थान पर जीवाणु या एजेण्ट तो हमारे सामने रोग सम्बन्धी वे समस्याएँ आ जाती हैं जिनके हल करने में पास्चर ने बहुत योगदान दिया। रोग के 'कीटाणु सिद्धान्त' के विकास में जो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं उनका अवलोकन करने के पश्चात् इस शताब्दी में वाइरस पर हुए काम का पर्यवेक्षण करना बड़ा लाभदायक सिद्ध हो सकता है। किन्तु चिकित्सा क्षेत्र में जाने का प्रयास करने के बजाय मैं पाठकों से फिर कहूँगा कि डूबोस द्वारा लिखित पास्चर की जीवनी पढ़ें। इसमें व्यावहारिक जीव विज्ञानवेत्ता और रसायनज्ञ या भौतिकशास्त्री की विधियों की समानता और असमानता दोनों समझ में आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त पास्चर की जीवन-कथा से जीव विज्ञान में शुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान का निकट सम्बन्ध, जिसका उल्लेख मैंने पहले भी किया है, स्पष्ट होता है। इस अन्वेषक का कार्य उन लोगों के लिए एक समृद्ध भंडार है जो प्रायौगिक विज्ञानों की विधियों के बारे में जानना चाहते हैं। वास्तव में, जिस समय पास्चर जीव विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर ही रहा था उस समय का एक प्रारम्भिक विवाद इतना शिक्षाप्रद है कि उसके लिए एक अलग अध्याय चाहिए। दैहिकी और जीवरसायन को छोड़कर अब हम लोग पौधों और पशुओं के स्वयम्भू जनन की ओर आते हैं।

जीव विज्ञान में प्रयोग और प्रेक्षण : स्वयम्भू जनन सम्बन्धी विवाद से उदाहरण

पिछले अध्याय के अन्तिम भागों में पास्चर द्वारा किण्वन के अध्ययन की चर्चा की गई थी। इस प्रकार जीवन प्रक्रियाओं की परिभाषा करने और उनके अध्ययन की कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ा था और जीव विज्ञान की उन दो शाखाओं का परिचय मिला था जिनको आजकल दैहिकी और जीवरसायन कहा जाता है। इस अध्याय में मैं प्रायौगिक जीव विज्ञान की विधियों को स्पष्ट करने के लिए उन अन्वेषणों पर विचार करूँगा जिनमें जीवरसायन का भाग बहुत कम है। जीव विज्ञान सम्बन्धी सम्परीक्षण में परिवर्तियों को नियन्त्रित करने की कठिनाइयों और एक प्रकार की कार्यविधि, जिसके लिए 'नियन्त्रित प्रयोग' शब्द निर्धारित किया गया है, की आवश्यकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा। इस दृष्टि से स्वयम्भू जनन के सिद्धान्त से सम्बन्धित विवादों में घटित विभिन्न घटनाओं का अध्ययन लाभदायक रहेगा। इस सिलसिले में हम 17वीं शताब्दी के एक इतालवी अन्वेपक के कार्य, 18वीं शताब्दी में एक अंग्रेज़ और एक इतालवी के परस्पर विवाद और 19वीं शताब्दी के तीसरे भाग में फ्रांसीसी और अंग्रेज़ वैज्ञानिकों के गम्भीर विवाद का संक्षिप्त अवलोकन करेंगे। जीव विज्ञानवेत्ताओं के काम के नमूनों के इस अध्ययन में हम देखेंगे कि प्रेक्षण को प्रयोग से अलग करने वाली कोई स्पष्ट रेखा नहीं है, यद्यपि विगत अध्याय में हमें व्यवस्था करने वालों और प्रयोगकर्त्ताओं में भेद करना लाभदायक प्रतीत हुआ था। व्हाईटहेड ने बहुत पहले ही कहा था कि ज्योतिष और भौतिकी में कार्यपद्धति सम्बन्धी कोई वास्तविक अन्तर नहीं है, यद्यपि ज्योतिष को प्रेक्षणात्मक और भौतिकी को प्रयोगात्मक विज्ञान कहा जा सकता है।

सड़ते हुए माँस में कीड़ों के कथित स्वयम्भू जनन के फ्रांसिस्को रेडी के अध्ययन से प्रेक्षण और प्रयोग के सम्बन्ध सरलतापूर्वक स्पष्ट हो सकते हैं। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि इस अन्वेषक ने प्रकृतिवेत्ता और चिकित्सक के स्वभाव का अकादेमिया डेल सिमेंटो की प्रयोग विधि के साथ मिश्रण किया था। रेडी ने

1668 में माँस में कीड़ों के बनने के बारे में अपने अध्ययन के परिणाम प्रकाशित किए। उसने पर्याप्त विश्वसनीय रीति से प्रदर्शित कर दिया कि कई दिनों तक पड़ा रहने के पश्चात् माँस में प्रकट होने वाले कीड़े अपने आप पैदा नहीं होते, जैसा कि पहले समझा जाता था। इसके विपरीत वे मक्खियों द्वारा दिये गए अण्डों से उत्पन्न होते थे। अपने वृत्तान्त में रेडी सबसे पहले सामान्य अवस्थाओं में प्राकृतिक घटनाओं के सतर्क प्रेक्षण का वर्णन देता है। वह स्पष्ट बतलाता है कि वह प्रेक्षण से प्रयोग की ओर कैसे बढ़ा।

रेडी सबसे पहले यह बतलाता है कि फ्लोरेंस में मध्य जुलाई में माँस को खुले बक्स में कई दिनों तक रखे रहने पर उसने क्या देखा। माँस के ऊपर कीड़े ही नहीं, अपितु और भी छोटी-छोटी चीज़ें दिखाई दीं जिनको वह अण्डे कहता है (वास्तव में वह कोशित थे)। उसने अण्डों से कई मक्खियाँ निकलती भी देखीं। इनके बारे में रेडी ने कहा : "वहाँ काली मक्खियों के बहुत से बच्चे दिखाई दिए ......और लगभग हर बार मैंने यह देखा कि सड़ता हुआ माँस......कीड़ों से ही पटा नहीं होता था अपितु उसमें अण्डे भी होते थे जिनमें से, जैसा मैंने पहले कहा, कीड़े निकलते थे। **इन अण्डों से मुझे उन चीजों का विचार आया जो मक्खियाँ माँस पर छोड़ जाती थीं और जो बाद में कीड़े बन जाते थे।** यह बात हमारी अकादमी का शब्द-कोष बनाने वालों ने भी देखी है। शिकारी और कसाई भी, जो माँस को गर्मी के दिनों में सफ़ेद कपड़े से ढककर गन्दगी से बचाते हैं, इसे भलीभाँति जानते हैं।"

यह एक प्रकृतिवेत्ता, बाहर काम करने वाले तथा प्राकृतिक अवस्था में घटित होने वाली जीव वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के सतर्क प्रेक्षक द्वारा प्रस्तुत रिकार्ड है। इन प्रेक्षणों से, जिन पर मैंने उपरोक्त उद्धरण में ज़ोर दिया है, यह परिकल्पना बनी कि सभी कीड़े मक्खियों द्वारा जमा की हुई गन्दगी से बनते हैं। अगले अनुच्छेद में रेडी लिखता है : "इन बातों पर विचार करने के बाद मेरा यह विचार बना कि माँस में जितने भी कीड़े पाए जाते हैं वे सब मक्खियों द्वारा छोड़े गए पदार्थों से उत्पन्न होते हैं, माँस के सड़ने से नहीं।" यह जीव विज्ञान के क्षेत्र में एक व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना का उदाहरण है। इससे वे परिणाम निकलते हैं जिनकी परीक्षा विशिष्ट प्रयोग अर्थात् किसी कृत्रिम स्थिति के प्रेक्षण द्वारा की जा सकती है। स्पष्ट है कि रेडी अकादेमिया डेल सिमेंटो के सदस्यों की कार्यविधि का अनुसरण कर रहा था, जो उस समय वायविकी और जलस्थैतिकी का अध्ययन कर रहे थे। जो प्रयोग उसने किए

वे बहुत सरल थे किन्तु वह उनको अनिवार्य समझता था। वह लिखता है: "जब तक प्रयोग द्वारा सिद्ध न हो, विश्वास बेकार है।"

अपनी इस परिकल्पना के परीक्षण के लिए कि सड़ने वाले माँस में कीड़ों की उत्पत्ति के लिए मक्खियाँ अनिवार्य हैं, रेडी ने मक्खियों को अलग कर दिया। इसके लिए उसने माँस को शीशे की बोतलों में मुहरबन्द कर दिया। उसने बड़े सन्तोष के साथ लिखा कि "कई दिन बीत जाने के बावजूद एक भी कीड़ा दिखाई नहीं दिया।" इसी अनुच्छेद में वह एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रेक्षण का ज़िक्र करता है। उसी माँस के टुकड़े उसी समय उसी प्रकार की खुली बोतलों में रखने पर माँस पर "कीड़े भी पैदा हो गए और मक्खियाँ भी दिखाई दीं।" यह प्रयोगात्मक जीव विज्ञान में बार-बार आने वाली क्रिया, **नियन्त्रित प्रयोग**, का उत्तम उदाहरण है। रेडी के कार्य को संक्षेप में बताने के पश्चात् मैं इस बारे में कुछ और भी कहूँगा।

मक्खियों को बाहर रखने में रेडी ने वायु का प्रवाह भी बन्द कर दिया था। कहा जा सकता है कि कीड़ों के न होने का कारण मक्खियों का न होना नहीं, वायु की अनुपस्थिति था। इस बात के परीक्षण के लिए रेडी ने एक सरल विधि अपनाई। उसने बोतलों के मुँह पर 'एक महीन पर्दा लगाया जिसमें से वायु अन्दर जा सकती थी।' इस पर भी उसे एक भी कीड़ा दिखाई नहीं दिया। इन प्रमाणों के आधार पर उसने समझा कि समस्या हल हो गई, और जहाँ तक मैं जानता हूँ, कथित स्वयम्भू जनन की इस बात को फिर नहीं उठाया गया। फिर भी यह देखना ठीक होगा कि कोई अविश्वासी व्यक्ति निष्कर्षों के बारे में कितना सन्देह कर सकता है। ऐसा करके जीव विज्ञान और भौतिकी के सम्परीक्षण की समानताओं और असमानताओं पर प्रकाश डाला जा सकता है।

नियंत्रण प्रयोग

परिवर्तियों के नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त, जो पहले भी हमारे सामने आ चुका है, इन प्रयोगों में कुछ बदले हुए रूप में प्रकट होता है। रेडी की कार्य-विधि का विश्लेषण करके कहा जा सकता है कि उसने निम्नलिखित तीन परिवर्ती माने: (1) मक्खियाँ, (2) प्रवाहित वायु, (3) समय, स्थान, गरमी, माँस के प्रकार आदि का कुल प्रभाव। पहले दो परिवर्तियों के परीक्षण की विधियाँ स्पष्टतः व्यावहारिक सम्परीक्षण हैं और किसी भी प्रकार राबर्ट बॉयल

की विधियों से भिन्न नहीं हैं। तीसरा परिवर्ती विचित्र प्रकार का है। रेडी ने इसका कोई विशेष उल्लेख नहीं किया किन्तु उसके 'नियन्त्रित प्रयोग' की परिस्थिति से इसकी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। एक ही प्रकार के माँस को खुली और बंद बोतलों में साथ-साथ रखकर रेडी ने उन सभी आलोचकों की आपत्ति का उत्तर दे दिया था जो यह कह सकते थे, "परन्तु उस माँस को यदि मुहरबन्द न भी किया जाता तो उस विशेष दिन उसके अन्दर कीड़े उत्पन्न न होते।"

जीव विज्ञान में नियन्त्रण प्रयोग का सार यह निश्चित करने का प्रयास है कि परीक्षणाधीन परिवर्ती ही परिणाम पर प्रभाव डालता है। यह विधि जीव-विज्ञानों तक ही सीमित नहीं। पैरियर ने जब एक अन्य प्रेक्षक को पाई-द-दोम के नीचे दूसरे बैरोमीटर के प्रेक्षण पर लगाया तो वह नियन्त्रण प्रयोग विधि का ही उपयोग कर रहा था। किन्तु जीववैज्ञानिक सम्परीक्षण में इसका विशेष महत्त्व है, क्योंकि कई बार अज्ञात प्रकृति वाले अनेक परिवर्तियों से वास्ता पड़ जाता है। इन परिवर्तियों को अलग-अलग करने के लिए एक साथ दो या अधिक प्रयोग किए जाते हैं जो केवल एक बात में भिन्न और शेष सारी बातों में समान होते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि जो भी अन्तर दिखाई दे वह केवल एक ही ज्ञात परिवर्ती का फल हो।

जीव विज्ञान और भौतिकी की तकनीकों में और भी अन्तर हैं जो रेडी के प्रयोगों और उसके परिणामों के अध्ययन से प्रकट होते हैं। कई बार यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि प्रयोगात्मक तथ्यों के आधार पर कितना व्यापक सामान्य सिद्धान्त बनाया जा सकता है। वास्तव में रेडी के सिलसिले में जिस सीमित अर्थ में हम 'तथ्य' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, उसके अनुसार 'तथ्य' भी क्या थे? प्रायोगिक परिस्थिति की अभिव्यक्ति लगभग इस प्रकार की जा सकती है: "यदि मक्खियाँ माँस तक न पहुँच पाएँ तो कीड़े नहीं होंगे।" किन्तु यह तो फ्लोरेन्स में और मध्य जुलाई में ही प्रमाणित हुआ है। क्या यह संसार के सभी भागों और हर प्रकार के माँस के बारे में सत्य है? 'माँस' और 'मक्खियाँ' शब्दों से आपका क्या अभिप्राय है? निश्चय ही 1668 में ये शब्द उस समय में प्रयुक्त अन्य 'आग', 'तेल' और 'गंधक' जैसे शब्दों से अधिक अस्पष्ट नहीं थे किन्तु लावासिये और प्रीस्ले द्वारा प्रयुक्त शब्दों 'मर्करी की लाल ऑक्साइड' से कहीं अधिक अस्पष्ट थे। संक्षेप में पुनरुत्पादनीय पदार्थ की व्यवस्था करना और परिस्थितियों को ठीक-ठीक निश्चित करना प्रयोगात्मक जीव विज्ञान के

क्षेत्र में बहुत कठिन है। यद्यपि यही समस्या सभी विज्ञानों में है तो भी यहाँ कठिनाई की मात्रा भौतिकी या रसायन से बहुत अधिक है। हम शीघ्र ही देखेंगे कि पास्चर ने इस समस्या को कैसे सुलझाया और वह भी कैसे लड़खड़ा गया था।

यदि हर प्रकार के जलवायु में हर प्रकार के माँस के साथ प्रयोगों से प्रकट हो कि कीड़े तभी पैदा होते हैं जब मक्खियाँ पहुँचती हैं, तो भी इस निष्कर्ष पर पहुँचना सुरक्षित नहीं कि स्वयम्भू जनन होता ही नहीं। रेडी स्वयं विश्वास करता था कि पौधों के घावों पर कीड़े अपने-आप पैदा हो जाते हैं।

20वीं शताब्दी के मध्य में यह स्पष्ट है कि "आज धरती के तल पर किसी न किसी स्थान पर निर्जीव पदार्थ से सजीव प्राणी पैदा हो रहे हैं" (यद्यपि मुझे सन्देह है कि जीव विज्ञान को जानने वाला कोई भी व्यक्ति इस कथन पर विश्वास करेगा।) जैसे कथनों की परीक्षा करने और उन्हें अप्रमाणित सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं। इसके विपरीत यदि कुछ लोग यह कहें (जैसा कि रेडी के समय से करीब-करीब आज तक लोग कहते रहे हैं) कि "अमुक परिस्थितियों में स्वयम्भू जनन होता है" तब यह प्रस्ताव परीक्षणीय बन जाता है। इतना अवश्य है कि जैसा 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विवादों से सिद्ध होता है, यह ऐसी सरल बात नहीं जिसका निर्णायक प्रमाण उपलब्ध हो सके।

मेरे 'निर्णायक प्रमाण' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि अब तक मैं सतर्कतापूर्वक यही कहता रहा हूँ कि प्रयोग किसी धारणापद्धति के अनुकूल है या नहीं और जान-बूझकर की हुई यह ग़लती दर्शाती है कि 19वीं शताब्दी में भी जीव विज्ञान व्यावहारिक ज्ञान के जितना समीप है उतना समीप भौतिकी या रसायन न थे। सतर्क से सतर्क अविश्वासी भी स्वयम्भू जनन सम्बन्धी कार्य का अवलोकन करते समय कारण और प्रभाव के बारे में बात करने से नहीं रह सकता।

स्पष्टतः यहाँ हम दैनिक जीवन के व्यावहारिक सम्परीक्षण के निकट हैं, जैसे रात के समय हो रहे उपद्रव का कारण ढूँढ़ना। हम एक द्वार खोलकर, दूसरा रोशनदान हिलाकर या कोई खिड़की बन्द करके कोशिश करेंगे कि शोर न सुनाई दे। रात को जिस परिकल्पना के अनुसार हमने ये प्रयोग किए उसको धारणा या धारणापद्धति कहना किसी दार्शनिक के लिए अपने अतीव दर्शनात्मक क्षणों में ही सम्भव है। पाठक को यह भी इसी प्रकार बुरा लगेगा जब मैं कहूँगा कि टोरीसेली की 'वायु-समुद्र' की धारणा और रेडी की इस धारणा में

कि 'सड़ते हुए माँस पर मक्खियाँ अंडे छोड़ देती हैं जिनसे कीड़े पैदा होते हैं' केवल मात्रा का ही अन्तर है। किन्तु मात्रा का अन्तर ही प्रकार का अन्तर वन जाता है। उदाहरण के लिए, इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन की आधुनिक अमूर्त धारणाओं का इतनी ही आधुनिक इस धारणा से मुकाविला कीजिए कि धव्वेदार बुखार का कारण 'रिकेटसिया' नाम के कीटाणु होते हैं। भौतिकी में तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा वास्ता काल्पनिक वस्तुओं से है, जो हमारे ऐन्द्रिक ज्ञान से वहुत दूर हैं; किन्तु जव हम रोग पैदा करने वाले तत्त्वों की वात करते हैं तो ऐसा लगता है कि स्थूल चीज़ों की वात कर रहे हैं। किन्तु दूसरी वात का व्यावहारिक ज्ञान से सामीप्य प्रत्यक्ष अधिक होता है, वास्तविक कम। यदि कोई धव्वेदार बुखार की परिभाषा देने की चेष्टा करे या उन कीटाणुओं की विशेषताएँ वताने का यत्न करे जो इस बुखार के 'कारण' हैं, तो कठिनाई उठ खड़ी होती है। वहुत-से प्रेक्षण इकट्ठे करने पड़ते हैं जिनमें से कुछ तो अत्यधिक अनुभवसिद्ध हैं और कुछ व्यावहारिक ज्ञान से वहुत दूर। वैसे ही कठिनाइयाँ यहाँ भी प्रस्तुत हैं जैसी किण्वन की परिभाषा करने में उपस्थित हुई थीं।

जीव विज्ञान में कारण और प्रतिफल

औषधि विज्ञान और प्रयोगात्मक जीव विज्ञान में व्यावहारिक ज्ञान की धारणाओं तथा विज्ञान की धारणाओं में संक्रमण निरन्तर वना रहता है। जव तक किसी को धारणा की 'वास्तविकता' के वारे में 'अनुभूति' वनी रहती है, तव तक वह कारण और प्रतिफल के वारे में वात करता है और 'निर्णयात्मक प्रमाण' जैसे दृढ़ शव्द प्रयोग में लाता है। यह विचार यदि नये हों या विदेशी हों तो धारणाओं एवं धारणापद्धतियों की वात अधिक होती है।

कारण और प्रतिफल सम्वन्धी व्यावहारिक ज्ञान के विचारों का जीववैज्ञानिक क्रियाओं पर तुरन्त लागू होना केवल जीववैज्ञानिक धारणाओं की 'वास्तविकता' में अन्तरानुभूत विश्वास पर ही निर्भर नहीं। एक ओर जीव विज्ञान और दूसरी ओर भौतिकी तथा रसायन के वीच मुख्य अन्तर घटनाओं को समयानुसार क्रमवद्ध करने का दिखाई देगा। यदि एक घटना दूसरी के पश्चात् आती है तो हम यह सोच सकते हैं कि पहली दूसरी का कारण हो सकती है; किन्तु इसके विपरीत नहीं। यदि वार-वार प्रयोग करने पर यह देखा जाए कि घटना अ सदा घटना व से पहले होती है, तो हम व्यावहारिक ज्ञान

के बल पर स्वीकार कर लेते हैं, कि अ कारण है और ब प्रतिफल। यद्यपि हम यह महसूस करते हैं कि ऐसा भी संभव हो सकता है कि कोई और घटना ब का वास्तविक कारण हो या अ और ब दोनों का ही कारण हो। एक लड़का किसी पड़ौसी की खिड़की में से पत्थर फेंक देता है। शीशा टूट जाता है। शीशा टूटने का कारण क्या है ? पत्थर, लड़का या लड़के का वह मित्र जिसने उसको पत्थर फेंकने के लिए उकसाया ? महत्त्वपूर्ण बात यह है कि समयानुसार घटनाओं का क्रम क्या है ? उल्टे चलाए चलचित्र के अतिरिक्त वास्तविक जीवन में हमें कभी इस प्रकार घटनाक्रम देखने का अवसर नहीं मिलता कि टूटी हुई खिड़की, अन-टूटी खिड़की, खिड़की के पास पत्थर, लड़के के हाथ में पत्थर आदि घटनाएँ विपरीत क्रम में प्रकट हों।

जीव विज्ञान की क्रियाओं की बात भी कुछ ऐसी ही है। प्रकृति-वेत्ता ही नहीं साधारण व्यक्ति भी कली, फूल और फल का सीधा क्रम देखता है, उलटा नहीं। प्रयोगात्मक जीव विज्ञानवेत्ता अत्यन्त कृत्रिम अवस्था में भी 'चलचित्र को उलटा चलाने'-जैसा काम नहीं कर सकता। उसको यह क्रम 'तथ्य' के रूप में मानना पड़ता है कि पहले अण्डा होता है, फिर चूज़ा और उसके बाद मुर्गी या मुर्गा। अब यदि मक्खियों को माँस पर 'अण्डे' छोड़ते देखा गया है और उन अण्डों से कीड़े उत्पन्न होते हैं तो हम यह कहते हैं कि कीड़ों का 'कारण' मक्खियाँ हैं। अधिक उलझनपूर्ण अवस्थाओं में हम कहते हैं कि अमुक वैज्ञानिक प्रक्रिया की तलाश हो रही है।

उपर्युक्त स्थिति की तुलना उन सरल रासायनिक प्रयोगों से कीजिए जो लावासिये और प्रीस्ले ने पारद के लाल ऑक्साइड के साथ किए थे। धातु रूप में पारद को खुली वायु में क्वथनांक से कुछ कम ताप पर काफ़ी समय तक गरम करते रहने से लाल ऑक्साइड बन जाता है। लाल ऑक्साइड को इससे भी ऊँचे ताप तक गरम करें तो पारद धातु और ऑक्सीजन गैस बन जाती है। द्रव पारद और ऑक्सीजन पारद के लाल ऑक्साइड से पहले भी हो सकते हैं और बाद में भी; यह क्रम ताप पर निर्भर करता है। कारण क्या है और प्रतिफल क्या ? या फिर जलस्थैतिकी के आरम्भिक सिद्धान्तों पर आ जाइए। दो बाजू वाले बर्तन में पानी डालकर यह दिखाया जा चुका है कि जल अपना समतल स्वयं बना लेता है। एक या दूसरी ओर फूँक मारकर दायें या बायें बाजू में स्तर ऊँचा-नीचा किया जा सकता है, किन्तु जैसे ही वायु का दाब समान हो जाएगा दोनों ओर के तल भी समान हो जाएँगे।

आसानी से यह समय-क्रम वनाया जा सकता है जिसमें एक ओर का तल ऊँचा पहले हो और दूसरी ओर का वाद में। मतलव यह कि यह प्रक्रिया उत्क्रमणीय है। यही वात पारद के ऑक्साइड की है वशर्ते कि ताप वदलता रहे और समय पर्याप्त दिया जाए। अर्थात् भौतिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओं में घटनाओं का क्रम प्राय: वदला जा सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ पर कारण और प्रतिफल की वात करना मुश्किल है। यही कारण है कि इस शब्दावली का प्रयोग भौतिक विज्ञानों में इतना नहीं होता जितना जीव विज्ञानों में।

भौतिकी और रसायन में अध्यापन कार्य में भी कारण और प्रतिफल की वात के लाभदायक सिद्ध न होने का एक कारण और भी है—वहुत-से परिवर्ती होते हैं, कारण किसे माना जाए। उदाहरणतया, हाइड्रोजन गैस वायु में जलती है तो पानी वनता है। ज्वाला का 'कारण' क्या है? हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, उत्पन्न ऊष्मा, हाइड्रोजन के परमाणुओं की ऑक्सीजन के परमाणुओं से वन्धुता या दोनों के परमाणुओं में इलेक्ट्रानों की स्थिति? और यह एक सरल रासायनिक प्रतिक्रिया है। यदि हम कुछ पृष्ठ पीछे जाएँ और पास्चर द्वारा किण्वन के अध्ययन का पुनरावलोकन करें तो हम देखेंगे कि वह किण्वन जैसी जटिल प्रतिक्रिया के 'कारण' के सम्वन्ध में विचार प्रकट कर रहा था और उसका विश्वास था कि ये कारण कुछ वढ़ते हुए जीवाणु हैं। इस वृत्तान्त के परिणाम पर विचार करने से उन हालात के वारे में संकेत मिलता है जिनके होते विज्ञान में कारण और प्रतिफल का विचार लाभदायक है और उन हालात के वारे में भी संकेत मिलता है जिनके होते यह विचार लाभदायक नहीं हैं। 'वढ़ते हुए जीवाणु' शीर्षक के अन्तर्गत पास्चर ने वास्तव में वहुत-से परिवर्तियों को इकट्ठा कर दिया था—कोशा, भित्तियाँ, विकर प्रणालियाँ, जीवों के प्रजनन यन्त्र इत्यादि। किन्तु चूँकि उसने वहुत-से अज्ञात तत्त्वों को एक साथ इकट्ठा कर दिया था, इसलिए वह कुछ समय तक इस अज्ञान के भण्डार और कुछ रासायनिक परिवर्तनों के परस्पर सम्वन्ध का अध्ययन कर सका। इन लगभग साधारण वैज्ञानिक परिस्थितियों में 'शकर से लैक्टिक एसिड वनने का कारण क्या है?' जैसे प्रश्न का भी प्रायोगिक अर्थ था। आज जव विकरों का ज्ञान उपलव्ध है तो 'किण्वन का क्या कारण है?' जैसे प्रश्न का उत्तर वड़ा ही मुश्किल है।

विज्ञान की 'व्याख्या करने' में प्रयुक्त शब्दों के वारे में यह विषयान्तरण सार्थक रहेगा यदि इससे आधुनिक विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तियों की

जटिलता के बारे में पाठक सतर्क हो जाएँ। इससे यह भी सुझाव मिल सकता है कि आधुनिक विज्ञान में से कारण और प्रतिफल की धारणा समाप्त हो जाने के बारे में भी जो कुछ कहा जाता है उसे भी सन्देह की दृष्टि से देखना चाहिए। इस पुस्तक में मैंने क्वांतम क्रियाओं पर विचार नहीं किया और न ही आधुनिक भौतिकी के बहुविज्ञापित 'अनिश्चितता सिद्धान्त' पर ध्यान दिया है। लेकिन वैज्ञानिक विधियों और तर्क रीतियों का अवलोकन करने से यह अवश्य स्पष्ट हो गया है कि या तो ज्ञान के सिद्धान्त के बृहत् और गहन विश्लेषण के लिए तैयार रहना चाहिए या फिर व्यावहारिक ज्ञान के शब्दों का प्रयोग उसी सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक वे सुविधाजनक लगें। निर्देश-क्षेत्र (जिसके अन्दर रहकर कोई वैज्ञानिक अपने प्रयोग की योजना बनाता है) के रूप में कारण और प्रतिफल शब्द कुछ क्षेत्रों में लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं और कुछ दूसरे क्षेत्रों में गड़बड़ी के कारण भी।

विषमोद्भव के बारे में 18वीं शताब्दी का वाद-विवाद

स्वयम्भू जनन के सिद्धान्त पर फिर आएँ तो हम देख सकते हैं कि रेडी के प्रयोगों तथा एक जैसे प्रेक्षणों के फलस्वरूप सामान्य पौधों और पशुओं के स्वयम्भू जनन का विचार छोड़ दिया गया प्रतीत होता है। किन्तु 17वीं शताब्दी के अणुवीक्षकों ने अतिसूक्ष्म जीव संसार की खोज करके एक नया क्षेत्र खोल दिया, जिसमें यह विवाद खूब चल सकता था। हर प्रकार के पशु और वनस्पति के सार और खुरचन में जो बहुत-से छोटे-छोटे जीव पैदा हो जाते हैं, उनके कारण पर 18वीं शताब्दी के जीववैज्ञानिकों में खूब बहस चलती रही। एक बहुत ही प्रतिष्ठित फ्रांसीसी प्रकृतिवेत्ता कोमटे द' बफ़न विषमोद्भव के सिद्धान्त का समर्थक हो गया। यह नाम बाद में स्वयम्भू जनन के सिद्धान्त को दिया गया था। बफ़न समस्त सजीव पदार्थ को संगठित कणों का बना हुआ मानता था; ये कण मूलत: अविनाशी थे लेकिन विभिन्न संयोग बना सकते थे। ये 'सजीव अणु' ही जीवन का सार थे। ध्यान रखना चाहिए कि ये विचार रासायनिक क्रान्ति (अध्याय 7) और डाल्टन के परमाणु सिद्धान्त से आधी शताब्दी पूर्व प्रस्तुत किये गए थे। बफ़न उन लोगों का तीव्र विरोधी था जो यह मानते थे कि बड़े पशुओं और पौधों की भाँति अतिसूक्ष्म जीवों के भी निश्चित सजीव पूर्वज होते हैं। उसके मतानुसार अतिसूक्ष्म कीट—जिन्हें अण्डों या बीज के समान समझा जा सके—होते ही नहीं।

एक अंग्रेज़ अव्यवसायी जीववैज्ञानिक जॉन नीडहाम ने वफ़न के अन्तिम लेखों में उसका साथ दिया। उसने वफ़न को तथाकथित विश्वसनीय प्रयोगात्मक प्रमाण दिए जिनसे यह प्रमाणित होता था कि मृत पदार्थ में सजीव पदार्थ उत्पन्न करने की योग्यता है। वह शायद पहला व्यक्ति था जिसने द्रवों या ठोस पदार्थों के अन्दर जीवों को मारने या नष्ट करने के लिए ऊँचे ताप का प्रयोग किया। उसने 'माँस का शोरवा' लेकर एक शीशे की वोतल में वन्द कर दिया और उसे गरम राख में गरम किया। उसने कहा कि इस विधि से पहले के सभी कीटाणु मर जाएँगे। किन्तु ठण्डी होने के कुछ दिन वाद यह वोतल अतिसूक्ष्म कीटों से भर गई। आज हम कहेंगे कि नीडहाम के प्रयोग सम्बन्धी विचार तो अच्छे थे परन्तु उसकी परिणामों की व्याख्या ग़लत थी। उसके समकालीन एक इतालवी प्रकृतिवेत्ता स्पालानज़ानी का भी वास्तव में यही विचार था। वह पशुओं और पौधों के सड़ने और मुरझाने का अध्ययन करना चाहता था; अतः उसने भी नीडहाम की भाँति उनके तन्तुओं के विभिन्न मिश्रणों में उपस्थित 'कीटाणुओं' को नष्ट करने के लिए उच्च ताप का प्रयोग किया। विभिन्न वीजों को गरम पानी में भिगोकर वनाए गए काढ़े का अध्ययन उसे प्रिय था। उसने अपने प्रयोगों से यह परिणाम निकाला कि यदि सतर्कता से काम लिया जाए और काढ़े को काफी देर तक गरम किया जाए तो बाद में कोई जीव प्रकट नहीं होते।

जिन कुछ लोगों ने स्पालानज़ानी के लेखों को पढ़ा है, वे अनुभव करते हैं कि उसके प्रयोगों के पश्चात् वात साफ़ हो जानी चाहिए थी। यह तो स्पष्ट है कि वह अपने समय से वहुत आगे था। नीडहाम-स्पालानज़ानी विवाद का परिणाम यह था कि दोनों ही विश्वस्त न थे और विज्ञान संसार में मतभेद जारी रहा। सौ वर्ष पश्चात् इन दोनों के काम का अवलोकन करते हुए पास्चर ने स्पष्ट किया है कि स्पालानज़ानी के कार्य के साथ ही विवाद समाप्त क्यों नहीं हो गया। यह वात असाधारण महत्त्व की है क्योंकि प्रायोगिक शव्दावली में जीववैज्ञानिक धारणाओं की परिभाषा करने की कठिनाई का यह एक और उदाहरण है। स्पालानज़ानी के विरुद्ध नीडहाम की सफाई संक्षेप में इस प्रकार थी: "पशु और पौधों के काढ़े में जीवों की पुनरुत्पत्ति को रोकने के लिए इतालवी वैज्ञानिक ने उन पदार्थों को पानी के क्वथनांक पर इतने अधिक समय तक रखा जो नीडहाम के मतानुसार जीवों को मारने के लिए आवश्यकता से कहीं अधिक था; स्पालानज़ानी ने काढ़ों की पनपने की शक्ति को कमज़ोर या सम्भवतः

सर्वथा नष्ट कर दिया था।" अंग्रेज़ का मत था कि स्पालानज़ानी ने पदार्थ को अत्यधिक यातना दी थी। हमें स्मरण रखना चाहिए कि नीडहाम और बफ़न ने मृत वनस्पति और जीव पदार्थों में एक 'जीवनी शक्ति' की प्रस्थापना की थी जो निश्चित सजीव 'कीटों' से भिन्न थी। कीट तो उबलते पानी में थोड़ी देर रखने से ही मर जाते हैं क्योंकि इतने से ही अण्डा उबल जाता है और छोटे पौधे और पशु 'मर' जाते हैं; किन्तु जीवनी-शक्ति इस गर्मी को थोड़ी देर ही सहन कर सकती है। यह इतनी संवेदी होती है कि जितनी देर स्पालानज़ानी ने उबाला उतनी देर तक बनी नहीं रह सकती। यह था नीडहाम का तर्क।

यदि जीवनी शक्ति या 'संगठित अणुओं' की परिभाषा उच्च ताप के अनुसार दी जाए तो विषमोद्भव के सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं, जो स्पालानज़ानी के प्रयोग से असंगत प्रमाणित नहीं होता। हम यह कह सकते हैं कि जीवनी-शक्ति का विचार विज्ञान से पहले की विचारधारा का प्रतिनिधि है, किन्तु उबलते पानी में डालने से बदल जाने वाले, संवेदी संगठित अणुओं का विचार 20वीं शताब्दी की प्रोटीन रसायन से भिन्न नहीं है।

जहाँ तक वैज्ञानिक मत का सम्बन्ध है नीडहाम और स्पालानज़ानी का विवाद तो अनिश्चित था ही, 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक और महत्त्वपूर्ण प्रायोगिक खोज से बात और भी उलझ गई। सन् 1800 के कुछ ही समय उपरान्त एपर्ट नामक एक साहसी फ्रांसीसी हलवाई ने खाद्य संरक्षण के लिए नीडहाम और स्पालानज़ानी की विधियों का प्रयोग किया। वह खाद्य-पदार्थ को डब्बों में बन्द करने की प्रक्रिया का आविष्कारक था क्योंकि उसने ही यह दिखलाया था कि यदि एक बोतल को खाद्य पदार्थों से लगभग पूरा भरकर, उसे उबलते हुए पानी में कुछ समय तक गरम करके, गरम रहने पर ही कार्क लगा दिया जाए तो वह पदार्थ बहुत समय तक खराब नहीं होगा। यह अत्यन्त अनुभववादी विधि की सफलता का एक और उदाहरण है, क्योंकि जब इस वैज्ञानिक खोज को क्रियात्मक कला में प्रयुक्त किया गया, तब भी निश्चित नहीं हुआ था कि 'गर्मी से अनुर्वरीकरण' कही जाने वाली प्रक्रिया में वास्तव में बदलने वाले परिवर्ती कौन-से हैं।

गर्मी से अनुर्वरीकरण के फलस्वरूप क्या होता है, यह बात अनिश्चित थी, कि तीव्रता से विकसित होते हुए रसायन ने एक ग़लत संकेत प्रदान कर दिया। एक उच्च फ्रांसीसी रसायनज्ञ ने एपर्ट की विधि का रासायनिक परीक्षण किया और देखा कि 'बन्द किये हुए' खाद्य पदार्थ के ऊपर जो वायु रह जाती

है, उसमें ऑक्सीजन नहीं होती। इससे उसने यह परिणाम निकाला कि पशु या पौधों के बचने या सड़ने में महत्त्वपूर्ण परिवर्ती ऑक्सीजन की उपस्थिति है। दूसरे शब्दों में, ऑक्सीजन ही वह जीवनी-शक्ति थी, जो नीडहाम के मतानुसार स्पालानज़ानी ने नष्ट कर दी थी।

इससे पूर्व कि हम स्वयम्भू जनन पर पास्चर के महान् कार्य पर विचार करें, थोड़ा-सा इतिहास और देख लिया जाए। 1837 में एक जर्मन आविष्कर्ता ने एक नई परीक्षण तकनीक निकाली जिसने बाद में विषमोद्भव सम्बन्धी कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उसने यह दिखाया कि गर्म की हुई वायु को माँस के रस की बोतल में डाल दिया जाए तो भी यह रस सड़ता नहीं। इससे स्पष्ट हुआ कि ऑक्सीजन का होना या न होना महत्त्वपूर्ण परिवर्ती नहीं। इससे यह संकेत मिला कि सम्भवतः वायु में मिली धूल से अन्तर पड़ता हो, ऐसी धूल से जिसमें शायद कीटाणु हैं। 20 वर्ष बाद दो जर्मनों द्वारा किये गए काम से सम्भावना और भी बढ़ गई कि उपर्युक्त परिणाम ठीक है। जर्मनों के अनुसार सड़ने वाले पदार्थों के प्रयोगों में रूई में निथारकर निकाली हुई वायु और गरम की हुई वायु एक जैसा काम करती हैं। पीछे मुड़कर देखने में यह प्रमाण विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि हमारे अन्दर यह बात घर कर चुकी है कि खाद्य-पदार्थों या अन्य वनस्पति या जीव मिश्रणों में अणुजीव तभी पैदा होते हैं जब उनमें 'कीटाणु' उपस्थित हों। जीवाणुओं की उपस्थिति और सड़ने या किण्वन के परस्पर सम्बन्ध की समस्या के कारण ही पास्चर रसायन से जीव विज्ञान की ओर चला गया।

स्वयम्भू जनन में पास्चर की दिलचस्पी किण्वन के अध्ययन का स्वाभाविक परिणाम थी। स्वयम्भू जनन पर अपने प्रथम महत्त्वपूर्ण लेख में वह किण्वन पर भी अपने विचारों की चर्चा करता है। किन्तु, जैसा कि उसके जीवनीकारों ने स्पष्ट किया है, पास्चर को इस प्रश्न के अध्ययन के लिए प्रेरणा पाऊचेट के एक लेख से मिली। यह प्रकृतिवेत्ता, जो रूयेन में प्राकृतिक इतिहास के संग्रहालय का संचालक था, स्वयम्भू जनन की संभावनाओं पर विश्वास करने लगा था। अपने विचारों के पक्ष में पाऊचेट के प्रयोग 1858 में प्रकाशित हुए थे। 1862 में पास्चर ने इसका विस्तार से उत्तर दिया। अगले कुछ वर्षों तक यह विवाद जोर-शोर से चलता रहा। तब यह लगा कि पास्चर की पूर्ण विजय हो गई है और इसमें दिलचस्पी कम हो गई। किन्तु 1870 और 1880 के बीच एक अंग्रेज डॉक्टर हैनरी सी० बासशियन ने फिर स्वयम्भू जनन का समर्थन प्रारम्भ किया।

विवाद फिर से शुरू हुआ और ऐसे परिणाम निकले जो विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। 1890 से कुछ पूर्व तक विषमोद्भव के विरुद्ध बहुत-से प्रमाण इकट्ठे हो गए। यद्यपि बासशियन ने अपने विचार (बहुत देर) 1910 में प्रकाशित एक पुस्तक द्वारा प्रस्तुत किए तो भी 20वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का कोई समर्थक नहीं बचा।

पास्चर ने 1862 में एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक है 'वायुमंडल में उपस्थित संगठित कणिकाएँ'। यह लेख प्रयोगात्मक विज्ञान के महान् प्रलेखों में से एक है। ऐतिहासिक परिचय में लेखक ने रेडी, नीडहाम, स्पालानज़ानी के कार्य तथा बाद में जर्मनी में हुए प्रयोगों का अवलोकन करने के पश्चात् लिखा है (कोष्ठों में शब्द मेरे हैं) :

"इन अनुसन्धानों, जिनकी चर्चा मैं ऊपर कर आया हूँ, के पश्चात् रूयेन के चतुर प्रकृतिवेत्ता पाऊचेट (विज्ञान अकादेमी के अनुरूप सदस्य) ने अकादेमी के समक्ष अपने वह परिणाम रखे जो उसके मतानुसार विषमोद्भव स्वयम्भू जनन) के सिद्धान्त के निश्चित आधार माने जा सकते थे तो कोई भी उसके प्रयोगों की ग़लती का वास्तविक कारण नहीं बता सका। फ्रांसीसी अकादेमी ने शीघ्र ही यह महसूस कर लिया कि कितना काम करना शेष है और निम्नलिखित विषय पर लेख के लिए पारितोषक घोषित किया : स्वयम्भूजनन के प्रश्न पर नया प्रकाश डालने के लिए सुकल्पित प्रयोगों के प्रयास।

"उस समय यह प्रश्न इतना दुरूह प्रतीत होता था कि बियट (एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी भौतिकशास्त्री) जो सदा मेरे काम में सहानुभूति दिखाता रहा है, मुझे इस अनुसन्धान में लगा देखकर दुःख प्रकट करने लगा। उसने मुझसे वचन ले लिया कि यदि मैं एक निश्चित समय में प्रस्तुत कठिनाइयों को पार न कर पाऊँ तो इस कार्य को छोड़ दूँ। डूमा (फ्रांसीसी रसायनज्ञों का डीन), जो बियट के समान मुझ पर कृपालु रहे हैं, ने भी उसी समय कहा, 'मैं किसी को भी इस विषय पर बहुत समय लगाने का परामर्श नहीं दूँगा।'

"मुझे इसमें लगने की आवश्यकता क्या थी? बीस वर्ष पहले रसायनज्ञों के सामने एक असाधारण प्रक्रिया आई, जिसको किण्वन का नाम दिया गया है। इन सब में दो चीज़ों का साथ-साथ होना आवश्यक है? एक तो किण्वन योग्य पदार्थ जैसे शकर, दूसरा नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ जोकि सदा श्वेतकल्क जैसे पदार्थ के रूप में हो। उस समय सर्वत्र स्वीकृत सिद्धान्त निम्न प्रकार था : श्वेतकल्क-युक्त पदार्थ हवा लगने पर बदल जाते हैं (अज्ञात ढंग का विशेष

ऑक्सीकरण) । इससे वे खमीर वन जाते है अर्थात् उनमें ऐसा गुण पैदा हो जाता है कि वह किण्वन पदार्थ के संसर्ग में आकर फिर काम कर सकते हैं।"

इसके उपरान्त पास्चर लैक्टिक एसिड के किण्वन पर अपने काम की चर्चा करता है, जिस पर हम पिछले अध्याय में विचार कर आए हैं, और अपने परिणामों का लाईबिग के विचारों से मुकाबिला करता है। इसके पश्चात् वह कहता है :

"यह तो ज्ञात था कि किण्व श्वेत-कल्कीय पदार्थो और ऑक्सीजन गैस के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। मैंने सोचा कि दो में से एक बात तो ठीक होगी ही—या तो किण्व संगठित इकाइयाँ हैं जो केवल ऑक्सीजन से, ऑक्सीजन के रूप में, श्वेत-कल्कीय पदार्थो के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा है स्वयम्भू जनित हैं। यदि उत्पत्ति स्वयम्भू नहीं तो केवल ऑक्सीजन इसकी उत्पत्ति का कारण नहीं है अपितु यह गैस तो केवल उन कीटाणुओं के लिए प्रेरक का काम करती है जो नाइट्रोजनयुक्त या किण्व पदार्थो में होते हैं। किण्वन का अध्ययन करते हुए मैं इस अवस्था तक पहुँच गया था कि अब मुझे स्वयम्भू जनन के प्रश्न पर अपना विचार निश्चित करना था। यहाँ संभवतः मुझे अपने उन विचारों का सशक्त समर्थन मिल सकेगा, जो उन किण्वनों से सम्बन्धित हैं जिनको वास्तव में किण्वन कहा जाता है।

"इस प्रकार मैं जिन अनुसंधानों का वर्णन करने जा रहा हूँ वे मुझे किण्वनों पर अपने काम से हटकर करने पड़े थे। इस प्रकार मुझे उस विषय पर लगना पड़ा जिस पर अभी तक केवल विज्ञानवेत्ताओं के कौशल और वुद्धिमत्ता ने काम किया था।"

जिन बातों के कारण पास्चर ने किण्वनों का अध्ययन प्रारम्भ किया उनकी जानकारी को भी मिला लें तो एक रसायनज्ञ के जीववैज्ञानिक वनने का पूरा वृत्तान्त वन जाता है। पास्चर के लेखों के ये अनुच्छेद प्रतिभावान व्यक्ति को प्रेरित करने वाली शक्तियों पर तो प्रकाश डालते ही हैं, किन्तु अपने तौर पर भी ये पढ़ने योग्य हैं। पास्चर यहाँ पर सड़ने और किण्वन के परस्पर सम्बन्ध की समस्या और स्वयम्भू जनन के प्रश्न को स्पष्ट रूप से रखता है। उसे स्वयं निर्णय करना था कि एपर्ट द्वारा वर्णित विधियाँ इसलिए सफल होती थीं कि ऑक्सीजन खत्म हो जाती थी या इसलिए कि उबलने से कीटाणु नष्ट हो जाते थे। वह प्रायोगिक प्रमाण इकट्ठे करने के काम में लग गया और उसका यह कार्य उसके पूर्वगामियों के काम के मुकाबिले में

बहुत ही विशाल था।

मैं यहाँ पास्चर के इस एक लेख का भी सार देने की चेष्टा नहीं करूँगा। लेकिन मैं इस बात पर विचार करूँगा कि उसने किस प्रकार का प्रयोग किया और अर्थ-निरूपण में क्या कठिनाइयाँ आई। यह महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ हम एक ही बिन्दु पर एकत्र होने वाले प्रमाणों पर विचार कर रहे हैं, क्योंकि स्वयम्भू जनन में विश्वास रखने वाले उसके विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर किसी एक प्रयोग-क्रम से नहीं दिया जा सकता था। पास्चर ने इस क्षेत्र में अपने तात्कालिक पूर्व-गामियों के काम को दुहराया और सुनिश्चित किया। उसने दिखाया कि लाल गर्म नली में से गुज़ारी हुई वायु (निस्तप्त वायु) किण्व पदार्थ वाले किसी वर्तन में (जो उबालकर शुद्ध कर लिया गया हो) गुज़ारी जाती है तो भी किण्वन नहीं
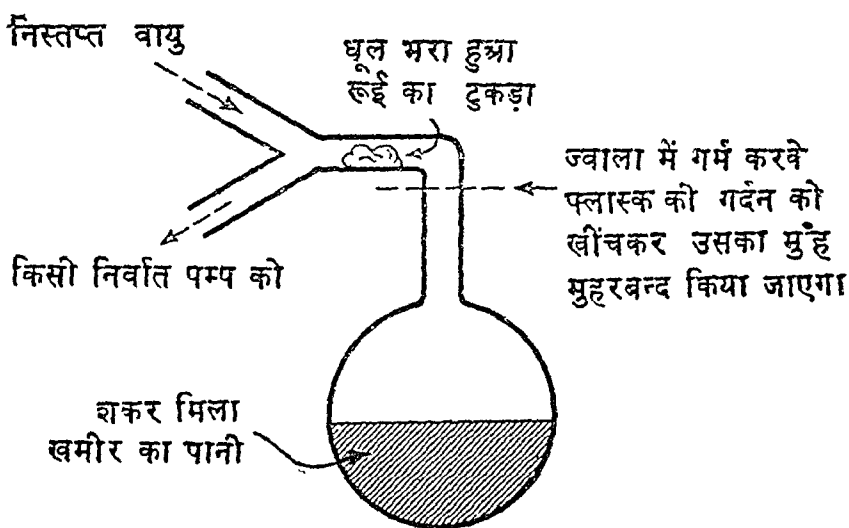
चित्र 31—पास्चर की तकनीक दर्शाने वाला चित्र। शकर मिला खमीर का पानी उबाला जाता है और नली में रूई का टुकड़ा डाल दिया जाता है। बार-बार वायु निकालने और निस्तप्त वायु भरने से साधारण वायु के स्थान पर निस्तप्त वायु भर जाती है। फिर फ्लास्क को इस प्रकार झुकाया जाता है कि रूई द्रव में गिर जाए और उसके बाद फ्लास्क के मुंह को मुहरबंद कर दिया जाता है। (चित्र 32)

होता। दूसरी ओर उसी पदार्थ वाले वर्तन में जब सामान्य वायु डाली गई तो

क़िण्वन तुरन्त प्रारम्भ हो गया (नियंत्रित प्रयोग को ध्यान में रखिये)। दोनों वार वर्तनों को गर्म स्थान पर रखा गया ताकि किण्वन शीघ्र हो। जो किण्व पदार्थ पास्चर ने प्रयोग किया था उसे उसने 'शकर मिला खमीर का पानी' नाम दिया था। यह खमीर का रस था जिसमें शकर मिला दी गई थी। इसमें जीवित खमीर नहीं था परन्तु मिश्रित शकर के अतिरिक्त खमीर के नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ और खनिज नमक उपस्थित थे। दूसरे शब्दों में विशुद्ध अनुभववादी विधियों से पास्चर ने खमीर से अच्छा 'पोपक' माध्यम तैयार कर लिया था। शीघ्र ही पता चल जाएगा कि इस विशेष प्रायोगिक पदार्थ को चुनने से महत्त्व-पूर्ण परिणाम निकले। लगभग प्रत्येक सम्परीक्षण में विशुद्ध अनुभववाद का विशेष स्थान होता है।
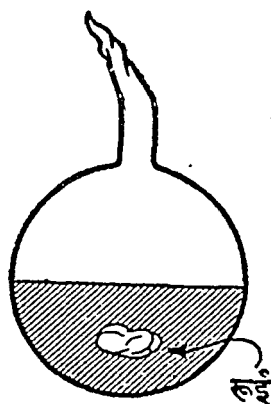
चित्र 32—मुहरबन्द किए जाने के पश्चात् चित्र 31 वाला फ्लास्क।

पास्चर को विश्वास हो गया कि वह वार-वार 'शकर मिला खमीर का पानी' ऐसी परिस्थितियों में तैयार कर सकता है कि बाद में गर्म स्थान के अन्दर इसमें क़िण्वन न हो। उसने इस ज्ञान को प्रयोग का आधार वनाया। रूई के फिल्टर में काफ़ी वायु खींच-खींचकर उसने रूई के टुकड़े के ऊपर धूल इकट्ठी कर ली। तव उसने वड़ी चतुराई के साथ रूई के टुकड़े को शोधित वोतल में डाल दिया जिसमें शकर मिला खमीर का पानी था। ऐसा इस ढंग से किया गया कि गर्म की हुई वायु ही अन्दर भेजी जा सकती थी (प्रयोग विधि चित्र 31 और 32 में दिये गए सरल चित्रों से प्रकट होती है)। उपयुक्त समय पर उन वोतलों में तीव्र किण्वन हुआ जिनके अन्दर रूई डाली गई थी और जिनमें रूई नहीं डाली गई वहाँ कुछ नहीं हुआ।

पास्चर के कार्य के इस उदाहरण में 'नियन्त्रण प्रयोग' का उपयोग स्पष्ट है। स्वयम्भू जनन पर इस विवाद में जो लोग नकारात्मक स्थिति रखते थे, वे यही कह सकते थे कि यदि कीटाणु नष्ट न हुए या उन्हें वाहर न रखा गया तो किण्वन अवश्य होगा। इसलिए यह दिखाना आवश्यक था कि यदि रूई के **अतिरिक्त** अन्य सब कुछ समान हो तो किण्वन नहीं होगा। पास्चर ने इससे भी आगे बढ़कर एक विशेष प्रयोग किया जो इन सब पर 'नियंत्रण' के समान था। उसने रूई के स्थान पर एस्वेस्टोस रख दिया। परिणाम वही थे। दो विभिन्न फिल्टरों के परिणाम समान थे, अतः उसने कहा कि किण्वन होने का कारण फिल्टर डालना नहीं है। एस्वेस्टोस के साथ उसने जो प्रयोग किया वह मुझे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। उसने दिखाया कि यदि एस्वेस्टोस का फिल्टर साधारण रूप से धूल से भर लिया जाए और उसे **गर्म करके** बोतल में डाल दिया जाए तो किण्वन नहीं होता। यदि इसी धूल भरे फिल्टर को गर्म न किया जाए तो सामान्यतः प्रयोग करने पर किण्वन अवश्य होता था।

हम अव पास्चर के इन महान् प्रयोगों को इस दृष्टि से देखेंगे कि वह क्या प्रदर्शित करना चाहता था। उसका विश्वास था कि शकर मिले खमीर के पानी में किण्वन होने के लिए जीवित पदार्थ के छोटे-छोटे कणों (कीटाणुओं) का होना अनिवार्य है। ये कण इतने छोटे और इतनी संख्या में थे कि अणुवीक्षण यंत्र **से भी** दिखाई नहीं देते थे। इसलिए उसका प्रदर्शन केवल परोक्ष ही हो सकता था। वह यह दिखाने में सफल हो गया कि किण्वन प्रारम्भ करने के लिए सामान्य वायु में से 'कोई वस्तु' बोतल में डालनी ही पड़ती है। यह भी प्रकट हुआ कि यह कोई वस्तु धूल के साथ फिल्टर पर इकट्ठी की जा सकती थी और यह गर्म करने पर नष्ट हो जाती थी (या इसकी प्रभावशीलता समाप्त हो जाती थी)। इस प्रकार प्रायोगिक शब्दावली में व्यक्त 'कोई वस्तु' उन जीवाणुओं के पूर्वरूपों के अतिरिक्त और क्या हो सकती है जो साधारण अवस्थाओं में शकर मिले खमीर के पानी में पैदा होते हैं ? यहाँ तक पास्चर सुरक्षित क्षेत्र में था। इन प्रयोगों के आधार पर उसने जो स्थिति ग्रहण की थी उससे पीछे हटने की उसे आवश्यकता न थी। किन्तु जब उसने और अधिक प्रमाण एकत्र करने की चेष्टा की तो उलझन में पड़ जाना पड़ा।

पाऊचेट के साथ पास्चर का विवाद

इस वृत्तांत के इस भाग को समझने के लिए हमें याद रखना होगा कि

कुछ वर्ष पूर्व यह विचार फैला हुआ था कि सड़ने या किण्वन में ऑक्सीजन एक अनिवार्य परिवर्ती है। यह पाऊचेट का मत था। बहुत-से ऐसे प्रयोग थे जिनमें सड़ांद या किण्वन थोड़ी-सी वायु डालकर उत्पन्न कराई जा सकती थी। इनकी व्याख्या कीटाणु सिद्धान्त से भी मिल सकती थी और ऑक्सीजन सिद्धान्त से भी। पास्चर के 'निस्तप्त वायु, वाले प्रयोग विश्वसनीय थे किन्तु उसने कुछ और अधिक सरल प्रयोग भी किये। उसने शक्कर मिला खमीर का पानी बोतल में डाला, घोल को उबाला और फिर बोतल की गरदन को ज्वाला में रखकर मुहरबन्द कर दिया। ठंडा होने के बाद बोतल की गरदन तोड़कर थोड़ी-सी वायु अन्दर डाली गई क्योंकि उच्च ताप पर मुहरबन्द करने के कारण बोतल के ऊपरी भाग में आंशिक निर्वात बन गया था। इसके बाद पास्चर ने सिरे को फिर मुहरबन्द करके बोतले को गर्म कमरे में रख दिया। अब उसने तर्क दिया कि यदि ऑक्सीजन ही महत्त्वपूर्ण कारण है तो इस प्रकार तैयार सभी बोतलों का एक-जैसा व्यवहार होना चाहिए क्योंकि खुलने और बन्द करने में इन सब के अन्दर थोड़ी-थोड़ी ऑक्सीजन अवश्य गई थी। किन्तु बहुत-से प्रयोग करने से पता चला कि बोतल के अन्दर रखे पदार्थ में किण्वन होना या न होना इस पर निर्भर करता था कि बोतल कहाँ पर खोली और बन्द की गई है। यदि एक दर्जन बोतलें तैयार की गई थीं तो कभी-कभी ही सभी बोतलों के अन्दर अतिसूक्ष्म जीवों का विकास होता था। वास्तव में जब गाँवों में उपर्युक्त प्रयोग किये गए और बोतलें खोली गई तो 73 में से केवल 8 बोतलों में किण्वन के संकेत प्रकट हुए। एक विस्मयकारी प्रयोग में पास्चर ने दिखाया कि जब 'मेर डि ग्लेस, नामक ग्लेशियर पर 20 बोतलें खोली और बन्द की गई तो बाद में केवल एक के अन्दर अतिसूक्ष्म जीव दिखाई दिए, जबकि चैमोनिक्स की सराय में खोली गई 13 में से 10 के अन्दर इसके चिह्न प्रकट हुए।

निश्चय ही पहाड़ों की वायु में धूल कम थी और सराय की वायु में अधिक। इसलिए यह निष्कर्ष युक्तिसंगत ही था कि विशेष अन्तर वायु में फैले कीटाणुओं का ही अन्तर है। परन्तु महत्त्व की बात यह थी कि बहुत-सी बोतलों में वायु के जाने पर भी किण्वन नहीं होता था। एपर्ट के सुरक्षित खाद्य में वायु के विश्लेषण से ग़लत संकेत मिला था। डिब्बों में बन्द खाद्य के ऊपर ऑक्सीजन नहीं होती। यह एक कम महत्त्व के और धीरे-धीरे होने वाले प्रभाव का परिणाम है—खाद्य में कोई ऐसा पदार्थ था जो ऑक्सीजन को चूस लेता था। यह थी पास्चर की व्याख्या और इसी को हम आज भी स्वीकार करते हैं।

1862 के अपने लेख में पास्चर अपने खोज-परिणामों को इस वक्तव्य द्वारा संक्षेप में कहता है : "यह सत्य नहीं है कि सामान्य वायु की न्यूनतम मात्रा किसी काढ़े में उसके लिए विशिष्ट प्रकार का संगठित जीवन उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है।"

पाऊचेट और उसके समर्थक पास्चर के लेख से सहमत नहीं हुए। उन्होंने स्वयं पहाड़ों की चोटियों पर प्रयोग किए और ऐसे परिणाम प्राप्त किए जो पास्चर के परिणामों के सर्वथा विपरीत थे। किण्व पदार्थों से भरी बोतलें मोंट ब्लांक और मोंट रोज़ा की चोटियों तथा पिरेनीस के एक ग्लेशियर पर खोली और बन्द की गई। कहा गया कि जो सतर्कता पास्चर ने बरती थी वह सब बरती गई। तिस पर भी जब बोतलें गर्म स्थान पर रखी गईं तो सभी में अतिसूक्ष्म जीव जन्मे। पास्चर ने स्वभावतः इसे ग़लत प्रयोग का परिणाम कहा क्योंकि प्रयोग में जो भी ग़लती होती थी वह विषमोद्भव के सिद्धान्त के पक्ष में मालूम पड़ती थी। पास्चर की परिकल्पना के अनुसार, कीटाणुओं को नष्ट करने या दूर करने की असफलता के परिणामस्वरूप स्वयम्भू जनन के पक्ष में प्रमाण प्रतीत होंगे।

पास्चर और पाऊचेट के विवाद का निर्णय करने के लिए फ्रांसीसी अकादमी की एक समिति बनाई गई। पास्चर ने अपनी बोतलें प्रस्तुत कीं जिन्हें खोलने और बन्द करने के बावजूद भीतर किण्वन पैदा नहीं हुआ था। उसके प्रमाण अत्यधिक विश्वसनीय थे। पाऊचेट और उसके साथियों ने परीक्षण के लिए समिति द्वारा निर्धारित परीक्षण की शर्तों पर मामूली आपत्तियाँ उठाईं, अपने प्रयोग करने से इन्कार कर दिया और अन्त में अलग हो गए। उन्होंने ऐसा क्यों किया, इसका कारण स्पष्ट नहीं। समिति ने पास्चर के पक्ष में निर्णय दे दिया। 1865 में लगता था कि पूर्ण विजय हो गई। किन्तु 10 वर्ष पश्चात् स्वयं पास्चर को अनुभव हुआ कि पाऊचेट बड़ी जल्दी संघर्ष से निकल गया था।

यह नहीं कि विषमोद्भव के पक्ष में कोई ऐसा प्रमाण मिल गया था जो कठिन परीक्षण की कसौटी पर पूरा उतर सकता था। किन्तु जो दिखाई दिया उससे प्रकट हुआ कि पाऊचेट के प्रायोगिक परिणाम ग़लत कौशल के कारण नहीं थे। खराबी अन्यत्र थी। पाऊचेट ने घास के काढ़ों से प्रयोग किए थे और पास्चर ने शकर मिले खमीर के पानी से। अन्वेषकों और वैज्ञानिक जाँचकारों दोनों ने यह मान लिया था कि किण्व पदार्थ की अपनी प्रकृति का कोई महत्त्व

नहीं। वास्तविकता यह थी कि यह प्रकृति प्राथमिक महत्त्व की परिवर्ती थी। क्यों ? क्योंकि घास में उपस्थित जीवाणुओं से बीजाणु बनते हैं जोकि कीटाणु के जीवन में एक प्रकार की विश्राम स्थिति है। ये बीजाणु गरमी तो खूब सहन कर लेते हैं किन्तु ऑक्सीजन की उपस्थिति के बिना जीवाणुओं की वृद्धि नहीं करते। इसलिए जितना शकर मिले खमीर के पानी के अनुर्वरीकरण के लिए पर्याप्त उबाल घास के काढ़े के लिए पर्याप्त नहीं है। घास के काढ़ों में यदि पूरी तरह अनुर्वरीकरण न हुआ हो (जैसे पाऊचेट के काढ़ों में) तो ऑक्सीजन डालने पर प्रत्येक प्रयोग में किण्वन होगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पाऊचेट की बोतलों में ऑक्सीजन की उपस्थिति और अनुपस्थिति का महत्त्व अधिक था, वायु में कीटाणुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति का उतना नहीं।

कुछ विशेष प्रकार के काढ़ों के अनुर्वरीकरण से सम्बन्धित कठिनाइयाँ 1870 के आसपास सामने आईं क्योंकि विवाद और आगे बढ़ा था। विषमोद्भव सिद्धान्त का समर्थक एक अंग्रेज़ चिकित्सक बासशियन था, जिसका उल्लेख पहले भी हो चुका है। दूसरी ओर पास्चर का पक्का और विशेषज्ञ साथी था भौतिक-शास्त्री जॉन टिंडाल। पूरा विवरण दिया जाए तो एक पूरा अध्याय और लगेगा। किन्तु बासशियन ने पास्चर और टिंडाल को बाध्य कर दिया कि वे जीवाणुओं के पूर्व जीवों को नष्ट करने सम्बन्धी विधियों के बारे में अपने विचार बदलें। कई बार क्वथनांक से ऊपर का ताप भी आवश्यक था। इसके बाद पेपिन का पाचक, जिसे अब 'आटोक्लेव' कहा जाता है, जीववैज्ञानिक प्रयोग-शालाओं और हस्पतालों का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि नीडहाम की आत्मा जीवाणुवेत्ताओं की उन विधियों का विरोध कर रही थी जो उन्होंने 1880 के पश्चात् विकसित की थीं। वनस्पति या पशु पदार्थ में यदि कोई संवेदनशील जीवनी-शक्ति थी तो क्वथनांक से ऊपर के ताप तक गरम करने से और कई बार देर तक गरम करने से अवश्य ही उसे कष्ट होता था। किन्तु जीवनी-शक्ति आदि अस्पष्ट विचारों के दिन शीघ्रता से लद रहे थे। जीव-रसायन और कीटाणु-शास्त्र की धारणाओं की परिभाषाएँ संकीर्ण होती जा रही थीं। जहाँ तक स्वयम्भू जनन के बारे में विवाद का सम्बन्ध है, 19वीं शताब्दी के अन्त तक पास्चर और टिंडाल के प्रयोगों में दिलस्चपी केवल इतिहासगत ही रह गई थी। किन्तु उनकी महत्ता कुछ अन्य कारणों से मानी जाने लगी थी। उनकी महत्ता यह थी कि ये प्रयोग कीटाणु-शास्त्र-वेत्ता और अणुजीव-विज्ञानवेत्ता की विधियों के सुदृढ़ आधार थे। लेक्टिक

एसिड के किण्वन पर पास्चर के पहले लेख से वैज्ञानिकों ने यह सीखा कि अणुजीवों को अलग करके उनका विशुद्ध छान कैसे तैयार किया जा सकता है। इसलिए यह सम्भव हुआ कि शकर मिले खमीर के पानी-जैसे किसी पदार्थ में धूल डालने के परिणामस्वरूप विभिन्न अणुजीवों के समूह के स्थान पर उचित संचारण करके अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी जीव पैदा किया जाना संभव हो गया (अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से)। उन कीटों को लगभग देखा जा सकना सम्भव हो गया जिनको यदि शोधित पदार्थ में डाला जाए तो उनसे नये जीव उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में, जीवाणु-विज्ञान की विकसित होती हुई तकनीकों और धारणाओं ने स्वयम्भू जनन के समर्थकों को ऐसी अवस्था में डाल दिया कि उनके लिए अपने आप पैदा होने वाले जीवों के नाम बताना आवश्यक हो गया। यह दावा नीडहाम की आत्मा भी नहीं कर सकती थी कि संवेदनशील जीवनी-शक्ति शकर मिले खमीर जल से एक पदार्थ के संचारण पर एक प्रकार के जीव पैदा करेगी और दूसरे पदार्थ के संचारण पर दूसरी प्रकार के। खमीर, माँस, घास के नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ अर्थात् जो कुछ भी किण्वित होता या सड़ता है उसे पास्चर के शब्दों में केवल 'किण्वों का खाद्य' ही कहा जा सकता है 'किण्व' नहीं।

जिस कार्य का हमने यहाँ अवलोकन किया है उसका परिणाम इतना स्पष्ट है कि आज हम उसे व्यावहारिक ज्ञान का भाग मानते हैं। ऐसा होने से हम यह नहीं समझ पाते कि प्रयोगात्मक जीव विज्ञान में धारणाओं और प्रयोग के सम्बन्ध निश्चित करने में क्या कठिनाइयाँ हैं। इस प्रकार इस वृत्तान्त का महत्त्व प्रायः खत्म हो जाता है। अस्पष्ट व्यावहारिक ज्ञान सम्बन्धी विचार वैज्ञानिक धारणाओं में कैसे बदलते हैं इसको भली भाँति समझने के लिए स्वयम्भू जनन के सारे इतिहास का पुनः अध्ययन करना भी उपयुक्त है। ठीक वैसे ही जैसे किण्वन के बारे में ठीक है। और यह परिवर्तन-प्रक्रिया कितनी कठिन है। व्यावहारिक ज्ञान सम्बन्धी विचारों को, जिनके साथ बहुत-सी अतार्किक पृष्ठभूमि जुड़ी रहती है, प्रयोग से सम्बन्धित रूप में पुनः निश्चित करना और विचारों तथा शब्दों का रूप देना कितना कठिन है। 'सजीव जीवाणु', 'अणुजीवों के सजीव पूर्वज' या 'कीट' आदि शब्दों द्वारा हम जिन व्यावहारिक ज्ञान-सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करते हैं, उनका कुछ मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय आधार है। वे विचार धीरे-धीरे और बहुत परिश्रम के बाद वैज्ञानिक धारणाओं का रूप धारण करते हैं।

यदि हम इस वृत्तान्त को आधुनिक जीव विज्ञान तक ले आएँ तो हम देखेंगे कि विशुद्ध और व्यावहारिक जीव विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वालों को ये कठिनाइयाँ आज भी तंग करती हैं (यद्यपि अब यह अवरोध नहीं करतीं)। 'वाइरस' जीवित होता है या नहीं ? रोगकारी क्या रोग का आवश्यक ही नहीं अपितु 'पर्याप्त' कारण भी है ? यदि यह पर्याप्त नहीं तो अन्य परिवर्ती क्या हैं ? रोग की क्या परिभाषा है ? अणुजीव के प्रकार को कैसे निश्चित किया जाए ? किसी विशेष वाइरस की परिभाषा क्या है ? इन तथा अन्य ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए हमें जीव विज्ञान विभाग की प्रयोगशालाओं, कृषि संस्थानों, चिकित्सा विद्यालयों, चिकित्सालयों और विशिष्ट संस्थानों में जाना होगा। वहाँ हम ऐसी समस्याओं का अन्वेषण होता देखेंगे जिनका पास्चर ने स्वप्न भी नहीं देखा था, किन्तु विधियाँ और विचार-प्रणालियाँ वही होंगी जिनका प्रयोग उसने किया था। यदि हमें कोई प्रवर्तक मिल जाए तो सम्भवतः हम उसे अपनी व्यापक परिकल्पनाओं के बारे में उतना ही साहसी और अपनी पूर्व धारणाओं (अर्थात् अपने वैज्ञानिक पूर्वाग्रहों) के बारे में उतना ही विश्वस्त पाएँगे, जैसा पास्चर था।

कोई पाठक अब प्रश्न कर सकता है कि सजीव जीवधारियों के जन्म का क्या हुआ ? यदि उनका जनन स्वयम्भू नहीं तो छोटे और बड़े पौधों और पशुओं की इतनी बड़ी संख्या कैसे पैदा हो गई ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए या यूँ कहिए कि इस प्रश्न का सामना करने के लिए हमें उन विधियों को देखना होगा जिनसे हम अपने अतीत का अध्ययन करते हैं। पहली बात तो यह कि कोई व्यक्ति स्पष्ट इन्कार नहीं कर सकता कि आज भी धरती पर स्वयम्भू जनन जारी है। तिस पर भी यह कहा जा सकता है कि जितनी भी प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जा चुका है, उनकी व्याख्या इस धारणा से अधिक अच्छी हो सकती है कि प्रत्येक सजीव जीवधारी का एक सजीव पूर्वज़ अवश्य है। जहाँ तक सुदूर अतीत के अन्वेषण का सम्बन्ध है, आगामी अध्याय में इस महान् वैज्ञानिक कार्य की प्रगति और कठिनाइयों का अध्ययन किया जाएगा।

अतीत का अध्ययन

वैज्ञानिक विचारों के विकास के सम्बन्ध में लिखने वाले एक लेखक ने हाल ही में एक विचार प्रकट किया है कि आधुनिक विज्ञान में तीन महान् क्रान्तियाँ हुई हैं : कोपर्नीकस की, न्यूटन की और डार्विन की। पाठक जानते हैं कि विज्ञान के इतिहास की इन महान् घटनाओं का अब तक मैंने बहुत कम उल्लेख किया है या किया ही नहीं। इस पुस्तक के शेप पृष्ठों में भी मैं ऐसा नहीं करूँगा। कारण स्पष्ट है। प्रस्तुत पुस्तक का आशय पश्चिमी संसार के बौद्धिक वातावरण पर वैज्ञानिक विचारों का प्रभाव दिखाना नहीं। इसका सम्बन्ध उन विधियों से है जिनके द्वारा विगत तीन सौ वर्षों में प्रयोगात्मक विज्ञान की प्रगति हुई है। जो लोग वैज्ञानिक सिद्धान्तों के इतिहास तथा विश्व के जन्म और उसके निवासियों के सम्बन्धों के बारे में परिवर्तनशील विचारों पर उनके प्रभाव में दिलचस्पी रखते हैं उनको वाईटमैन की 'वैज्ञानिक विचारों का विकास' (The Growth of Scientific Ideas) और बटरफील्ड की 'आधुनिक विज्ञान के स्रोत' (Origins of Modern Science) जैसी सद्यःप्रकाशित पुस्तकें तथा व्हाइटहैड की 'विज्ञान और आधुनिक संसार' (Science and the Modern World) जैसे महान् ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ।

तो भी इस अध्याय में मैं उस अस्पष्ट क्षेत्र के निकट पहुँच जाऊँगा जो धर्मशास्त्र, दर्शन और विज्ञान से घिरा हुआ है। कारण, मैं उन विशेष समस्याओं पर विचार करूँगा जो तब पैदा होती हैं जब वैज्ञानिक और विद्वान सुदूर अतीत का अध्ययन करते हैं। विशेष रूप से भूगर्भ विज्ञान और पुरा-प्राणिशास्त्र की विधियों और उनके मूलभूत विचारों पर विचार किया जाएगा। विश्वविज्ञान की अधिक सामान्य समस्याओं पर भी तनिक दृष्टिपात करूँगा और विज्ञान के इन्हीं क्षेत्रों में गत सौ वर्षों में ऐसे नये विचारों का विकास हुआ है, जिनका विशाल प्रभाव ईसाई राष्ट्रों के समझदार नागरिकों की सामान्य विचार प्रणाली पर पड़ा है। निश्चय ही आज विकासवाद के सिद्धान्तों में कोई नवीनता नहीं रही। धर्मशास्त्री और नास्तिक आज मनोवैज्ञानिकों, नृतत्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के विचारों के अर्थ-निरूपण पर झगड़ते हैं। लेकिन पचास वर्ष से कुछ

ही अधिक समय पहले कार्नेल के प्रथम अध्यक्ष ऐंड्र् व्हाइट को आवश्यकता महसूस हुई कि वे 'विज्ञान और धर्मशास्त्र का युद्ध' (The Warfare of Science and Theology) का इतिहास वह दो खण्डों में लिखें। व्हाइट ने भूमिका में लिखा है कि नया विश्वविद्यालय शुरू करते समय प्रोटेस्टैंट चर्च के सनातनपन्थी सदस्यों द्वारा उठाई गई आपत्तियों ने उसे इतना परेशान किया कि उसे वैज्ञानिक खोज की स्वतन्त्रता के पक्ष में जवाबी हमला करना पड़ा। किन्तु इस पर भी उसकी पुस्तक कई कारणों से पढ़ने योग्य है। मैंने इसका उल्लेख यहाँ इसलिए किया है कि इसके अध्याय-शीर्षकों पर दृष्टिपात करने मात्र से यह पता लगता है कि जिस युद्ध का वर्णन व्हाइट करता है वह मुख्यतः अतीत की व्याख्या से सम्बन्धित लड़ाइयों का एक क्रम है। एक ओर सनातनपन्थी धर्मशास्त्री थे और दूसरी ओर या तो इस ग्रह के इतिहास के बारे में नए वैज्ञानिक सिद्धान्तों के समर्थक थे या प्राचीन प्रलेखों पर आलोचनात्मक विधियाँ लागू करने वाले इतिहासकार और विद्वान थे। स्पष्टतः अतीत के विद्यार्थियों की विधियों की चर्चा मात्र से हम वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ हम पक्षपाती विवादकारों के पास पहुँचते हैं।

जब तक हम भौतिकी, रसायन और प्रयोगात्मक जीवविज्ञान के क्षेत्र में रहते हैं तो विज्ञान के प्रति सतर्क प्रवृत्ति, जैसी मैंने अब तक अपनाई है, बहुत कम लोगों को बुरी लगती है। कारण, चित्र को ठीक करने के लिए पाठक इच्छानुसार विचारों से काम ले सकता है और कोई भी विचार निर्धारित कर सकता है। उदाहरण के लिए, जो लोग परमाणुओं, अणुओं और जीवों की वास्तविकता पर जोर देते हैं, वे इस बात से नाराज़ नहीं होंगे कि मैं इन शब्दों को धारणापद्धतियों के नामों से अधिक कुछ नहीं मानता। वे आसानी से अपना वैज्ञानिक विश्वास मेरे सन्देहवाद के अनुकूल बना सकते हैं। ऐसे पाठक कम से कम इस बात से तो सहमत होते ही हैं कि नये विचारों के विकसित होने और प्रयोगों द्वारा उनके परीक्षण की विधियों को समझने के लिए, यह अधिक लाभदायक है कि उन लोगों का रवैया अपनाया जाए, जिन्होंने अब सत्य मानी जाने वाली धारणापद्धतियों को परिकल्पनाओं के रूप में देखा था। दूसरी ओर, अपने धर्मशास्त्र के कारण विश्व के वैज्ञानिक वृत्तान्त को सर्वथा अपूर्ण मानने वाले पाठक मेरे इस रवैये को अच्छा समझेंगे और इस बात की प्रशंसा करेंगे कि मैं वैज्ञानिक कट्टरपन्थ से मुक्त हूँ। संक्षेप में, विगत अध्यायों में विधियों और प्रणालियों की जो चर्चा प्रस्तुत की गई है, उसे व्यवहारवादी, तर्कयुक्त,

अनुभववादी, नव्य-टामवादी, मूलाधारवादी, कांटवादी और नास्तिक सभी सन्तोषजनक (यद्यपि अपूर्ण) तो अवश्य पाएँगे। वैज्ञानिक धारणापद्धतियों और वास्तविकता के सम्बन्ध के बारे में मेरे कट्टरपन्थी न बनने की प्रवृत्ति से सम्भवतः वही लोग अधिक रुष्ट होंगे जो विश्व के बारे में आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्याओं की पूर्ण पर्याप्तता पर कट्टर विश्वास रखते हैं। किन्तु हो सकता है वे भी निन्दा करने में उदारता से काम लें, क्योंकि विगत अध्यायों में व्याप्त प्रवृत्ति अपेक्षाकृत हानि-रहित शिक्षात्मक विधि मानी ही है। किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का कट्टर अनुयायी इस पुस्तक को सर्वथा निषिद्ध मानेगा। उसका ऐसा करना स्वाभाविक ही है, विशेषकर जबकि वह सोवियत संघ में सरकारी तौर पर मान्य सिद्धान्त पर विश्वास करता हो। यह याद रखना बड़ा आवश्यक है कि 1909 में लेनिन लिखित एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति में माश द्वारा भौतिकी की कुछ धारणाओं के विश्लेषण पर आघात था। माश ने उस समय प्रचलित वैज्ञानिक मान्यताओं की जो कड़ी आलोचना की उसे प्रतिक्रियावादी माना गया, क्योंकि उससे या तो सन्देहवाद बढ़ता था या आदर्शवाद। यदि कोई 19वीं शताब्दी की वैज्ञानिक खोजों के आधार पर जीवनदर्शन स्थापित करना चाहे तो वह इन खोजों के अन्तिम और उचित होने में कोई सन्देह सहन नहीं करेगा।

इस पुस्तक में प्रायोगिक विज्ञान के प्रति जो प्रवृत्ति अपनाई गई है, वह कई प्रकार के धार्मिक और दार्शनिक विश्वासों के अनुकूल हो सकती है। परन्तु यदि हम विज्ञान में कट्टरपन्थ से बचते हैं तो दर्शन, धर्मशास्त्र और इतिहास में कम सतर्कता नहीं बरतनी चाहिए। सन्देहवाद धार्मिक प्रलेखों और वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर समान रूप से लागू होना चाहिए। इसलिए यह अध्याय धार्मिक परम्परावादी और कट्टर प्रकृतिवादी या भौतिकवादी दोनों को बुरा लगेगा। अन्य लोगों को इससे निराशा होगी, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत जीवनदर्शन की स्थापना के लिए सीमित आधार का सुझाव मिलेगा। हाल ही में कहा गया है कि "आगामी युग की विशिष्ट समस्या होगी विज्ञान और विवेक का सजीव आध्यात्मिक समन्वय स्थापित करना।" हम में से अनेक लोग इस बात से सहमत होंगे, किन्तु इस समन्वय की प्राप्ति में आने वाली बाधाओं की प्रकृति के बारे में हमारा मतभेद हो सकता है। यह तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि वे बाधाएँ भौतिकी, रसायन या प्रयोगात्मक जीव विज्ञान के क्षेत्रों में नहीं हैं। कठिनाइयाँ अतीत के वृत्तान्त और कुछ एक प्रलेखों की प्रामाणिकता के बारे में हैं। बहुत-से धर्मशास्त्रियों के परम्परागत मत को बाईबल के आलोचनात्मक

विद्वानों और धर्म के इतिहासकारों के निर्णय के समानुकूल बनाने की आवश्यकता है। इसी प्रकार सनातन धर्मशास्त्र और सुदूर अतीत या मानव के व्यक्तिगत व्यवहार से सम्बन्धित जीव विज्ञानों में भी समन्वय की स्थापना की आवश्यकता है।

मेरा विश्वास है कि इन बाधाओं पर विजय पाई जा सकती है परन्तु उन शर्तों पर नहीं जो कुछ ईसाई मतों के अधिक रूढ़िवादी सदस्यों की ओर से कई बार प्रस्तुत की गई हैं। इन पर विजय पाना, मेरे विचारानुसार, तभी सम्भव है जब ईसाई मत, यहूदी मत या अन्य किसी धार्मिक मत के पक्ष में उपलब्ध सभी प्रलेखों का उसी आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन किया जाए, जिससे अत्यधिक साहसी लोग मनुष्य के जन्म और विकास की वैज्ञानिक व्याख्याओं का विवेचन करते हैं। किन्तु इस विषय की अधिक खोजबीन करना पुस्तक से विषयान्तरण होगा। इतना ही कह देना काफी है कि सफल समन्वय के लिए विज्ञान और धर्मशास्त्र दोनों के प्रचलित कट्टर विश्वासों के औचित्य के बारे में अन्तिम निर्णय को स्थगित रखना एक अनिवार्य तत्त्व प्रतीत होता है। घृणा-मुक्त सन्देहवाद से कई विचार के लोगों में विज्ञान और धर्म दोनों के प्रति एक उचित प्रवृत्ति पैदा हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं कि मतों की भिन्नता नहीं हो सकती। पश्चिमी संसार के निवासियों को विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों से जो आध्यात्मिक विवेक प्राप्त हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति में विविधता भी रहेगी।

अतीत का अध्ययन हमें उस क्षेत्र में ले जाता है जहाँ धर्मशास्त्रियों, विद्वानों और वैज्ञानिकों में संघर्ष चलता रहा है। इससे उन सभी लोगों के सामने एक कठिन प्रश्न उपस्थित होता है जो वैज्ञानिक सिद्धान्तों को फलदायक धारणा-पद्धतियाँ मानते हैं। हम देख ही चुके हैं कि कुछ वैज्ञानिक विचार हमारे दैनिक जीवन के ऐसे अभिन्न अंग बन चुके हैं कि धारणापद्धतियों और तथ्यों के बीच विभेद-रेखा खींचना कठिन प्रतीत होता है। वे बातें जो किसी समय व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ थीं, बाद में धारणापद्धतियाँ कहलाने लगीं और आज उनको सर्वत्र वास्तविकता की अभिव्यंजना माना जाता है। अचानक पूछने पर सभी कहेंगे कि यह एक तथ्य है कि 'हम एक ऐसे भूगोलक पर रहते हैं जो चारों ओर वायु के समुद्र से घिरा हुआ है', या 'धरती सूर्य के चारों ओर घूमती है', या 'पदार्थ परमाणुओं से मिलकर बना है', या 'सजीव जीवधारी अपने सजीव पूर्वजों से उत्पन्न होते हैं।' किन्तु मैं समझता हूँ कि विज्ञान को समझने के लिए इस प्रकार अभिव्यक्त विचारों और निम्न प्रकार के तथ्यों में अन्तर करना

होगा, जैसे 'एक चूषक-पम्प समुद्र तल पर पानी को 34 फुट से अधिक ऊँचा नहीं ले जा सकता और अन्य स्थानों पर इससे भी कम उठा सकेगा' तथा 'पारा की लाल ऑक्साइड को गर्म किया जाए तो पारा और ऑक्सीजन निकलते हैं।' परन्तु अतीत के अध्येताओं ने जो परिणाम निकाले हैं उनके प्रति भी क्या इसी प्रकार सन्देहशील हुआ जा सकता है ? क्या भूगर्भ विज्ञान और पुरा-प्राणिशास्त्र के खोज के परिणामों के प्रति भी ऐसी ही सतर्कता बरती जा सकती है ? यदि ऐसा है फिर इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं के निष्कर्षों के विषय में क्या रहेगा ?

हम एकत्र ज्ञान के ऐसे भाग से प्रारम्भ करें जो हमारी विज्ञान की परिभाषा में नहीं आता—उदाहरणतः, हम उन मानवीय घटनाओं के ज्ञान का विवेचन करें जो, हम समझते हैं कि विगत कुछ हज़ार वर्षों के अन्दर घटित हुई हैं। जब हम लिखित इतिहास की बात करते हैं तो, व्यावहारिक ज्ञान के अनुसार, हम तथ्यों की बात करते हैं। किन्तु ऐतिहासिक घटनाएँ कुछ दृष्टि से उनसे भिन्न हैं जिनको हम अब तक सतर्कतापूर्वक तथ्य मानते रहे हैं। वे भौतिकशास्त्रियों, रसायनज्ञों और जीववैज्ञानिकों के तथ्यों से उसी प्रकार भिन्न हैं जैसे 'पाँच वर्ष पूर्व मैंने गर्मी डक्सबरी, मैसाच्यूसेट्स, में बिताई थी' और 'रसोई में एक पम्प है जो कुएँ से पानी खींचता है" दोनों वक्तव्यों में भिन्नता है।

पहली दृष्टि में इन दोनों कथनों में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। दोनों को आसानी से ठीक या ग़लत प्रमाणित किया जा सकता है। किन्तु क्या इनकी जाँच-पड़ताल की विधियों में महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है ? दूसरे कथन से कथन पर सन्देह करने वाले को काम करने का रास्ता फौरन सूझता है। संदेह करने वाले को उत्तर दिया जा सकता है, 'रसोई में जाकर पम्प को स्वयं चलाकर देख लो।' इस स्थिति में तथ्य का कथन ऐसी क्रिया के लिए सुझाव देता है जो भविष्य में कितने ही लोग स्वयं कर सकते हैं। बहुत-से तथ्यात्मक कथन, जिनसे मिलकर व्यावहारिक ज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानों का ढाँचा बना है, इसी प्रकार के हैं। उदाहरणतः, यह रसायन का एक तथ्य है कि पारद के लाल ऑक्साइड को यदि एक विशेष ताप तक गर्म किया जाए तो पारद और ऑक्सीजन विशेष अनुपात में उपलब्ध होंगे। रासायनिक यौगिक की यह परिभाषा लगभग उस नियमावली के समान है जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति भविष्य में जब चाहे आचरण कर सकता है।

इस कथन—'मैंने पाँच वर्ष पूर्व गर्मी डक्सबरी में बिताई थी'—पर वक्ता

इसलिए विश्वास करता है कि उसे अपनी स्मृति के ग़लत न होने का पूर्ण विश्वास है। किन्तु यदि कोई उस पर सन्देह करे ही तो यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि 'आओ ऐसा-ऐसा करो और तुम स्वयं जान लोगे।' इसके लिए कुछ अधिक जटिल और कम निश्चित वक्तव्य की आवश्यकता होगी। हम सभी जानते हैं कि अतीत के बारे में बहुत-से ऐसे सत्य कथन हैं जिनके लिए हम प्रमाण नहीं दे सकते। अन्य ऐसे तथ्य भी हैं जिनका प्रमाण निश्चित व्यक्तियों की गवाही और कुछ प्रलेखों के पढ़ने से मिल सकता है। ऐसे भी अवसर हो सकते हैं जब मनुष्य को स्वयं अपनी स्मृति की सत्यता के बारे में सन्देह हो। इन स्थितियों में जाँच की प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसी कि जाँच समिति या ज्यूरी के सामने ऐसे तथ्य को प्रमाणित करने की, जिसके बारे में हमें तनिक भी सन्देह न हो। किन्तु कार्य-प्रणाली के लिए कोई भी सरल सुझाव पर्याप्त नहीं। इसके लिए तो ऐसे एक बिन्दु पर केन्द्रित होने वाले प्रमाणों की आवश्यकता है जो प्रायः वकीलों और इतिहासकारों के पास होते हैं।

अतीत के बारे में कुछ अनुमानित वक्तव्य हैं जो जाँच करने पर सत्य, असत्य या अनिश्चित प्रमाणित हो सकते हैं। सन्देहशील व्यक्ति को सहज-विश्वासी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रमाणों की आवश्यकता होगी। किन्तु निकट अतीत की सत्यता के बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता। हम सबको अपनी स्मृति पर विश्वास है कि वह प्रायः सत्य ही होगी। व्यावहारिक ज्ञान के दृष्टि-कोण से हम जानते हैं कि किसी अनुभव के बारे में कोई भी कथन या तो सत्य होगा या असत्य। हमें आन्तरिक अनुभूति होती है मानो हम लोग उस दशा में फिर वापस पहुँच सकते हैं। जहाँ तक हमारे जीवन की प्रमुख घटनाओं का सम्बन्ध है, हमारी स्मृति हमें लौटाकर अतीत में ले जा सकती है।

प्रयोगात्मक विज्ञान के कार्यों की चर्चा करते हुए मैंने अनुमानित वक्तव्यों के लिए, जिनको जाँच के बाद तथ्य कहा जा सकता है, 'सीमित कार्यवाहक परिकल्पना' कहा है। इस प्रकार, यदि मुझे लाल चर्ण की एक बोतल मिले तो मैं यह सीमित कार्यवाहक परिकल्पना बना सकता हूँ कि यह पदार्थ पारद का लाल ऑक्साइड है (इस परिकल्पना के परीक्षण की विधि पहले ही बताई जा चुकी है)। मेरे विचार में इस प्रकार की सीमित कार्यवाहक परिकल्पनाएँ उन व्यापक परिकल्पनाओं से सर्वथा भिन्न हैं, जो प्रायः धारणा-पद्धतियों का रूप का धारण कर लेती हैं। इस पुस्तक के पूर्व पृष्ठों में यदि यह बात स्पष्ट नहीं हुई तो मेरा विज्ञान को समझाने का प्रयास असफल रहा है।

निकट अतीत में घटित घटना के बारे में जो भी वक्तव्य होगा उसकी प्रकृति 'सीमित कार्यवाहक परिकल्पना' की प्रकृति के समान होगी; यद्यपि, जैसा हम देख चुके हैं, इसके परीक्षण की विधियाँ उन विधियों से भिन्न होंगी जो प्रयोगात्मक विज्ञानों में प्रयुक्त होती हैं। सीमित कार्यवाहक परिकल्पनाओं का समूह व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना नहीं है, और धारणापद्धति का तो प्रश्न ही नहीं। प्रमाणित हो जाने पर इस प्रकार के अनुमानित वक्तव्यों का समूह अनुभवसिद्ध ज्ञान का एक अंश मात्र है। तथ्यों के ऐसे समूह को विज्ञान में परिवर्तित करने के लिए धारणापद्धतियों की आवश्यकता पड़ती है।

यदि इतिहासकार का उद्देश्य 'घटनाओं का यथातथ्य वर्णन मात्र हो तो ऐतिहासिक ज्ञान के लिए धारणापद्धतियों की आवश्यकता नहीं। सन्देहशील व्यक्ति एक या दूसरे कथित तथ्य के पक्ष में प्रस्तुत प्रमाण की पर्याप्तता से असन्तुष्ट तो हो सकता है, परन्तु यहाँ किसी धारणापद्धति की सत्यता का प्रश्न नहीं उठता (मैं इतिहास में उभरने वाली व्यवस्थाओं, 'इतिहास की शक्तियों' के भाष्य तथा दर्शन और इतिहास दोनों से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा उठाई गई समस्याओं को छोड़ रहा हूँ)। किसी को भी इस बात पर सन्देह नहीं कि आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व रोम में हम जैसे ही लोग बसते थे। जिस प्रकार प्रायः इतिहास लिखा जाता है उससे वैसे विवाद कभी खड़े नहीं होते, जैसे कैलोरिक द्रव्य, परमाणुओं और अणुओं जैसी धारणाओं पर विचार करते समय उत्पन्न होते हैं। इसीलिए मुझे यह लगता है कि इतिहास और विज्ञान का अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है।

विज्ञान के प्रति मेरे सतर्क रवैये से मतभेद रखने वाले लोग कह सकते हैं कि विज्ञान में भी इस प्रकार के तर्क नहीं होने चाहिएँ। उनके अनुसार विज्ञान की धारणापद्धतियों का अन्तिम सत्य वैसा ही है जैसा इतिहास के घटनाक्रम का सत्य। भूगर्भ और पुरा-प्राणिशास्त्रों के बारे में विचार करने पर इस स्थिति की महत्ता शीघ्र ही स्पष्ट हो जाएगी, किन्तु जो लोग विज्ञान को वास्तविकता की समझ की खोज मानते हैं, उन्हें भी इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन धारणापद्धतियों को आज 'ग़लत' कहा जाता है, वे बहुत समय तक परीक्षण और प्रेक्षण को जन्म देती रही हैं। और प्रश्न किया जा सकता है : 'इतिहास में, ऐतिहासिक अन्वेषण में इसका समतुल्य क्या है?' तर्क दिया जा सकता है कि किसी काल का आनुमानिक पुनर्चित्रण कैलोरिक द्रव्य या प्रकाशकर ईथर की धारणापद्धतियों के समान है (यद्यपि ये दोनों शैक्षिक उद्देश्यों के अतिरिक्त बेकार हो चुकी हैं)। निश्चय ही कोई पेशेवर इतिहासकार अपने पेशेवर क्षणों में कह

सकता है कि हाल की कुछ ऐतिहासिक खोजों का महत्त्व इस बात में है कि उनसे आगे खोज और अनुसन्धान में मदद मिली है। किन्तु साधारण व्यक्तियों और बहुत-से विद्वानों के लिए भी इतिहासकार द्वारा लिखी चीज़ों का महत्त्व यही है कि वे उन्हें भूतकाल का सही चित्रण मानते हैं। अन्यथा हमें किस्से-कहानियों से ही सन्तोष कर लेना चाहिए। हम तुरन्त कल्पना कर लेते हैं कि रूबीकोन पार करते हुए सीज़र के पास हम स्वयं खड़े हैं। वास्तव में मेरा तो यह मत है कि इतिहास का मुख्य लक्ष्य इस ज्ञान की वृद्धि है कि भिन्न-भिन्न समय पर विभिन्न परिस्थितियों में मानव किस प्रकार आचरण करता रहा है। 17वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान जान सेल्डन का यह कथन स्पष्ट बताता है कि सभी शिक्षा संस्थाओं में इतिहास का केन्द्रीय महत्त्व क्यों है : "अतीत के अध्ययन से समय इस प्रकार इकट्ठा हो जाता है कि ऐसे लगता है मानो हम स्वयं आदि काल से जीवित हैं ?"

यदि उपर्युक्त विश्लेषण ठीक है तो मानना पड़ेगा कि इतिहास के क्षेत्र में कट्टर-पंथी और सन्देहशील व्यक्तियों का विवाद वैसा नहीं जैसा विज्ञान के क्षेत्र में है। इतना अवश्य स्पष्ट है कि इतिहास सम्बन्धी प्रमाणों के संचयन में ग़लत परिणाम निकल सकते हैं। प्राचीन प्रलेखों को बिगाड़ने और अतीत का ग़लत अर्थ देने की प्रवृत्तियाँ प्रतिदिन देखने में आती हैं। इसके अतिरिक्त, हम लोग यह भी जानते हैं कि समय बीतने के साथ-साथ स्पष्ट चीज़ें कैसे धुँधली पड़ती जाती हैं। इतिहास सम्बन्धी खोज को ज्यों-ज्यों हम शताब्दियों में पीछे धकेलते जाते हैं, हमारा ज्ञान प्रायः अधिकाधिक धुँधला और अनिश्चित होता जाता है ('ज्ञान' शब्द का प्रयोग मैं यहाँ इन अर्थों में कर रहा हूँ कि जो कुछ हुआ है उसको मैं पूरी तरह जानता हूँ क्योंकि वह इसी कमरे में हुआ है जिसमें मैं लिख रहा हूँ और मैंने स्वयं उस घटना में भाग लिया है)।

किसी ने अतीत के हमारे ज्ञान की उपमा किसी दूरस्थ क्षेत्र से दी है। मेरे विचार में यह उपमा बेकार नहीं है। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि झील के अन्दर एक टापू है जो तट से दिखाई तो देता है परन्तु उस तक पहुँचा नहीं जा सकता। तट पर खड़ा प्रेक्षक सामान्य रूपरेखा का अनुमान कर सकता है या किसी धुँधली-सी हिलती हुई चीज़ को देख सकता है जो कोई न कोई पशु हो सकता है। यदि इस टापू तक पहुँचने का कोई उपाय न हो और झील के किनारे-किनारे घूमकर विभिन्न कोणों से टापू के चित्र बनाना ही संभव हो तो इस टापू का अधूरा मानचित्र तो बनाया ही जा सकता है। बहुत समय

तक हो सकता है यही सर्वश्रेष्ठ मानचित्र हो। परन्तु बाद में वही प्रेक्षक दूरबीन की सहायता से अपने ज्ञान को बढ़ा सकता है। यदि वह विमान पर चढ़कर उस टापू के ऊपर उड़ सके तो वह बिना उस टापू पर पाँव रखे ही उसका अच्छा मानचित्र तैयार कर सकता है। इसी प्रकार पुरातत्व-वेत्ताओं द्वारा प्राप्त किए गए प्रलेखों और स्मारकों द्वारा मिले हुए विभिन्न प्रमाणों की सहायता से पिछले लगभग दो सौ वर्षों में इतिहासकार इस योग्य हुए हैं कि वे अतीत के बहुत-से कालों का अधिकाधिक सत्य चित्र प्रस्तुत कर सकें। आज की तरह अतीत के पुनर्चित्रण की निश्चितता इस बात पर निर्भर करती है कि कितना और कैसा प्रमाण उपलब्ध है। दूसरे इतिहासकारों के लिए लिखने वाले इतिहासकार इस विषय में सन्देह नहीं छोड़ते। वे अपनी सूचना के स्रोतों का उल्लेख करके वक्तव्य की सत्यता का कम या अधिक अनुमान बता देते हैं। किन्तु विज्ञान की भाँति इतिहास की पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य सामान्य पुस्तकों में भी यह नहीं बताया जाता कि प्रस्तुत निष्कर्ष कैसे निकाले गए। कई बार अनिश्चितता की मात्रा भी नहीं बताई जाती। अधिकतर कट्टरपन से ही काम चलाया जाता है।

यह मैं मानता हूँ कि दोष ढूंढ़ना आसान है, उसका निवारण सुझाना कठिन। विद्वानों की पाद टिप्पणियाँ तथा अन्य संकेत विद्यार्थी और साधारण पाठक के लिए बोझिल हो जाते है। किन्तु इसके बावजूद इतिहास की कुछ लोकोपयोगी पुस्तकों में जो आलोचनावृत्ति की कमी देखी जाती है, वह खेदजनक है। सुकरात के समय के एथेन्स और जूलियस सीज़र के समय के रोम के बारे में हमारा ज्ञान कितना स्पष्ट है, इस पर सन्देह हो सकता है। किन्तु प्राचीन संसार के चित्र में निश्चित और काल्पनिक के अन्तर को बहुत कम बतलाया जाता है। यदि धर्मशास्त्र के इतिहास में जाएँ तो सन्देहवादी और रूढ़िवादी इतिहासकार में तीव्र मतभेद दिखाई देता है। बाईबल-समालोचना क्षेत्र के विद्वानों के कार्य के बारे में एक विद्वान लिखता है : "इतिहास निगमनीय विज्ञान नहीं है और तथ्य को पहचानने के कोई नियम नहीं हैं। कपोलकल्पना को पहचाना जा सकता है, परन्तु वह एक अलग बात है। इसलिए सेंट मार्क के अनुसार इंजील का एक ऐतिहासिक प्रलेख के रूप में कितना महत्त्व है, इस बारे में गत कुछ समय में विद्वानों ने अलग-अलग रायें प्रकट की हैं और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।" आदर्श स्थिति तो यह है कि धर्म का इतिहास लिखने में ही नहीं वरन् कई हज़ार वर्ष पूर्व की घटनाओं का चित्रण करने वाले अन्य लेखों में भी लेखक को विद्वानों के विभिन्न मतभेदों की ओर संकेत करना चाहिए और पाठक को यह सुझा देना

ए कि अतीत का जो चित्र वह प्रस्तुत कर रहा है उसमें सत्य की सम्भा-
क्या है।

विज्ञान के उद्देश्य

विज्ञान सम्बन्धी पुस्तक में लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह सामू-
ज्ञान के अन्य क्षेत्रों को अधिक स्थान दे। मैं इस ओर तो संकेत कर चुका
न्देहवादी ऐतिहासिक लेखों के बारे में (विशेषकर भावुकतापूर्ण पक्षपाती
ों के बारे में) कैसे सन्देह करने को तत्पर होगा। अब मैं भूगर्भ विज्ञान
पुरा-प्राणिशास्त्रवेत्ताओं की मान्यताओं तथा विधियों की जाँच करना
ा। जो व्यक्ति भूगर्भ विज्ञानवेत्ता नहीं हैं, उनको इस विज्ञान के इतिहास
तीत होता है कि धरातल का अध्ययन करने के दो लक्ष्य रहे होंगे। एक
तो यह जानने की इच्छा स्पष्ट है कि अत्यन्त दूरस्थ अतीत में वास्तव में
हुआ था। इस दृष्टि से भूगर्भ विज्ञान इतिहास का ही एक विस्तार प्रतीत
है यद्यपि इसमें कालावकाश बहुत लम्बे हैं और तदनुसार चित्र की अनि-
तता अधिक है। दूसरी ओर यह इच्छा भी है कि समकालीन प्रेक्षण का
करण और समन्वय करके सिद्धान्त बनाये जाएं, जो भूगर्भ विज्ञानवेत्ताओं
अन्य प्रेक्षण करने में सहायता करें। इस दृष्टि से हम व्यवस्थित प्राणि
न के निकट पहुँच जाते हैं, अन्तर केवल यह है कि वर्गीकरण के लिए
श्यक धारणाओं में दीर्घ कालावकाश हैं। क्या भूगर्भ वैज्ञानिक के सिद्धान्तों
ऐतिहासिक पुनर्चित्रण के समान समझा जाए जिसमें अनिश्चितता की मात्रा
क है या उन्हें ऐसी धारणापद्धतियाँ माना जाए, जिनका वैज्ञानिक क्रिया के
में मूल्यांकन भूगर्भ शास्त्र पर प्रभाव के आधार पर किया जाए ?

इसमें सन्देह नहीं कि सामान्य पाठक या प्रारम्भिक विद्यार्थी के सामने
र्भ विज्ञान को जिस तरह प्रस्तुत किया जाता है उससे यह विषय इतिहास
मान प्रतीत होता है। इस विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले मित्र चाहे मुझ
ष्ट ही क्यों न हो जाएँ, लेकिन मैं यह प्रश्न उठाना चाहूँगा कि क्या भूगर्भ
ान को पृथ्वी के इतिहास के समतुल्य मानने से साधारण लोगों में भ्रान्ति
नहीं होती ? मानवीय इतिहास के किसी भी काल का अध्ययन व्यावहारिक
के अनुसार बेकार माना जाएगा यदि उस काल के बारे में हमारा ज्ञान
ा ही अनुमानित है, जितने अनुमानित भूगर्भ विज्ञान के सिद्धान्त हैं। विज्ञान
व्यापक परिकल्पनाओं में जितनी मान्यताएँ और अनिश्चितताएँ होती हैं

यदि वे सब ऐतिहासिक घटनाओं सम्बन्धी हमारे ज्ञान में भी हों तो 'वर्षों का एकत्रीकरण' नहीं होगा। मेरे विचार में भूगर्भ विज्ञान का सम्बन्ध इतिहास से अधिक प्राणि विज्ञान से है और इसकी विधियाँ प्रायः भौतिकी और रसायन की विधियों के समान हैं। वास्तव में भूगर्भ विज्ञान में 1800 से लेकर अब तक जो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, उनमें से कुछ को लेकर उन पर वैसे ही विचार किया जा सकता है जैसे हमने वायुमण्डल, फ्लोजिस्टन सिद्धान्त, कैलोरिक द्रव्य और परमाणु सिद्धान्त की धारणाओं का विश्लेषण किया है।

विगत डेढ़ सौ वर्षों में प्रायोगिक वैज्ञानिक के समान भूगर्भवैज्ञानिक की धारणापद्धतियाँ भी वैसे ही बदलती और विकसित होती रही हैं। किन्तु उनके बिना तो हमारे पास केवल असम्बद्ध अनुभवसिद्ध तथ्यों का समूह-मात्र रह जाता। इनके लाभ के बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता। भूगर्भ विज्ञानवेत्ता की धारणापद्धतियों ने भौतिक, रसायन और प्राणि वैज्ञानिकों की धारणा-पद्धतियों की तरह नये वैज्ञानिक प्रेक्षणों को जन्म दिया है। साथ ही उन्होंने बहुमूल्य धातुओं, कोयले और पेट्रोलियम आदि का पता लगाने-जैसे व्यावहारिक कार्यों में अनुभववाद की मात्रा को भी कम कर दिया है। वर्तमान शताब्दी में भूगर्भ विज्ञान के सिद्धांतों का लाभ इसी रूप में नहीं आँकना चाहिए कि क्षेत्र में ही आगे क्या देखा जा सकता है अपितु इससे भी कि प्रयोगशाला में क्या प्रयोग हो सकते हैं। और आजकल बहुत-से क्षेत्र-प्रेक्षण तो वास्तव में भौतिक माप मात्र ही हैं। जैसे, विभिन्न स्थानों पर गुरुत्वाकर्षणीय स्थिरांक की विभिन्नताएँ देखना और भूतल की ऊपरी सतहों में भूकम्प-लहरों की तीव्रता की माप। आधुनिक भूगर्भ विज्ञान की धारणाओं और धारणापद्धतियों का जन्म अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के समान ही होता है—कल्पनात्मक विचार, निगमनीय तर्क, व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ और प्रेक्षण सभी का सम्मिलन होता है।

कार्ल वान ज़िट्टल ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में एक पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ जियालोर्ज एण्ड पेलियंटालोजी' लिखी, जिसमें उसने 1790 से 1820 के बीच के समय को 'भूगर्भ विज्ञान का महान् युग' कहा है। उसका कहना है कि इस युग की बड़ी बात यह थी कि अनुमान को छोड़कर क्षेत्रों में और प्रयोगशाला के अन्दर नये प्रेक्षणों और नये सत्यों को खोजने और स्थापित करने का दृढ़ प्रयास किया गया। इस नई प्रवृत्ति का भूगर्भ विज्ञान के विकास पर संजीवनी का-सा प्रभाव हुआ। सर चार्ल्स लायल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ़ जियालोजी' में आधुनिक भूगर्भ विज्ञान के विकास का महान् काल कुछ बाद

में बताया है। वह जियालोजीकल सोसायटी की स्थापना का महत्त्व बतलाता है और अपने 1873 के संस्करण में अनुभव के प्रति निम्न शब्दों में वही सन्देह प्रकट करता है जो जर्मन भूगर्भवैज्ञानिक ने प्रकट किया था।

"वल्कनवादियों और नेपचूनवादियों के प्रतिपक्षी गुटों का संघर्ष यहाँ तक बढ़ गया था कि ये नाम गाली बन गए थे। दोनों पक्षों को सत्य की खोज में इतनी दिलचस्पी नहीं थी, जितनी ऐसे तर्क ढूंढ़ने में जिनसे उनका अपना पक्ष दृढ़ हो या विपक्षियों को चिढ़ हो। अन्त में एक नया सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ जो सर्वथा तटस्थ और व्यवस्थाओं की ओर से पूर्णतः उदासीन रहा···और इस सम्प्रदाय के लोगों ने नये प्रेक्षणों में अपने आप को तल्लीन कर दिया। विवादग्रस्त पक्षों के असंतुलित व्यवहार के प्रतिक्रियास्वरूप अतीव सतर्कता की प्रवृत्ति पैदा हो गई······।

"लेकिन यद्यपि सिद्धान्त-प्रतिपादन में झिझक की अति कर दी गई, किन्तु उस परिस्थिति में तथाकथित 'पृथ्वी सम्बन्धी सिद्धान्तों' के निर्माण को बंद कर देना सबसे अच्छा काम था। बहुत-से नये आँकड़ों की आवश्यकता थी। 1807 में स्थापित जियालोजीकल सोसायटी ऑफ़ लण्डन ने इस दिशा में पर्याप्त सराहनीय योग दिया। उनका लक्ष्य था प्रेक्षणों की संख्या को बढ़ाना और रेकार्ड करना तथा भविष्य में निकलने वाले परिणामों की सन्तोषपूर्वक प्रतीक्षा करना। उनका यह प्रिय कथन था कि भूगर्भ विज्ञान को सामान्यतः व्यवस्थित करने का समय अभी नहीं आया है और सभी लोगों को कुछ वर्षों तक आगामी साधारणीकरणों के लिए तथ्य उपलब्ध करने पर ही लगे रहना चाहिए। इन सिद्धान्तों का सम्यक् अनुसरण करते हुए उन्होंने कुछ ही वर्षों में सभी पूर्वाग्रह तोड़ डाले और इस विज्ञान को खतरनाक या काल्पनिक कार्य बनने से बचा लिया।"

18वीं शताब्दी का अन्तिम भाग और 19वीं शताब्दी का प्रारम्भ काल भूगर्भ विज्ञानवेत्ताओं के दो सम्प्रदायों के परस्पर झगड़ों से भरा हुआ है, जिनका उल्लेख सर चार्ल्स लायल ने किया है। नेपचूनवादियों का विश्वास था कि सारी चट्टानें कीचड़ की उन तहों के रूप में जमी हैं जो किसी समय सर्वत्र फैले महान् सागर ने एकत्र कर दी थीं। इसके विपरीत वल्कनवादी समझते थे कि ज्वालामुखी की शक्तियों के समान शक्तियों के कारण आधुनिक पृथ्वी की रूपरेखा बनी है। प्रत्येक विज्ञान के जन्म-पूर्व के इतिहास में कट्टरपंथी और आनुमानिक विचारों के ऐसे विवाद अवश्यम्भावी हैं। किन्तु जैसा कि वान जिट्टल और लायल दोनों ने बतलाया है भूगर्भ विज्ञान की ठीक प्रगति तभी प्रारम्भ

हुई जब अनुमानित विचारों और यथार्थ प्रेक्षण से निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ। उस समय व्यापाक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ बनीं, जिनकी मदद से (भौतिकी और रसायन जैसी) तर्क-प्रणालियों द्वारा भविष्यवाणी की जा सकती थी कि, आगे क्या मिलेगा (देखिये, अध्याय 3)।

18वीं शताब्दी के अन्त में इंगलैंड के विलियम स्मिथ ने जो काम किया उससे पता चलता है कि धरातल के अध्ययन में सिद्धान्त और प्रेक्षण को किस प्रकार मिलाया जा सकता है। यह व्यक्ति पेशे से इंजीनियर था और शौकिया-तौर पर भूगर्भवैज्ञानिक। इसने पहली बार इंगलैंड के धरातल का वर्गीकरण इस आधार पर किया कि धरातल की विभिन्न पर्तों में कौन-सी धातुएँ पाई जाती हैं और उनमें किस प्रकार के फॉसिल मिलते हैं। स्मिथ ने इंगलैंड का जो स्तर-चित्रीय मानचित्र बनाया है वह भूगर्भ-विज्ञान के विकास में मीलपत्थर है। उसने प्रदर्शित किया कि उसके विचारों की सहायता से इंगलैंड और वेल्स में विभिन्न पर्तों की सापेक्ष स्थिति का पहले से पता लगाया जा सकता है तथा जाना जा सकता है कि किस स्तर में कैसे फॉसिल मिलेंगे। उसकी प्रणाली से नये प्रेक्षणों के लिए भी मार्ग साफ़ हो गया और पुराने प्रेक्षणों के वर्गीकरण में भी सहायता मिली। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्मिथ के स्तरचित्रण में वे सभी गुण हैं जो हमने वैज्ञानिक धारणापद्धति के लिए आवश्यक माने हैं।

परन्तु स्मिथ या किसी भी अन्य भूगर्भवैज्ञानिक से यह चाहना कि वह पूर्व घटित घटनाओं के संदर्भ बिना अपने विचारों को सर्वथा काल्पनिक धारणाएँ समझे, असंभव की माँग करना था। एक समय ऐसा आया था जब रसायन-शास्त्रियों को परमाणु की सत्यता पर विश्वास नहीं रहा था। हमने देखा कि उन्होंने परमाणु सिद्धान्त को लगभग छोड़कर उसका एक भाग गणना-मात्र के लिए रख लिया था। भूगर्भवैज्ञानिकों के प्रचलित विचारों में बहुत-सी धारणा-पद्धतियों के बारे में उतार-चढ़ाव तो रहे हैं किन्तु लम्बे समय में क्रमश: होने वाली घटनाओं के बारे में सन्देह कभी नहीं हुआ। कोई महत्त्वपूर्ण भूगर्भवैज्ञानिक ऐसा नहीं हुआ जिसका विश्वास यह न रहा हो कि पृथ्वी की पपड़ी की रचना निर्धारित करने वाली अतीत की घटनाओं का कालक्रम जाना जा सकता है। निश्चय ही साधारण बुद्धि भी इस विश्वास के पक्ष में है। जिस प्रकार कोई भी स्वस्थ-मस्तिष्क वाला व्यक्ति इस बात पर सन्देह नहीं करता कि विश्व में तीन विभायें हैं और इसमें अन्य लोग भी बसते हैं, वैसे ही हम सबको यह भी मानना पड़ेगा कि धरती का भी एक अतीत था। यदि ऐसा है, तो या तो इस

अतीत के बारे में कल्पना की जा सकती है या बहुत समय पहले की घटनाओं को जानने के लिए प्रमाण इकट्ठे करने की चेष्टा की जा सकती है। व्यावहारिक ज्ञान और वैज्ञानिक कार्यपद्धति दोनों के कारण भूगर्भवैज्ञानिकों की धारणापद्धतियों में समय एक अनिवार्य अंग है।

जैसाकि सभी जानते हैं, भूगर्भविज्ञान के विकास में सबसे बड़ी अड़चन ईसाई देशों में प्रचलित यह विश्वास था कि सृष्टि का जो वर्णन 'ओल्ड टैस्टामेंट' में दिया गया है उसे शब्दशः स्वीकार करना चाहिए। 17वीं शताब्दी में आर्कबिशप अशर ने तो सृष्टि की तिथि भी बता दी और कहा कि यह 4004 ई० पू० में हुई थी। उसकी यह बात 19वीं शताब्दी के प्रथम भाग तक के बहुत-से पढ़े-लिखे और समझदार नागरिक मानते रहे। फॉसिलों को इकट्ठा करने वाले पहले लोगों ने जल-प्रलय के वर्णन को सत्य समझा था। 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यह मान लिया गया था कि फॉसिल पुराने पशुओं के अवशेष हैं, किन्तु उनसे निष्कर्ष यह निकाला जाता था कि बाइबिल में कही गई जल-प्रलय की बात सत्य है। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में प्रारम्भिक अनुमानात्मक विचार धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के साथ अधिक उलझे हुए थे।

आज भी सन्देहवादी फॉसिलों की प्रकृति के बारे में अपने सन्देह आधुनिक पुरा-प्राणि-शास्त्रि पर थोप सकता है। उसको कुछ इस प्रकार का उत्तर मिलेगा—'ये वस्तुएँ पूर्व-जीवित जन्तुओं और वनस्पतियों के अवशेष हैं।' इस बात का प्रमाण है वह निरन्तरता जो रेत या कीचड़ आदि के अन्दर हाल ही में दबे आधुनिक जन्तुओं या पौधों के अवशेषों और अज्ञात जीवों के अवशेषों में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, सन्देह करने वाले को साइबेरिया के बर्फ-भरे टुण्ड्रा के मैदानों में बालों वाले दरयाई घोड़े या मम्मथ का माँस या बाल मिल जायेंगे। वह इस बात से इन्कार नहीं कर सकेगा, जो व्यावहारिक (बुद्धिसंगत) है कि ये वस्तुएँ उन पशुओं के अवशेष हैं जो इन मैदानों में घूमते थे। यह स्वीकार करने के बाद उसे अधिक-से-अधिक उम्र वाली पर्तों से, जिनमें पशुओं की हड्डियाँ आदि मिलती हैं, आधुनिक पर्तों पर लाया जा सकता है। इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि यह उन प्राणियों के अवशेष हैं जो अब लुप्त हो चुके हैं।

पुरा-प्राणिशास्त्री में यदि सन्देहवादी से और अधिक बात करने का धैर्य हो तो वह प्राप्त फॉसिलों के प्रकार का सम्बन्ध पृथ्वी के स्तर की स्थिति से भी प्रकट कर सकता है। वह ऐसे कई उदाहरण देगा जिनमें ऊपर की पर्तों में

जो अवशेप पाए जाते हैं, वे प्राय: उन प्राणियों के होते हैं जो अब भी मिलते हैं, जबकि इससे गहरी पर्तों में ज्ञात जीवों के अवशेपों की मात्रा क्रमशः कम होती जाती है। व्यावहारिक वुद्धि इस परिकल्पना की ओर संकेत करती है कि ऊपर की पर्त सबसे वाद में जमी रहती है और नीचे की पर्त्तें पुरानी हैं। यदि समय बीतने के साथ-साथ पौधों और पशुओं के प्रकार बदलते गए हैं (और उस परिवर्तन की प्रकृति स्वयं एक अलग कहानी है) तो यही अपेक्षा की जा सकती है कि वर्तमान युग के नमूने ऊपर की पर्तो में ही मिलेंगे, नीचे की पर्तों में नहीं। इस प्रकार के प्रमाणों की सहायता से कल्कयुक्त (Sedimentary) चट्टानों के स्तर-विज्ञान सम्बन्धी मूल धारणाओं का औचित्य किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति के सामने प्रकट किया जा सकता है। सम्भवतः विज्ञान के दावों का बहुत सतर्क विश्लेषणकारी भी यह स्वीकार करेगा कि बहुत-सी मान्यताओं के बावजूद विभिन्न स्थानों से जो प्रेक्षण परिणाम प्राप्त हुए हैं वह इन मान्यताओं के इतने अनुकूल हैं कि इनको प्रमाणित समझ लेना चाहिए।

किन्तु भूगर्भविज्ञान का विकास किसी प्रकार भी भौतिकी या रसायन से अधिक सरल नहीं। विगत 150 वर्षों के भूगर्भविज्ञान के इतिहास की जाँच करने से कुछ कठिनाइयाँ स्पष्ट हो जाती हैं। सर चार्ल्स लायल एकरूपतावाद (हटन द्वारा प्रतिपादित) के सिद्धान्त का कट्टर समर्थक था। वह किसी भी ऐसे विचार का विरोध करने को तैयार था जो भूतल के वर्तमान रूप को समझाने के लिए अतीत में कुछ ऐसी उत्क्रान्तियों की कल्पना करे जो आज ज्ञात न हों। यह वल्कनवादियों और नेपचूनवादियों के उन अनुमानों की प्रतिक्रिया थी, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

लायल वायु और जल द्वारा काट-छाँट, झीलों और समुद्रों में तहें जमने, चट्टानों के क्षय और ऐसे अन्य प्रक्रमों पर जोर देता था जो ध्यान से देखने पर साधारण मैदानों में मिल जाएँ। किन्तु लायल ने उत्क्रान्ति सिद्धान्तों के विपरीत प्रतिक्रिया को ऐसी अवस्था तक पहुँचा दिया जहाँ से बाद के भूगर्भवैज्ञानिकों को पीछे हटना पड़ा। इस पेशे के एक प्रसिद्ध सदस्य ने हाल ही में लिखा है कि 'एकरूपतावाद हर काल के लिए पूर्ण सत्य नहीं है।' वह आगे कहता है, 'हमें एकरूपतावाद को तभी तक स्वीकार करना चाहिए जब तक हमारी आत्मा इसे स्वीकार करे।' प्रयोगशील वैज्ञानिकों की भी ऐसी ही समस्याएँ हैं। पास्चर ने जीवन और किण्वन के सम्बन्धों को जो अतीव सरल बना दिया था यह बात उसकी याद दिलाती है। परन्तु जब भूगर्भ-विज्ञान की सामान्य पुस्तकों

में हम यह पढ़ते हैं कि 'आज भी चट्टानें वैसे ही बन रही हैं जैसे करोड़ों वर्ष पहले बनी थीं', तो आसानी से भ्रम में पड़ने का भय रहता है। एकरूपतावाद के नियम के रूप में यह वैसा ही वैज्ञानिक वक्तव्य है जैसी डाल्टन की यह मान्यता कि एक तत्त्व के सभी परमाणु एक समान हैं। किन्तु साधारण व्यक्ति इस कथन को ऐसे कथनों के तुल्य मानता है जैसे 'पारद के लाल ऑक्साइड को गरम करने से पारद और ऑक्सीजन उपलब्ध होते हैं' या 'जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति थे।' वह तुरन्त यह सोचने लगता है कि करोड़ों साल पहले चट्टानों के बनने के बारे में यह कथन एक वैज्ञानिक तथ्य है।

मेरे विचार में इस कठिनाई का एक बड़ा कारण यह है कि भूगर्भविज्ञान इतिहास के समान प्रतीत होता है। जार्ज चतुर्थ वाटरलू के युद्ध के बारे में इतनी बातें करता था कि उसे विश्वास हो गया कि उसने भी उस युद्ध में भाग लिया था। भूगर्भविज्ञान का उत्साही अध्यापक हिमायन के क्रमिक युगों को समझाता हुआ ऐसा लगेगा जैसे उसने वह सब अपनी आँखों से देखा हो। भूगर्भविज्ञान को धरती के इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो इसमें तुरन्त कट्टरपन आ जाता है। भूगर्भविज्ञान के सिद्धान्तों में प्रायिकता की मात्रा का अनुमान न लगा सकने और विरोधी प्रमाणों के अनिश्चित होने की सीमा की ओर संकेत न करने के कारण साधारण व्यक्ति को महसूस होता है कि सभी धारणापद्धतियाँ एक ही आधार पर होती हैं। वह इस अवस्था में होता है कि इस सारे ताने-बाने को स्वीकृत या अस्वीकृत कर दे--वैज्ञानिक सिद्धान्तों के रूप में नहीं अपितु अतीत की घटनाओं के तथ्यात्मक वर्णन के रूप में। और चूंकि दैनिक समाचारपत्र समय-समय पर भूगर्भविज्ञान के किसी-न-किसी रूप के बारे में नई परिकल्पनाएँ प्रकाशित करते रहते हैं, इसलिए हो सकता है कि लोगों में अविश्वास की प्रवृत्ति ही पैदा हो जाए।

'वर्ल्ड्स-इन-कोलिज़न' जैसी विचित्र पुस्तक की आश्चर्यजनक लोकप्रियता से पता लगता है कि पाठक आधुनिक विज्ञान की खोजों को झुठलाने वाली पुस्तकों के लिए कितने उत्सुक रहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका व्यापक प्रसार हुआ है ; यह बहुत अच्छी बात नहीं है। इससे पता लगता है कि विद्यालयों और महाविद्यालयों में हम विज्ञान को समझाने की जो चेष्टा करते हैं, वह उस सीमा तक सफल नहीं रही जितनी हम चाहते हैं। आज भौतिकी और रसायन के बारे में बेकार तुकबाज़ी सुनने को कोई तैयार नहीं। कोई भी ऊटपटाँग विचार यदि सामने आए तो नये प्रयोगों के संदर्भ में उसकी उपयोगिता

आँककर उसे उचित स्थान दिखाया जा सकता है। किन्तु जो विज्ञान अतीत से सम्बन्ध रखते हैं उनकी बात सामान्य बुद्धि की कसौटी पर दूसरी है। इसलिए करोड़ों-अरबों वर्ष पूर्व के किसी युग का भोंडा वर्णन भी गम्भीर विचार का पात्र बन जाता है, फिर चाहे उसकी नींव में विशेष मान्यताओं के ढेर लगे हों, एक के बाद एक एतदर्थ परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हों और सुविधानुसार विज्ञान को बलायेताक रख दिया गया हो। इसका परिणाम यह है कि एक ऊलजलूल चीज़ बन जाती है जो न विज्ञान कहला सकता है, न इतिहास।

व्यवस्थित प्राणि-विज्ञान के कुछ भागों को छोड़ भूगर्भविज्ञान ही सम्भवतः ऐसा प्राकृतिक विज्ञान है जिसके अध्ययन में साधारण पाठक कुछ रस ले सकता है। इसीलिए यह खेद की बात है कि इसकी गतिशील प्रकृति को समझा नहीं जाता। इसका यही एक पहलू है जिसके कारण यह विज्ञान है और इतिहास से भिन्न है। होना यह चाहिए कि जनोपयोगी लेख और पुस्तकें अनुमानित विचारों, व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाओं और सुपरीक्षित धारणापद्धतियों का परस्पर अन्तर स्पष्ट कर दिया करें (यद्यपि इन तीन प्रकार के विचारों का अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं है)। ऐसा करने से सर्वसाधारण समसामयिक समस्याओं में आज से अधिक दिलचस्पी लेंगे और इस तथ्य से कि भूगर्भविज्ञान में कभी-कभी एक सिद्धान्त जल्दी ही हट जाता है और उसके स्थान पर दूसरा आ जाता है, निराश नहीं होंगे बल्कि प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत करेंगे। सचाई यह है कि यदि ऐसा न हो तो विज्ञान आगे नहीं बढ़ सकता—यही नहीं, वह विज्ञान भी नहीं कहला सकता।

भू-भौतिकी : एक प्रयोगात्मक विज्ञान

भूगर्भविज्ञान को प्रायः प्रयोगात्मक की बजाय प्रेक्षणात्मक विज्ञान कहा जाता है। तो भी, ज्योतिष और प्राणि-विज्ञान की भाँति इसकी विशेषता प्रेक्षणात्मक और प्रयोगात्मक विधियों के अन्तर में नहीं है। धारणापद्धतियों में समय का लम्बा अन्तराल भूगर्भ और पुराप्राणि-विज्ञानों की विशेषता है। वर्तमान शताब्दी में भूगर्भ-वैज्ञानिक प्रयोग की ओर अधिकाधिक आए हैं और वे अन्य विज्ञानों की प्रयोगात्मक खोजों पर निर्भर करने लगे हैं। जहाँ तक परिकल्पनाओं, सिद्धान्तों और प्रायोगिक विधियों का सम्बन्ध है, भू-भौतिकी और भौतिकी में कोई अन्तर नहीं। उदाहरण के लिए, भूकम्पों या विस्फोटों के परिणामस्वरूप धरती में जो लहरें चलती हैं उनका वेग ठीक-ठीक जाना जा सकता है। इस

प्रकार के भूकम्प सम्बन्धी प्रक्रम का अध्ययन उसी प्रकार भौतिकी का भाग है जिस प्रकार बैरोमीटर के दाव में तबदीली या नमी का अध्ययन या धातु के विभिन्न संकरों में विद्युत् अवरोध का अध्ययन (यद्यपि यह याद रखना चाहिए कि अन्तिम दशा में प्रयोगकर्ता के सामने वायु-भौतिकी के विद्यार्थी की अपेक्षा विकल्प अधिक होते हैं ; कारण यह है कि प्राणि-वैज्ञानिक और भूगर्भ-वैज्ञानिक की भाँति मौसम वैज्ञानिक को भी सदैव प्राकृतिक प्रक्रमों के बहुत निकट रहना पड़ता है) । इन सभी उदाहरणों में 'वैज्ञानिक तथ्यों' का अर्थ है वे प्रयोग जो पुनः दुहराए जा सकें । भूकम्पीय लहरों का अध्ययन हर प्रकार से वैसा ही है जैसा वायु में ध्वनि का या निर्वात में प्रकाश का संचरण ।

स्थान-स्थान पर गुरुत्वाकर्षण-स्थिरांक में जो थोड़ा-सा अन्तर दिखाई पड़ता है उसकी व्याख्या करना भू-भौतिकी का एक और उदाहरण है । इस अन्तर का सम्बन्ध शिला-निर्माण की प्रकृति के साथ जोड़ा जा सकता है और भूकम्पीय प्रक्रम के अध्ययन की भाँति इसका प्रयोग भी ठोस पदार्थ के वर्तमान वितरण की सूचना प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है । इसे ऐसी धारणापद्धति में रखा जा सकता है जिसमें समय का पैमाना निकाल दिया गया हो । किन्तु यह तो सभी भूगर्भविज्ञान सम्बन्धी प्रेक्षणों के बारे में ठीक है। सुदूर अतीत सम्बन्धी मान्यताओं के बिना ही भू-स्तर-विज्ञान तक के मूल तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं । विभिन्न पर्तों में जो विशिष्ट खनिज और फॉसिल पाए जाते हैं उनको ऐसी धारणाओं से बाँधा जा सकता है, जो पिछले सौ वर्षों में धरती के विभिन्न स्थानों पर लिये गए प्रेक्षणों पर आधारित हों । यद्यपि इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो भूगर्भविज्ञान का विकास इस प्रकार नहीं हुआ और न ही भूगर्भ-वैज्ञानिक इस विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार होंगे, लेकिन ऐसे परिवर्तन की सम्भावना शास्त्रीय भूगर्भ-विज्ञान की क्रियाविधि पर प्रकाश डालती है । विलियम स्मिथ ने जब स्तर निर्धारित करने के लिए फॉसिलों और शिला-विशेषों का प्रयोग किया तो उसने भी अपनी धारणाएँ धरती के इतिहास के संदर्भ में बनाईं । अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा करने की आवश्यकता नहीं थी । वर्गीकरण की सुविधा के लिए वह धारणापद्धति चालू कर सकता था । ऐसा करके वह इतिहासकारों की अपेक्षा प्रकृतिवादियों के अधिक निकट आ जाता, जो 19वीं शताब्दी में पौधों और पशुओं के जीवनक्रम मालूम करने में कितने सफल हुए थे ।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि इस शताब्दी में भौतिकी और रसायन का

प्रयोग भू-स्तर विज्ञान में किया गया है। इससे आधुनिक भूगर्भविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। प्रयोगात्मक प्राणि-वैज्ञानिक की तरह भूगर्भ-वैज्ञानिक को भी ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी विशिष्ट धारणाएँ और धारणापद्धतियाँ भौतिकी और रसायन के स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार हों। वह इन विज्ञानों की नई प्रगति से सहायता ले सकता है। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में रेडियो-धर्मिता के अन्वेषण के फलस्वरूप पिछले पचास वर्षों में एक नया विषय पैदा हो गया है जिसे कभी-कभी रेडियो-रसायन कहा जाता है। प्रयोग और सिद्धान्त की यह उपज, जो भौतिकशास्त्रियों और रसायन-वैज्ञानिकों दोनों के कार्य का फल है, दोनों विज्ञानों की धारणापद्धतियों पर आधारित है। पिछले कुछ दशकों में भूगर्भ-वैज्ञानिक को इनसे बहुत सहायता मिली है। कुछ मान्यताओं की सहायता से, जो युक्तिसंगत प्रतीत होती हैं (यद्यपि हैं वे मान्यताएँ ही), यह सम्भव है कि यूरेनियम और थोरियम युक्त खनिजों के विश्लेषण द्वारा शिला के विभिन्न स्तरों की आयु निर्धारित की जा सके। ऐसा करने में वास्तव में भू-स्तरीय प्रेक्षण और रासायनिक विश्लेषण के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारित कर दिया जाता है। रसायन की धारणाओं के सहारे भू-स्तर की आयु गिनी जाती है। इसमें प्रयुक्त रसायन की एक मान्यता तो यह है कि रेडियो-धर्मिता में विशिष्ट परिवर्तन की गति लम्बे समय तक स्थिर रही है और दूसरी यह कि है इस लम्बे समय के दौरान स्तर के अन्य भागों के साथ-साथ विश्लेषित खनिज की रासायनिक रचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

भूगर्भीय शिलाओं की आयु निर्धारित करने में इस विधि के प्रयोग से जो परिणाम निकले हैं वे समय के पैमाने पर भूगर्भ वैज्ञानिकों के पूर्व अनुमानों के क़ाफी अनुसार हैं (यद्यपि वे अनुमान अन्य मान्यताओं और अन्य तथ्यों के आधार पर किये गए थे)। इस प्रकार का केन्द्राभिमुख परिणाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार जो कुल समय ज्ञात हुआ है वह इतना विशाल है कि 19वीं शताब्दी में भूगर्भविज्ञान के प्रवर्त्तकों की कल्पना में भी नहीं था। ऐसा समझा जाता है कि फॉसिलयुक्त सबसे पुरानी शिलाएँ 500,000,000 वर्ष पूर्व बनी थीं और उनमें बहुत-सा परिवर्तन (कायाकल्प) हो गया है यद्यपि पर्त के गुणों में परिवर्तन नहीं हुआ। उससे भी पुरानी शिलाएँ (केम्ब्रियाई-पूर्व) 1,700,000,000 वर्ष पुरानी हैं। ज्योतिषियों और ब्रह्मांड-विज्ञान से सम्बन्धित अन्य लोगों ने अनुमान लगाया है कि धरती की आयु लगभग 2,000,000,000 वर्ष है।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या भौतिकी और रसायन के सिद्धान्त सुदूर

अतीत पर लागू किए जा सकते हैं। बहुत-से भौतिक वैज्ञानिकों ने सन्देह प्रकट किया है कि इतने लम्बे अवकाश में पदार्थ के व्यवहार की एकरूपता को मान लेना उचित नहीं। हम जब अरबों वर्षों की बात करते हैं तो समय की धारणा का क्या अर्थ है ? जिस प्रकार बहुत तीव्र वेग और बहुत छोटी दूरी मालूम होने पर भौतिक वैज्ञानिक को अपने बहुत-से विचार बदलने की आवश्यकता पड़ी, वैसे ही सम्भव है कि समय सम्बन्धी साधारण विचारों को ब्रह्मांड-विज्ञान के क्षेत्र में न ले जाया जा सके। अरबों वर्षो को एक अवयव मानकर जैसे-जैसे उन तथ्यों की संख्या बढ़ती जाएगी जिनको किसी धारणापद्धति में गूँथना है, वैसे-वैसे ही असंगतियाँ बढ़ती जाएँगी। याद रहे कि ये सन्देह और शंकाएँ एकरूपतावाद के सिद्धान्त के औचित्य के प्रश्न से सर्वथा भिन्न हैं। यह सिद्धान्त उन प्रथम अनुमानों में से एक है जो विज्ञान के प्रथम चरणों में अनिवार्य माना जाता है। आज सभी भूगर्भीय सिद्धान्त यह मानते हैं कि ऐसे क्रान्तिकारी पर्वत-निर्माता युग हुए है जब प्रकृति की शक्ति इतनी विशाल थी कि आज की उसकी शक्ति से तुलना ही नहीं की जा सकती।

व्यावहारिक कलाओं की प्रगति

पिछले तीस वर्षो में पेट्रोलियम ढूँढ़ने की विधियों में जो तीव्र सुधार हुए हैं उनसे पता चलता है कि आधुनिक भूगर्भविज्ञान, पुरा-प्राणि-विज्ञान और भू-भौतिकी के व्यावहारिक प्रयोग कितने सफल हैं। यहाँ दो कार्य-विधियों का संक्षिप्त वर्णन दिया जा सकता है : एक भू-भौतिकी के सिद्धान्तों और दूसरी पुरा-प्राणि विज्ञान के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए, विस्फोटों से उत्पन्न भूकम्पीय लहरों की रफ्तार को मापकर भू-भौतिकी-वैज्ञानिक प्राय: यह निश्चय कर सकता है कि धरती की गहराई में बनावट कैसी है। कई प्रकार की बनावट का सम्बन्ध पेट्रोलियम से है, इसलिए पेट्रोलियम ढूँढ़ने के लिए भू-भौतिकीय मापों का बड़ा महत्त्व है। व्यावहारिक पुरा-प्राणि-वैज्ञानिक तेल ढूँढ़ने में इस प्रकार सहायता करता है कि वह हर प्रकार के सूक्ष्म जीवों के फॉसिल देखकर विभिन्न पर्तों को पहचान सकता है। उचित छेद करके धरातल के नीचे की विभिन्न भू-पर्तों के नमूने निकाल लिए जाते हैं। यदि उनमें फॉसिल मौजूद हों तो उनके आधार पर पर्तें पहचान ली जाती हैं, इस प्रकार जो पुराप्राणि भूगर्भीय मानचित्र तैयार किए जाते हैं, उनसे धरातल के नीचे की रचना का चित्र सामने आ जाता है। पेट्रोलियम

के कुँओं और भूस्तरीय तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध के बारे में पुराने अनुभव के आधार पर तेल-विशेषज्ञ पूर्व-घोषणा कर सकते हैं कि तेल कहाँ निकल सकता है। तेल (या खनिज पदार्थ) ढूँढ़ने में व्यावहारिक पुरा-प्राणि और भूगर्भवैज्ञानिक अनुभवसिद्ध प्रेक्षण (और अनुभववाद का परिमाण पर्याप्त होता है) तथा भूगर्भविज्ञान की धारणापद्धति दोनों का प्रयोग करते हैं। किन्तु उनकी सफलता अरबों वर्ष पूर्व की वास्तविकता के बारे में निर्विवाद प्रमाण नहीं है ; ठीक उसी तरह जैसे परमाणु बम का विस्फोट न्यूट्रोन और प्रोटोन की वास्तविकता का प्रमाण नहीं है।

भूगर्भ और पुरा-प्राणि वैज्ञानिकों की कार्य-रीति और कौशल

भौतिकी और रसायन की धारणापद्धतियों के बारे में कोई कितना ही सन्देहशील रुख क्यों न अपनाये और 'तथ्य' और 'वास्तविकता' शब्दों के प्रयोग में कितना भी सतर्क क्यों न हो, कोई भी भौतिकशास्त्री या रसायन-वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में परमाणुओं, अणुओं, इलैक्ट्रोनों और न्यूट्रोनों की वास्तविकता पर सन्देह नहीं करता। (न्यूट्रॉनों को भी इनके साथ शामिल किया जा सकता है; यद्यपि दबाव पड़ने पर इस धारणा का प्रायः प्रयोग करनेवाले लोग भी यह स्वीकार कर लेते हैं कि यह 'वास्तविक' कण होने की बजाय न्यूट्रीन-अविनाशिता सिद्धान्त की 'रक्षा करने' का एक सरल उपाय सिद्ध हो सकता है।) इसी प्रकार कोई भूगर्भ, भू-भौतिकी या पुरा-प्राणि वैज्ञानिक काम करते समय इस बात पर सन्देह नहीं करेगा कि उसके सिद्धान्त अरबों वर्ष पूर्व घटित घटनाओं का अनुमानित वर्णन प्रस्तुत नहीं करते। इसलिए भूगर्भ-विज्ञान तथा अन्य विज्ञानों में परस्पर अन्तर होने के बावजूद हम देखते हैं कि पिछले अध्यायों में जो कुछ अन्य विज्ञानों के बारे में कहा गया है, वह इस अध्याय में विचाराधीन विज्ञानों पर भी लागू किया जा सकता है।

भूगर्भ-विज्ञान के इतिहास पर अपनी उत्तम पुस्तक में सर आर्चिबाल्ड गीकी ने 18वीं और 19वीं शताब्दियों में इस विज्ञान के इतिहास की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन दिया है। उसने जो परिणाम निकाले हैं उनकी तुलना उन परिणामों से करना बड़ा रोचक रहेगा जो भौतिकी, रसायन और प्रयोगात्मक प्राणि-विज्ञान की कार्यपद्धति और कौशल के अपने अध्ययन से हमने पाए हैं। गीकी ने बताया है कि 19वीं शताब्दी तक जिन लोगों ने भूगर्भविज्ञान को विकसित किया उनमें से बहुत कमलोग पेशेवर भूगर्भ-वैज्ञानिक थे। जितने भी

प्रमुख नाम सामने आते हैं उनमें से लगभग सभी या तो ऐसे समृद्धिशाली व्यक्ति थे जिन्होंने 'आलस्य और आराम के जीवन को तजकर अपना धन और जीवन पृथ्वी के इतिहास के अध्ययन में लगा दिया' या फिर विज्ञान की अन्य शाखाओं के अध्यापक थे। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में, इस क्षेत्र में अन्य क्षेत्रों की भाँति गैरपेशेवर लोग ही विज्ञान की प्रगति कर रहे थे। इसी लेखक का एक दूसरा निष्कर्ष भी उसी के शब्दों में दिया जा सकता है—'भूगर्भविज्ञान के इतिहास में ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं, जहाँ किसी उर्वर विचार के फूलने-फलने से पूर्व बड़ा लम्बा समय यूँही बीत जाता है।' यह बात विभिन्न प्राकृतिक विज्ञानों में बार-बार होनेवाली घटना पर जोर देती है कि नये विचार फलीभूत या नये अनुभव स्वीकृत तभी होते हैं जब अनुकूल वातावरण पैदा हो चुका हो।

गीकी का तीसरा और अन्तिम निष्कर्ष यह है कि 'भूगर्भ-विज्ञान की स्थापना और विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अध्ययन से यह महत्त्वपूर्ण पाठ ग्रहण किया जा सकता है कि कट्टरपन से बचना अनिवार्य है.........कुछ समय तक उत्क्रान्तिवादी अपनी चलाते रहे। उनके बाद एकरूपतावादियों का पल्ला भारी हो गया, जिनका स्थान बाद में विकासवादियों ने ले लिया।' आगे चलकर वह कहता है, 'जैसाकि मैंने पहले कहा है कि भूगर्भ-विज्ञान स्वभावतः ऐसा विषय है कि इसके परिणामों को गणित रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। ये परिणाम प्रायिकता के सन्तुलन पर निर्भर हैं, परन्तु जैसे-जैसे और तथ्य इकट्ठे होते रहते हैं या उनकी अधिक समझ आती है इस सन्तुलन में परिवर्तन हो सकता है। इसलिए एक युग में जो सुस्थापित परिणाम प्रतीत होता है, वह दूसरे युग में कम या अधिक ग़लत सिद्ध हो सकता है। किन्तु जिन तथ्यों पर ये निष्कर्ष निर्धारित हैं, उनकी समझ भी प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है और उनका परीक्षण अधिक कठोर होता जाता है। इस समय भूगर्भ विज्ञान में निश्चित तथ्यों का विशाल समूह है जो निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह समूह भविष्य में होने वाली किसी भी खोज से नष्ट नहीं होगा वल्कि बढ़ता ही जाएगा और इसके जिन अंशों को पूर्णतः ज्ञान समझा जाता है, उन पर नया प्रकाश पड़ेगा।'

भूगर्भविज्ञान तथा अन्य विज्ञानों में एक और समानता है, जिसका विशेष उल्लेख होना चाहिए। यह है नये उपकरणों और नई प्रायोगिक तथा प्रेक्षणात्मक विधियों की उत्पत्ति का महत्त्व। हम शिलाओं की रचना और

फॉसिलों की प्रकृति के तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्व पहले ही बतला चुके हैं। ऐसी क्रियाएँ वास्तव में नये प्रेक्षण यंत्र थे, जिनसे भू-स्तर-विज्ञान का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी के प्रथम भाग में रसायन के विकास से वैज्ञानिक खनिज-शास्त्र का उद्भव संभव हुआ, जिसके बिना भूस्तरों के खनिज अंगों का अध्ययन व्यर्थ हो जाता। इसके कुछ समय पश्चात् 19वीं शताब्दी की दूसरी चौथाई में शिलालेख-अणुवीक्षण-यंत्र की सहायता से शिलाओं का परीक्षण और भी अधिक विश्वसनीय आधार पर किया गया। इस शताब्दी में भी भू-भौतिकी वैज्ञानिकों ने नये यंत्रों की सहायता से महत्त्वपूर्ण तथ्यों का ज्ञान प्राप्त किया है। इसके अलावा प्रयोगशाला में उच्च ताप और दाब में खनिजों के व्यवहार का अध्ययन करके, उन मान्यताओं के परीक्षण का उपाय मिला है जो भूगर्भीय अतीत की घटनाओं के बारे में बनाई गई हैं। शिलाओं की आयु ज्ञात करने में रेडियो-धर्मिता के प्रयोग से जो क्रान्तिकारी प्रगति हुई है, उसके बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त अनुच्छेद की अन्तिम बात से पता चलता है कि पिछले पचास वर्षों में हुई भूगर्भविज्ञान की प्रगति पर अन्य विज्ञानों की प्रगति का गहरा प्रभाव पड़ा है। यह बात ज्योतिष, रसायन और प्राणिविज्ञानों के बारे में भी सत्य है। विभिन्न प्राकृतिक विज्ञानों का परस्पर सम्बन्ध इतना निकट का हो गया है कि नई धारणापद्धतियों में एक ही नहीं अनेक क्षेत्रों के तथ्यों का समोया जाना आवश्यक हो गया है। (इसी प्रकार नये विचारों और प्रायोगिक खोजों का फल अत्यन्त अप्रत्याशित क्षेत्रों में प्रकट हो सकता है।) भूगर्भ-विज्ञान की किसी व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना के परिणाम का परीक्षण आजकल प्रयोग-शाला में भी किया जा सकता है, क्षेत्र में प्रेक्षण द्वारा तो किया ही जाता है। किसी भी परिकल्पना में रसायन और भौतिकी के तथ्यों का साधारण ढंग से समावेश होना आवश्यक है। यह अन्य विज्ञानों की सुस्थापित धारणाओं के विरुद्ध भी नहीं होनी चाहिए।

प्रयोगशाला और क्षेत्र के परस्पर सम्बन्धों के दो उदाहरण दो समसामयिक समस्याओं के उल्लेख से दिए जा सकते हैं। एक तो भवनशिला की उत्पत्ति से सम्बन्धित है और दूसरी पेट्रोलियम की उत्पत्ति से। जहाँ तक भवन-शिला का सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट है कि खनिज पदार्थ की निर्माण सम्बन्धी परि-कल्पना से ऐसे परिणाम निकाले जा सकते हैं जिनसे सीमित कार्यवाहक परि-कल्पनाएँ बन सकें, जिनका परीक्षण विशेष स्थानों पर प्रेक्षण द्वारा हो सके।

व्यापक परिकल्पना के परिणामस्वरूप कुछ रासायनिक यौगिकों के व्यवहार के बारे में प्रयोगशाला में प्रयोग भी हो सकते हैं। किसी भी अवस्था में तथ्यों का पहले से ज्ञान हो सकता है। यदि ऐसा हो तो प्रेक्षणों की अदल-बदल से ही नये विचार का जन्म हो जाता है। परन्तु यदि परिकल्पना आगे की प्रगति में सहायक हो तो नये तथ्य सामने आएँगे, क्षेत्र में, प्रयोगशाला में या दोनों स्थानों पर।

पेट्रोलियम की समस्या हमें भूगर्भविज्ञान से कार्वनिक रसायन और प्राणि-विज्ञान तक ले जाती है। पेट्रोलियन कार्वन और हाइड्रोजन के यौगिकों का जटिल मिश्रण है। भूगर्भवैज्ञानिकों द्वारा इन पदार्थों के निर्माण का समय निश्चित करने के कार्य और विभिन्न भू-स्तरों में उनके उपलब्धि स्थान ढूंढ़ने के कार्य को छोड़कर, हम कार्वन के स्रोत सम्बन्धी एक दूसरी परिकल्पना पर विचार कर सकते हैं। भूगर्भविज्ञान की आधारभूत मान्यताओं को स्वीकार करके रसा-यनज्ञ कार्वनिक यौगिकों के इस विशाल और जटिल मिश्रण की उत्पत्तियों के बारे में विभिन्न सुझाव दे सकता है। इस प्रकार हो सकता कि मूल कार्वन ही हो और बीच में कैल्सियम कार्वाइड जैसे यौगिक हों, जो जल के साथ मिलकर एसि-टेलीन जैसे सरल हाइड्रोकार्वन वना सकता है। एसिटेलीन पा जाने पर कार्ब-निक रसायनज्ञ को यह कल्पना करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि लम्वे काल तक उच्च दाव में रहने से पेट्रोलियम जैसे विभिन्न जटिल हाइड्रोकार्वन के वहुत-से मिश्रण वन सकते हैं। किन्तु इस प्रकार कल्पना के प्रयोग से एक और आनु-मानिक विचार पैदा हो जाता है।

एक और कल्पना के अनुसार पेट्रोलियम की उत्पत्ति उच्च ताप और दाव में पशुओं के अवशेष के विच्छेदन से सम्वन्धित है। प्रयोगशाला में तथाकथित नमूने का प्रयोग किया जा सकता है, जिसमें मछली को क्वथनांक से ऊपर तक गरम किया जाए तो ऐसे हाइड्रोकार्वनों का मिश्रण उत्पन्न होगा जो देखने में पेट्रो-लियम के समान होगा। इससे पता चलता है कि इस कल्पनाविशेष और रसायन के तथ्यों में परस्पर कोई असंगति नहीं। पेट्रोलियम की उत्पत्ति के बारे में एक और विचार (जो आजकल वहुत प्रचलित है) के अनुसार कि अतीत में जल शैवाल धूप की सहायता से वायुमण्डल में से कार्वन डायाक्साइड अवशोपित कर कार्वन उपलब्ध कराते थे। इस विचार के सामने एक कठिनाई यह है कि आजकल हरे पौधों में इस संश्लेपण से प्रोटीन, चरवी और कार्वोहाइड्रेट बनते हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि करोड़ों-अरवों वर्ष पूर्व जल

शैवाल तथा अन्य पौधे अन्य वस्तुओं की वजाय हाइड्रोकार्वन अधिक मात्रा में वनाते थे। किन्तु इसी प्रकार की मान्यताएँ निष्फल सिद्ध होती हैं। कारण, हम समझते हैं कि आजकल ऐसी कोई प्रक्रिया देखने में नहीं आती, इसलिए प्रयोगशाला में परीक्षण सम्भव नहीं, और यह समझना बहुत कठिन है कि अतीत की जीव-रासायनिक क्रिया सम्वन्धी किसी मान्यता का परीक्षण भूगर्भीय प्रेक्षणों से कसे होगा।

पेट्रोलियम की उत्पत्ति की समस्या का संक्षिप्त उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि भूगर्भविज्ञान के ढाँचे के अन्तर्गत कल्पना के घोड़े दौड़ाना कितना सरल है और विचारों का विकास करके धारणापद्धतियाँ स्थापित करना तो दूर रहा, व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ वनाना भी कितना कठिन है। यहाँ पर पेट्रोलियम की उत्पत्ति के वारे में उपलब्ध प्रमाणों का संक्षिप्त वर्णन भी संगत नहीं है। किन्तु इस वात से बचने के लिए कि मेरे वर्णन से विचारों में उलझाव पैदा न हो, मैं यह वता देना चाहता हूँ कि पेट्रोलियम के विभिन्न नमूनों में उपस्थित कुछ जटिल कार्वन यौगिकों से पता चलता है कि (क) पेट्रोलियम का जन्म पूर्णतः या अंशतः वनस्पति या पशु तन्तुओं से हुआ, (ख) कि इस पदार्थ को सम्भवतः कभी भी अधिक ताप में नहीं रखा गया। क्षेत्र ऐसे विचारों के लिए खुला हुआ है जिनके कारण प्रयोग प्रयोगशाला में या नये भूगर्भीय प्रेक्षणों में हो सकें। ऐसे विचार उत्पन्न करने वाली कल्पनाएँ लाभकारी होंगी; अन्यथा कल्पना के खेल में मनोरंजन के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होगा।

सजीव वस्तुओं का उद्‌भव और विकास

व्यावहारिक ज्ञान की वात है कि प्रत्येक चीज़ का प्रारम्भ होता है। इसी विचार को विज्ञान के क्षेत्र में ले जाकर हम प्रायः यह मान लेते हैं कि ब्रह्मांड, पृथ्वी और जीवन की भी कभी-न-कभी 'उत्पत्ति' हुई होगी। यह मान्यता निर्विवाद है या नहीं, यह विवादास्पद विषय है। किन्तु व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना के एक अंग के रूप में वड़े-से-वड़े सन्देहवादी के लिए इसका महत्त्व है। ब्रह्मांड और पृथ्वी की उत्पत्ति सम्वन्धी विचार नक्षत्र भौतिकी तथा ज्योतिष के क्षेत्र में आते हैं। इन तथा ऐसी अन्य समस्याओं से जहाँ तक वैज्ञानिकों का सम्वन्ध है वे भी ऐसी धारणापद्धतियों को लेकर काम कर रहे हैं जिनका एक आवश्यक अंग विशाल समय है। यह तो स्पष्ट ही है कि ब्रह्माण्ड-विज्ञान के सिद्धान्त ज्योतिष

और भौतिकी के तथ्यों के अनुसार होने चाहिए। जहाँ तक इनके लाभदायक होने का सम्बन्ध है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

विज्ञान की विधियों के इस वर्णन में मैं ज्योतिष पर बात नहीं चला पाया हूँ। इसलिए मैं ब्रह्माण्ड-विज्ञान की कठिन समस्याओं पर विचार नहीं करूँगा। इस क्षेत्र में प्रचलित काल्पनिक विचारों और परिकल्पनाओं पर विवाद करने के बजाय मैं इस अध्याय के अन्त में उन प्राणि-वैज्ञानिकों के कार्य का उल्लेख करूँगा जो जीवन के उद्भव और विकास में दिलचस्पी रखते हैं। यहाँ पर अनिश्चित काल्पनिक विचारों और फलदायक धारणापद्धतियों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जीवन की उत्पत्ति के बारे में हम कल्पना कर सकते हैं परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञान है कोई विचार ऐसा प्रस्तुत नहीं किया गया जिसे कार्यवाहक परिकल्पना तक कहा जा सके। दूसरी ओर डार्विन के समय के बाद विकासवादी विचार एक धारणापद्धति का रूप धारण कर चुके हैं और अत्यन्त फलप्रद सिद्ध हुए हैं।

जहाँ तक जीवन की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, नये विचार अनेक मिलते हैं। किंतु इनको व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाओं का रूप कैसे दिया जा सकता है? आजकल प्रचलित दो विभिन्न विचारों को लीजिए। (इन्हें विचारों से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।) एक ओर तो पुराना विचार है कि जीवन की उत्पत्ति के समय धरती पर कार्बन का एकमात्र यौगिक कार्बन डायॉक्साइड थी (जो या तो वायुमण्डल में स्वतन्त्र रूप से मिलती थी या शिलाओं में मिश्रित)। इस विचार को मानकर यह कल्पना की जा सकती है कि कार्बन डायॉक्साइड किस प्रकार हमें ज्ञात जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों, शकर या एमाइनो एसिडों आदि में परिवर्तित हुई होगी। ऐसे भी कौशल सुझाए गये हैं जिनमें कीटाणु धूप के बिना ही कार्बन डायॉक्साइड अवशोषित करने में मदद कर सकते हैं। इसके पश्चात्, हम कह सकते हैं, वह हरा पदार्थ विकसित हुआ जो प्रकाश-संश्लेषण में काम आता है। इसके आगे कल्पना को कुछ रसायन सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हाल में एक और परिकल्पना प्रस्तुत की गई है, जो काल्पनिक विचार के रूप में उतनी ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है जितनी पहली। यह इस बात को मानकर चलती है कि जीवन के प्रादुर्भाव से बहुत पहले धरती कार्बन के यौगिकों से अटी पड़ी थी जो कार्बन डायॉक्साइड से कहीं अधिक जटिल थे। यदि इस मिश्रण में सरल एमाइनो एसिड, आल्डीहाइड और शकरों से सम्बन्धित केटो एसिड शामिल हों, तो जीवधारियों के विकास से पहले, पौधों

के हरे रंगवाले पदार्थ के समान जटिल अणुओं के निर्माण की कल्पना करना सम्भव है। किन्तु फिर वही प्रश्न उठता है—इन विचारों से कौन-से ऐसे परिणाम निकलते हैं जिनसे प्रेक्षण या प्रयोग हो सकें ? सम्भवतः प्रयोगशाला में नमूने के प्रयोग। यदि ऐसा हो तो बड़ा अच्छा है। परन्तु इस समय तो जीवन की उत्पत्ति की समस्या के बारे में सतर्क पाठक केवल प्रश्नचिह्न ही प्रस्तुत करेगा।

इस विषय में हमारा ज्ञान यदि कुछ है भी तो बहुत कम है। तो भी मैं इस बात पर ज़ोर दूंगा कि यह कहना कट्टरपंथ-मात्र है कि प्राचीनतम पौधों के पूर्वजों के सम्बन्ध में सफल धारणापद्धति बन ही नहीं सकती। अपने अज्ञान की सीमाओं को पहचानते हुए और अपने ज्ञान की अनिश्चितता व्यक्त करने पर ज़ोर देते हुए भी हमें अतीत के वैज्ञानिक अध्ययन के बारे में निराशावादी वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए। दो पीढ़ियों पूर्व कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता था कि खनिज पदार्थों के नये रासायनिक विश्लेषण से ऐसे तथ्य उपलब्ध होंगे जो शिलाओं की आयु से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हों। एक प्रकार के कार्बन की रेडियो-धर्मिता के उस मनोरंजक प्रयोग की भी कल्पना नहीं की जा सकती थी जिससे प्रागैतिहासिक मानव के यन्त्रों की आयु का पता लगाया जा सकता है और जो प्रायोगिक रसायनज्ञों और पुरावत्त्व-वेत्ताओं के सामूहिक प्रयत्नों का फल है।

यदि वैज्ञानिक अध्ययन का विकास आगामी पचास वर्षों में भी उसी उत्साह और स्वाधीनता से होता रहा जैसे विगत पचास वर्षों में हुआ है, तो आज के भूगर्भवैज्ञानिक और ब्रह्माण्ड-वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त धारणापद्धतियाँ निश्चय ही बहुत हद तक बदल जाएँगी। कम-से-कम मेरे लिए शताब्दी के शेष भाग के लिए (पूर्व-वर्णित सामाजिक परिस्थिति में) किसी वैज्ञानिक विचार के भविष्य के बारे में कुछ कहना उसकी सत्यता पर विचार करने से अधिक लाभदायक है, यदि यहाँ सत्य को वास्तविकता से सम्बन्धित समझा जाए। कारण, 'वास्तविक' पर विचार करें तो बहुत-सी दार्शनिक कठिनाइयाँ आ जाती हैं। इस दृष्टि से मैं यह भविष्यवाणी करूँगा कि अणु-परमाणु सिद्धान्त का एक अंश, जो विगत सौ वर्षों से प्रचलित है, अगले पचास वर्षों में भी प्रचलित रहेगा। न्यूट्रोन, प्रोटोन और इलैक्ट्रोन सम्बन्धी वर्तमान विचारों के बारे में मुझे विश्वास कम है। इस भविष्यवाणी का आधार विचाराधीन सिद्धान्त के इतिहास की अवधि और प्रकृति में है। जहाँ तक अतीत के अध्ययन का सम्बन्ध है, हम यह अनुमान कर सकते हैं कि भू-स्तर-विज्ञान की इस समय

स्वीकृत रूपरेखा में परिवर्तन नहीं होगा। किन्तु भवनशिला, पेट्रोलियम और जीवन की उत्पत्ति के बारे में सन् 1950 के विचार सन् 2000 में हास्यास्पद प्रतीत होंगे।

काल्पनिक विचारों से सफल धारणापद्धतियों की ओर आना हो, तो हमें जीवन की उत्पत्ति के प्रश्न को छोड़कर प्रकाश-संश्लिष्ट पौधों और उन पर रहने वाले जीवों की जातियों के विकास के प्रश्न पर आना होगा। यदि ईसाई संसार के ब्रह्माण्ड सम्बन्धी विश्वासों पर डार्विन के विचारों के प्रभाव पर बहस करेंगे तो हम इस पुस्तक के विषय से दूर चले जाएँगे। किन्तु विज्ञान की कार्य-रीति और कौशल का जो विश्लेषण मैंने किया है, उसमें विकास-सिद्धान्त का स्थान बताने के लिए इस बारे में कुछ शब्द कहना उचित ही होगा। यह मूल-भूत विचार, कि आज पाए जाने वाले पशुओं और पौधों की जातियाँ किसी सुदूर समय पर निश्चित नहीं की गई थीं, डार्विन के लिए नया नहीं था। डार्विन ने तो इसके आगे व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ प्रस्तुत कीं, जो यह बताती थीं, कि एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन किस प्रकार हुआ होगा। इसलिए डार्विन की मृत्यु के समय की विकास की धारणापद्धति का समुचित विश्लेषण करने के लिए एक व्यापक कार्यवाहक परिकल्पना या धारणापद्धति पर ही नहीं, अपितु अनेक पर विचार करना होगा।

ईसाई प्रलेखों पर शब्दशः विश्वास करने वालों को विकास सिद्धान्त (धारणा-समूह को यदि नाम दे दिया जाए) से जो कठिनाइयाँ हुईं उनको छोड़कर, पिछले सौ वर्षों का इतिहास यह बताता है कि प्राणि और पुराप्राणि-वैज्ञानिकों को भी नई धारणापद्धति को विकसित करने में बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। 19वीं शताब्दी के अन्त में तो ये चरम सीमा को पहुँच गईं। धारणापद्धति के रूप में अतीत में घटित घटनाओं के बारे में डार्विन के विचारों का उन खोजों के अनुरूप होना आवश्यक था जो 19वीं शताब्दी में आनुवंशिकता के सम्बन्ध में हुई थीं। उसी शताब्दी के अन्त में मेंडेल का मूल-भूत कार्य फिर से सामने आया। उसके कारण डार्विन की विकास-व्यवस्था की मान्यताओं को जनन-विज्ञान के तथ्यों के अनुकूल दिखाना कठिन हो गया। किन्तु, वर्तमान शताब्दी में 'विशेष रूप से गत बीस वर्षों में' एक ओर पुराप्राणि-विज्ञान से और दूसरी ओर जनन-विज्ञान से ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनकी दिशा एक ही है।

कीटाणु किस प्रकार परिवर्तित वातावरण में अपने-आपको ढाल लेते हैं

(जैसे पैनिसलीन आदि से वातावरण बदलने पर) यह संदेहवादी अन्वेषक के सामने प्रदर्शित किया जाए तो प्राणि-वैज्ञानिक परिवर्तन के पक्ष में अति विश्वसनीय प्रमाण मिल जाता है। इससे वे विधियाँ सम्भव दिखाई देने लगती हैं जो आधुनिक विकासवादियों ने जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रस्तावित की हैं। जो लोग आधुनिक दृष्टिकोण को संक्षेप में जानना चाहते हैं उनको जनवरी, 1950 के 'साइंटिफिक अमेरिकन' में प्रकाशित एक लेख पढ़ना चाहिए, जिसे जनन सम्बन्धी अनुसंधान के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता ने सर्वसाधारण के लिए लिखा है। जो इस विषय के बारे में और अधिक जानना चाहते हैं उनके लिए मैं जूलियन हक्सले की छोटी-सी पुस्तक 'हैरेडिटी, ईस्ट एंड वैस्ट' और इसी लेखक की बड़ी पुस्तक 'एवोल्यूशन, दि माडर्न सिथेसिस' पढ़ने का प्रस्ताव करूँगा। इन पुस्तकों को ध्यान से पढ़नेवाला देखेगा कि किस प्रकार विभिन्न स्वतन्त्र प्रमाण एक ही बिन्दु पर केन्द्रित होते हैं। इनमें से कुछ प्रमाण तो फॉसिलों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित हैं, कुछ पशुओं और पौधों के प्रयोगात्मक जनन पर और कुछ उन अतिसूक्ष्म जीवों में परिवर्तन पर आधारित हैं जिनकी जीवन-अवधि छोटी होती है और थोड़े समय में ही जिनकी बहुत-सी पीढ़ियाँ पैदा हो जाती हैं।

इसलिए विकास का सिद्धान्त इस समय पहले से कहीं अधिक सुदृढ़ आधार पर स्थित है। किन्तु यह अभी भी एक धारणापद्धति ही है। यदि विज्ञान के बारे में हमारा विश्लेषण सही है, तो इस पद्धति के बारे में निर्णय इन बातों से होना चाहिए—(क) यह ज्ञात तथ्यों के कारण कहाँ तक प्रस्तुत कर पाती है, (ख) नये प्रेक्षणों और प्रयोगों को कहाँ तक जन्म देती है? परन्तु पाठक पूछ सकता है: **'क्या यह सत्य है?'** चाहे भद्दा ही लगे, लेकिन मैं यहाँ फिर दुहराऊँगा कि वैज्ञानिक धारणाओं और धारणापद्धतियों के प्रति सतर्क प्रवृत्ति रखते हुए ऐसे प्रश्नों का उत्तर विज्ञान की भावी प्रगति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करके ही दिया जा सकता है। मेरा अनुमान यह है कि हक्सले जिसको 'आधुनिक संश्लेष' कहता है वह पचास वर्ष पश्चात् आधुनिक तो नहीं होगा परन्तु लाभदायक दिशा में सन्तोषजनक कदम माना जाएगा। संक्षेप में डार्विन की क्रान्ति को कोपर्नीकस और न्यूटन की क्रान्तियों की भाँति एक सफल धारणापद्धति का उद्गम माना जाएगा।

अन्त के एक अनुच्छेद में एक ऐसे प्रश्न का उत्तर दे देना चाहता हूँ जो सभी पाठकों के मन में होगा। यदि इतिहास और विज्ञान सर्वथा भिन्न क्रियाएँ

हैं, तो पुरातत्त्व-विज्ञान की क्या स्थिति है ? मेरा उत्तर यह है कि यह विषय सीमावर्ती है। एक ओर तो यह विज्ञान को छूता है जहाँ सन्देहवादी केवल धारणापद्धतियाँ देखता है। दूसरी ओर यह लिखित इतिहास का पूरक है, जहाँ सन्देहवादी मानव जाति की अतीतकालीन क्रियाओं के पुनर्चित्रण के लिए पर्याप्त प्रमाणों की माँग करता है। प्रागैतिहास से सम्बन्धित व्यक्ति लाखों वर्ष पूर्व के मनुष्य के बारे में थोड़े-बहुत प्रमाणों के आधार पर काम करने की चेष्टा कर रहे हैं। इन वैज्ञानिकों के विचार साधारण पाठक के लिए उस प्रकार की सूचना प्रस्तुत नहीं करते, जैसी इतिहासकार अपने परिश्रम से प्रस्तुत करता है। विभिन्न समस्याओं पर मानव की प्रतिक्रियाओं को चित्रित करने का प्रश्न नहीं है। आदिमानव के जीवन का पुनर्चित्रण करने से हमारे लिए 'समय का एकत्रीकरण' नहीं होता। यह रुचि केवल वैज्ञानिक है। किन्तु भूगर्भविज्ञान के समान यहाँ भी काल्पनिक विचार शीघ्र ही फैल सकते हैं। विगत शताब्दी के दौरान प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञान में व्यापक कार्यवाहक परिकल्पनाएँ तो अवश्य बना ली गई हैं, परन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आदिमानव के सम्बन्ध में वे धारणापद्धतियों का स्तर प्राप्त कर चुकी हैं ? हो सकता है कि हमें जीवन की उत्पत्ति से अधिक मानव की उत्पत्ति का ज्ञान हो, परन्तु मुझे इसमें सन्देह है। कुछ भी हो व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से ये दोनों समस्याएँ सतर्क अन्वेषक द्वारा विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली समझी जानी चाहिए, इतिहास से नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी धारणापद्धतियों को, जिनमें समय एक अवयव है, ऐतिहासिक ज्ञान से पृथक् करने के लिए पुरातत्त्व-विज्ञान के विशाल क्षेत्र में कहीं भी विभाजन रेखा खींची जा सकती है। विभाजन-बिन्दु की स्थिति सम्बन्धित व्यक्ति के विश्वास या सन्देहशीलता पर निर्भर करेगी।

उद्योग और औषधि पर विज्ञान का प्रभाव

पिछले अध्याय में हम अतीत के अध्ययन पर विचार कर रहे थे। उसमें प्रयोग की अपेक्षा सिद्धान्त अधिक था। तो भी वह क्षेत्र बड़ा विवादपूर्ण था। सच तो यह है कि जो कुछ वहाँ मैंने लिखा है उसका मूल्यांकन प्रत्येक पाठक मानव जाति की प्रकृति और भाग्य के बारे में अपने विश्वासों के आधार पर करेगा। यदि इतिहास के बारे में थोड़ा-सा लिखने के पश्चात् मैं एक पूरा अध्याय मनुष्य के वैज्ञानिक अध्ययन—नृतत्व-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान—पर लगा देता तो पाठक की मानसिक उथल-पुथल बढ़ जाती। मैं अतीत के कुएँ में से निकलकर वर्तमान की खाई में आ गिरता। और यह मुसीबत मोल लेने का मेरा कोई इरादा नहीं है। इसलिए अगले और अन्तिम अध्याय में मैं यह दिखाने का प्रयास करूँगा कि प्राकृतिक विज्ञानों के मेरे विश्लेपरण का संभावित प्रभाव मानव के सामाजिक प्राणी की हैसियत से वैज्ञानिक अध्ययन पर क्या पड़ेगा।

प्रस्तुत और इससे अगले अध्याय में मुख्यतः ऐसे व्यावहारिक विपयों पर विचार होगा जिनमें तात्कालिक दिलचस्पी है—अर्थात् स्वाधीन समाज में विशुद्ध और व्यावहारिक अनुसंधान का संघटन और धनसंचयन और प्रबन्ध का उद्योग, औपधि और युद्ध पर प्रभाव। आप देखेंगे कि यह विपय उन विषयों से कम विवादास्पद नहीं है जिन पर हम इससे पहले विचार कर चुके हैं, किन्तु यहाँ जो मतभेद हैं उनका आधार धर्मशास्त्रीय पूर्वाग्रह नहीं अपितु सामाजिक और राजनीतिक दर्शनों की विभिन्नता है। वर्तमान के मेरे विश्लेषण और भविष्य सम्बन्धी मेरे सुझावों को कम्युनिस्ट, ब्रिटिश लेबर पार्टी का वामपक्षी सदस्य, प्राचीनवादी न्यूडीलर (यदि अभी भी कोई बचा हो), जॉन टी० फ्लिन का अनुयायी और राजनीतिक नास्तिक अलग-अलग ढंग से देखेंगे। सच तो यह है कि पिछले तीन सौ वर्षों का विज्ञान का इतिहास भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचार-धारा रखनेवालों को भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देगा। उदाहरण के लिए, विज्ञान और समाज के अन्तः प्रभाव की मार्क्सवादी व्याख्या को आधार बनाते हुए कुछ लेखकों ने इतिहास के एक प्रकार के तथ्यों पर अधिक जोर दिया है

और भविष्य के बारे में क्रान्तिकारी सुझाव प्रस्तुत कर दिए हैं। विरोधी पक्ष ने इतिहास के इस दृष्टिकोण और इन सुझावों का विरोध किया है। यह विवाद ग्रेट ब्रिटेन में द्वितीय विश्वयुद्ध से कुछ पहले प्रारम्भ हुआ था। जो लोग 17वीं शताब्दी के इतिहास की विरोधी व्याख्याओं में दिलचस्पी रखते हैं उन्हें जी० एन० क्लार्क की पुस्तक 'साइंस एंड सोशल वेल्फेयर इन दि एज ऑफ़ न्यूटन' का अध्ययन करना चाहिए। इस पुस्तक में इस विवाद को गैर-मार्क्सी दृष्टि-कोण से प्रस्तुत किया गया है।

विवाद के दो मुख्य पहलू हैं—(क) क्या विशुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान में अन्तर करना उचित है और (ख) समाज को सभी विज्ञानों के भविष्य को किस प्रकार प्रभावित करना चाहिए ? मार्क्सवादियों ने प्राय: इस विचार के औचित्य का विरोध किया है कि विज्ञान व्यावहारिक कलाओं के सुधार से बिलकुल अलग विशिष्ट कार्य है। इस मत के अनुसार 'विज्ञान का फैलाव और विकास······मुख्यतः समसामयिक सामाजिक आवश्यकताओं के लिए इसके उपयोग पर निर्भर है।' (यह उद्धरण 'एसोसियेशन ऑफ़ साइंटिफिक वर्कर्स' द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'दि डिवैलपमेंट ऑफ़ साइंस' में से दिया गया है।) विज्ञान के इतिहास की इस व्याख्या से निम्नलिखित निष्कर्ष तुरन्त निकलता है :

"युद्धोत्तर संसार में विज्ञान के सामने पुनर्निर्माण की अनिवार्य समस्याएँ प्रस्तुत होंगी और **विज्ञान का विकास उसी सीमा तक होगा जहाँ तक यह इन समस्याओं को हल करने में योगदान देगा।** इसका अर्थ यह नहीं कि विशुद्ध तकनीकी काम के लिए मूल अनुसंधान त्याग दिया जाए (जोकि विज्ञान के लिए निन्दनीय और आत्मघातक नीति होगी), किन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि समस्त समाज के हित को सामने रखते हुए वैज्ञानिक कार्य के समस्त क्षेत्र को कुछ-न-कुछ योजनाबद्ध किया जाए।"

'एसोसियेशन ऑफ़ साइंटिफिक वर्कर्स' के इस वक्तव्य का उत्तर 'सोसायटी फार फ्रीडम इन साइंस' की ओर से एफ० एस० टेलर ने दिया है (ओकेज़नल पैम्फ्लेट, 1 अप्रैल, 1945) :

"परन्तु 'वैज्ञानिक कार्य के समस्त क्षेत्र को कुछ-न-कुछ 'योजनाबद्ध' करने का क्या अर्थ है······? क्या कोई अफसर आकर बतलाएगा, 'फास्फोटगंस्टेदस की मणिभ रचना के इस अध्ययन से समाज को कोई लाभ नहीं—जाओ, कुछ और काम करो।"

स्पष्ट है कि विज्ञान के इतिहास को उचित रीति से समझने और आधुनिक संसार में 'विशुद्ध' अनुसंधान के स्थान के सम्बन्ध में जो विवाद इंगलैंड में दस वर्ष से अधिक समय से चल रहा है, वह उन दीर्घ-प्रभावी राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों से अलग नहीं है, जिन पर भी उस देश में बहस चल रही है। इसका सम्बन्ध विज्ञानकर्मी की स्वाधीनता की मूल समस्या से भी है। इसीसे यह प्रश्न उठता है कि उद्योगशालाओं, सरकारी विभागों, संस्थानों और विश्वविद्यालयों में अनुसंधान की सर्वोत्तम व्यवस्था क्या और कैसे होगी।

विज्ञान और आविष्कार की बदलती हुई स्थिति

आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति और व्यावहारिक कलाओं के सम्बन्ध के बारे में अपने विचार मैं इससे पूर्व एक अध्याय में व्यक्त कर चुका हूँ। 17वीं शताब्दी में प्रयोगात्मक दर्शन की उत्पत्ति के पश्चात् बहुत-सा समय बीत जाने के बाद ही विज्ञान की प्रगति ने व्यावहारिक कलाओं पर पर्याप्त प्रभाव डालना शुरू किया। यद्यपि 17वीं शताब्दी के वैज्ञानिक अपने प्रयोगों और नई दार्शनिकता से होनेवाले व्यावहारिक लाभों के बारे में बहुत आशावादी थे, परन्तु जो परिणाम वास्तव में निकले वे आश्चर्यजनक नहीं थे।

अभी यदि हम अपना ध्यान पदार्थ-विज्ञानों और उनके उपयोग पर ही केन्द्रित रखें, तो औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ के पश्चात् 18वीं शताब्दी में होनेवाली घटनाओं का अध्ययन बहुत रोचक रहेगा। लोहे के उद्योग में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ—जैसे स्मीटन ने कच्चा लोहा बनाने के लिए कोयला जलानेवाली भट्टी में सुधार किए (1760), इस्पात की क्रूसीबल प्रक्रिया का आविष्कार हुआ, मुड़ने वाला इस्पात बनाने के लिए कार्ट ने पडलिंग प्रक्रिया विकसित की, कारखानों में वाट के वाष्प-इंजन का प्रवेश हुआ (1790)। हम यह भी देखते हैं कि 1796 में ग्रेट ब्रिटेन में लोहे का उत्पादन 1,25,000 टन तक पहुँच गया था, जो दस साल पहले के उत्पादन से दूना था। एक ओर औद्योगिक क्रान्ति चल रही थी और दूसरी ओर विज्ञान भी तीव्र गति से विकसित हो रहा था। दोनों कार्यों में लगे हुए लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में थे, फिर भी लोहे के उद्योग की उन्नति और वाष्प-इंजन के विकास का कारण विज्ञान की प्रगति नहीं थी। आपको याद होगा कि लावासिये का नवीन रसायन शताब्दी के अन्तिम भाग तक सामान्यतः स्वीकृत नहीं किया गया था। इस प्रकार कच्चे लोहे, धातु और इस्पात का रासायनिक अन्तर निश्चित होने से पहले

ही लोहे और इस्पात के निर्माण में सभी सुधार हो चुके थे। (भौतिक गुणों के अन्तर से कार्बन भाग के अन्तर का पता चलता है।) उस समय के व्यावहारिक लोगों की अनुभववादी विधियों पर विज्ञान का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। व्यावहारिक कलाओं में शत-प्रतिशत अनुभववाद चलता था।

18वीं शताब्दी न्यूटन के महान् संश्लेषण के प्रभाव में थी। यान्त्रिकी और ज्योतिष के संयोग से उसने एक नया ब्रह्माण्ड-विज्ञान उत्पन्न किया, जिससे उस समय के बुद्धिवादी बहुत प्रभावित हुए। सौ वर्षों के दौरान शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति विज्ञान के प्रति सर्वथा बदल गई। सूर्य-केन्द्रीय सिद्धान्त के आधार पर गैलीलियो और चर्च का संघर्ष बीती बात हो चुका था। रायल सोसायटी और फ्रेंच अकादेमी कई पीढ़ियों से सक्रिय थीं। उनकी वैज्ञानिक पत्रिकाएँ नये विचारों और नये प्रयोगों के उल्लेख का माध्यम थीं। इन संस्थाओं की बैठकों में अनेक महत्त्वपूर्ण लेख पढ़े जाते थे और उन पर बहस होती थी। किन्तु एक बात याद रखनी चाहिए कि उस समय सक्रिय अन्वेषकों की संख्या आज की अपेक्षा बहुत कम थी और वे सब मूलतः ग़ैर-पेशेवर लोग थे।

किन्तु 19वीं शताब्दी के मध्य तक स्थिति सर्वथा बदल गई। जहाँ तक विशुद्ध विज्ञान का सम्बन्ध था, हम संभवतः आधुनिक युग में क़दम रख चुके थे और गैर-पेशेवर लोग अभी भी योगदान दे रहे थे, परन्तु उनका महत्त्व तेजी से कम हो रहा था। माईकल फैराडे लंदन की रायल इन्स्टीट्यूशन में एक व्यक्ति की-अनुसंधानशाला चला रहा था। (यह काउंट रम्फोर्ड द्वारा स्थापित एक विचित्र लोककल्याणकारी संस्था थी जिसे सर हम्फरी डेवी ने अनुसंधान प्रयोगशाला और लोकप्रिय भाषण-मंच का रूप दे दिया था।) यूरोप के भूखंड में रसायन, भौतिकी, प्राकृतिक विज्ञान और चिकित्साविज्ञान के अध्यापक अनुसंधान में सक्रिय थे। संसदीय सुधार शीघ्र ही ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज को इस योग्य बनाने वाले थे कि वहाँ एक नये जीवन का उदय हो जिसमें वैज्ञानिक अनुसंधान प्रमुख स्थान ले ले। पिछली शताब्दी के मुकाबले में सक्रिय वैज्ञानिकों की संख्या बहुत बढ़ गई थी और शताब्दी के तीसरी चौथाई पूरा करने से पहले-पहले ग्रेट ब्रिटेन, यूरोप और अमेरिका के शिक्षा-क्षेत्रों में विज्ञान प्रभावपूर्ण स्थिति ग्रहण करने वाला था।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है विज्ञान का रसायन उद्योगों में प्रवेश और वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप विद्युतीय उद्योगों की स्थापना। 1880 तक जर्मनी में इस औद्योगिक विकास के कारण बहुत-से उच्च शिक्षा प्राप्त

(पी० एच० डी० धारी) विद्यार्थियों के लिए नई राहें खुल गईं। विज्ञान एक व्यवसाय बन रहा था। 19वीं शताब्दी के अन्त तक हालत यह हो गई कि प्रमुख विज्ञानकर्मियों में पेशेवर लोगों की संख्या गैर-पेशेवर लोगों की संख्या से अधिक हो गई। विश्वविद्यालयों में और कुछ हद तक उद्योग में वैज्ञानिक अनुसंधान व्यवसाय के रूप में मान्य हो गया। सिविल, मैकेनिकल और इलैक्ट्रीकल इंजीनियरिंग के रूप में व्यावहारिक विज्ञान अधिकाधिक लोगों को आकृष्ट करने लगा।

18वीं शताब्दी तक स्थिति यह थी कि सफल आविष्कार के लिए साहसी व्यापारी होना भी आवश्यक था और कुशल अनुभववादी प्रयोगकारी भी। (वाट को सौभाग्य से एक व्यापारी भागीदार बोल्टन मिल गया था, अन्यथा वह कभी सफल न होता।) 19वीं शताब्दी की दूसरी और तीसरी चौथाइयों में जो विद्युतीय उद्योग स्थापित हुए, उनके अग्रगामियों के बारे में भी यही बात बहुत हद तक ठीक है। परन्तु सीमेन्स (जो विद्युत-इंजीनियरिंग और इस्पात-निर्माण के क्षेत्र में अपने कार्य के लिए प्रसिद्ध है) के जीवन-चरित्र से स्पष्ट है कि यहाँ भी प्रयोग के लिए आधार विद्युतविज्ञान का मिला। उसका जीवन एक ओर तो वाट के जीवन के साथ विरोध प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर आधुनिक रेडियो उद्योग के इतिहास निर्माताओं के साथ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जो लोग विज्ञान को विकसित कर रहे थे, उन्होंने उन लक्षणों का स्वागत नहीं किया जो यह संकेत करते थे कि विज्ञान के व्यावहारिक उपयोग से उद्योग और दैनिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आने वाले थे। पिछली पीढ़ी के वैज्ञानिक, जैसे लाईविग (जिसने नई रासायनिक खोजों का कृषि में प्रयोग किया) और फैराडे व्यावहारिक कार्यक्षेत्र में प्रवेश भी करते थे और उससे अलग भी हट जाते थे। किन्तु कुछ क्षेत्रों में उद्योग के प्रति विश्वविद्यालयीय पृथकता की भावना विकसित होने लगी। विशुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान का अन्तर कठिन किन्तु महान् और सरल किन्तु घटिया का अन्तर बन गया। संक्षेप में, बहुत-से वैज्ञानिक मात्र आविष्कारकों का तिरस्कार करने लगे। उधर आविष्कारक भी प्रयोगशालाओं में काम करने वाले अव्यावहारिक और सैद्धान्तिक लोगों और गणितज्ञों का मज़ाक उड़ाने लगे।

जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने 1878 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में टेलीफोन पर जो भाषण किया उसके प्रारम्भिक भाग में इस प्रकार की अकड़ का एक रोचक उदाहरण मिलता है। मैक्सवेल विशुद्ध विज्ञान के विकास में अपने योगदान के

लिए प्रसिद्ध प्रोफेसर था और उसने अलेगज़ेंडर ग्राहम वेल के क्रान्तिकारी आविष्कार के बारे में निम्नलिखित शब्द कहे थे :

"लगभग दो वर्ष पूर्व अतलांतिक महासागर के उस पार से समाचार मिला कि एक ऐसा उपाय ढूँढ़ लिया गया है जिसके द्वारा विद्युत् की सहायता से मानव के स्वर के शब्दों को वक्ता से सैकड़ों मील दूर तक सुना जा सकता है। हममें से वे लोग जो इस समाचार को सत्य समझते थे, सोचने लगे कि यह रचना कौशल का चमत्कार होगा—कोई ऐसी चीज़ जो कोमलता और जटिलता में सर विलियम टामसन के 'साईफन रेकार्डर' से उत्तम होगी और साधारण घंटी से भिन्न होगी। अन्त में यह छोटा-सा उपकरण सामने आया। इसके विभिन्न भाग हम सभी नें देखे हैं और कोई भी साधारण व्यक्ति इन भागों को जोड़ सकता है। इसके साधारण रूप को देखने से जो निराशा हुई उसका आंशिक निराकरण यही था कि यह उपकरण वाकई बोल भी सकता था।"

आगे चलकर उसी भाषण में मैक्सवेल ने कहा—"यह प्रोफेसर ग्राहम वेल, जिन्होंने टेलीफोन का आविष्कार किया है, वास्तव में कोई विद्युत-वैज्ञानिक नहीं हैं, जिन्होंने यह पता लगाया हो कि टिन की प्लेट को कैसे बुलवाया जा सकता है, वरन् एक वक्ता हैं जो अपने निजी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विद्युत्-वैज्ञानिक बन गये हैं।"

वैज्ञानिक आविष्कार के 'शास्त्रीय युग' अर्थात् 1825 से 1925 तक आविष्कारक की विशेषता यह थी कि वह लगभग अकेला ही काम कर सकता था। एक गोदाम या बरसाती और बैंक में कुछ रुपया तथा कल्पनाशक्ति, मानसिक दृढ़ता और धैर्य आदि गुण ही पर्याप्त थे। आज ऐसा नहीं है। प्रायः अकेले आविष्कारक का स्थान व्यावहारिक अनुसंधान की प्रयोगशाला ने ले लिया है, जिसमें विज्ञान और तकनीकी ज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों का एक समूह काम करता है। यह विज्ञान के विकास और प्रौद्योगिकी की प्रगति के सम्मिलन का परिणाम था कि आविष्कारक को दूसरे प्रकार के कौशल और ज्ञान वाले आविष्कारकों के साथ साझेदारी के लिए बाध्य होना पड़ा। इससे सामान और सामग्री की जो नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हुई हैं उनके कारण आविष्कारों पर होने वाले खर्च को पूरा करने की नई और बड़ी विधि निकल आई है। इन दोनों सामाजिक प्रक्रियाओं का आपस में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा अच्छी सड़कों और आधुनिक कारों का है।

मैक्सवेल के शब्दों में वेल के प्रति जो नियन्त्रित तिरस्कार झलकता है वह

आज भी कई विश्वविद्यालयीय क्षेत्रों में पाया जाता है। किन्तु आविष्कार करने की विधि में परिवर्तन के कारण विशुद्ध वैज्ञानिक और व्यावहारिक वैज्ञानिक (आधुनिक आविष्कारक) का परस्पर सामाजिक वैमनस्य कम हो गया है। थोड़े-से लोग जो इस परिवर्तन को छिपे-छिपे बुरा मानते हैं वे हैं, जो इस बात से घबरा रहे हैं कि उपर्युक्त संयोग कहीं विज्ञान की प्रगति को ही न रोक दे। मेरा विचार है कि विज्ञान के हाल के इतिहास का कोई भी विद्यार्थी इस बात से इंकार नहीं करेगा कि इस दिशा में खतरा वास्तविक है। इस खतरे को रोकने के लिए आवश्यक है कि अमरीकी जनता को इस बात पर तैयार करने के लिए निरन्तर और प्रभावकारी आन्दोलन चलाना चाहिए कि वह सामान्य अनुसंधान को बढ़ावा दे।

विज्ञान और उद्योग : वर्तमान स्थिति

साधारण व्यक्ति को विशुद्ध विज्ञान में अनुसन्धान की और अधिक आवश्यकता के बारे में विश्वास दिलाने से पहले हमें उद्योग के क्षेत्र में विज्ञान की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण कर लेना चाहिए। 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में अनुसन्धान-प्रेमी वैज्ञानिक ने विद्युत् और रसायन उद्योगों में अपनी महत्ता प्रमाणित कर दी थी। नई व्यवस्था जर्मनी तथा उन देशों में स्थापित हुई थी जो उस समय जर्मन संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र में आते थे। प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ पहले और उसके दौरान अमेरिका में भी किसी औद्योगिक कम्पनी के सहायक के रूप में संगठित अनुसन्धान की प्रथा शुरू हो गई। परिणाम की दृष्टि से उस समय से लेकर विकास तीव्र और क्रान्तिकारी रहा है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक अनुसन्धान में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में 10,000 थी, द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने तक यह 50,000 हो गई और 1949 तक 1,30,000 पहुँच गई। इस देश में अनुसन्धान और विकास कार्य पर उद्योगों, सरकार, विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान संस्थाओं का कुल व्यय 1930 में लगभग 160,000,000 डालर था, 1940 में 350,000,000 डालर और 1948 में 5,000,000,000 डालर। इन आँकड़ों से पता चलता है कि जो कार्य एक समय मुट्ठी-भर व्यक्ति करते थे, वह एक पीढ़ी के अन्दर-अन्दर महान् महत्त्व-पूर्ण सामाजिक कार्य बन गया है। अकेला आविष्कारक और अव्यवसायी वैज्ञानिक वैसे ही लुप्त हो गए हैं, जैसे अमरीकी भैंसा।

अमेरिका में अनुसन्धान कार्य सम्बन्धी आँकड़ों से कुछ भ्रांति हो सकती है,

क्योंकि प्राय: अनुसन्धान और विकास-कार्य दोनों को इकट्ठा कर दिया जाता है। यह उसी प्रकार है जैसे 19वीं शताब्दी के विज्ञान, आविष्कार और औद्योगिक विकासों के निर्माण-कार्य सभी को एक साथ जोड़ दिया जाता था। आजकल (क) मूल अनुसन्धान, (ख) व्यावहारिक अनुसन्धान, (ग) इंजीनियरिंग के विकास, (घ) उत्पादन इंजीनियरिंग, और (ङ) सर्विस इंजीनियरिंग में परस्पर अन्तर करना सुविधाजनक है। (यहाँ मैं डब्ल्यू० आर० मैकलारिन की शब्दावली का प्रयोग कर रहा हूँ जो उसकी रोचक और ज्ञानपूर्ण पुस्तक 'इन्वेन्शन एंड इन्नोवेशन इन द रेडियो इंडस्ट्री' में मिलती है।) प्रथम शीर्षक—मूल अनुसन्धान—में वे सभी कार्य आते हैं जिनको हम अब तक विज्ञान कहते आए हैं। संक्षेप में उसके अन्तर्गत नई धारणाओं का विकास और पुरानी धारणाओं का सुधार (किसी विज्ञान-क्षेत्र में अनुभववाद के परिमाण को कम करना) तथा नये यंत्रों और नई तकनीकों की सहायता से खोज हैं। व्यावहारिक अनुसन्धान का उद्देश्य है वर्तमान धारणापद्धतियों का व्यावहारिक समस्याएँ सुलझाने में प्रयोग, नई प्रायोगिक खोजों को व्यवहार में लाने के बारे में खोज और तात्कालिक व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से तथ्यों के बारे में सूचना-संग्रह। विकास कार्य का अर्थ है विचारों के औद्योगिक प्रयोग की दिशा में पहला कदम। इंजीनियरिंग के विकास तथा उत्पादन इंजीनियरिंग के बीच की सीमा बहुत धुँधली है। प्राय: प्रथम तो प्राथमिक मशीन से सम्बन्धित है और दूसरी का सम्बन्ध है कार्यशील वृहत्-स्तरीय कारखानों में सुधार से। सर्विस इंजीनियरिंग वाले लोग विक्रय विभाग के निकट सम्पर्क में रहते हैं और इसलिए उपभोक्ता के भी निकट होते हैं।

युद्ध के दौरान अनुसन्धान ने बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उस काल के अनुभवों में से उदाहरण लिया जाए तो उन विभिन्न तत्त्वों के कुछ पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्टीकरण हो जायगा जिनके मिलने से आज प्रौद्योगिक सुधार होते हैं। यदि भूसेना, नौसेना और 'वैज्ञानिक अनुसंधान तथा विकास विभाग' द्वारा नये शास्त्रास्त्र बनाने के युद्धकालीन कार्य का वर्णन किया जाए तो लगता है कि प्रयोगशाला से युद्ध क्षेत्र तक एक ही शृंखला चल रही थी। इस शृंखला के साथ-साथ नये विचार चल रहे थे, दोनों ओर बिना किसी प्रकार की बाधा के प्रयोगशाला से बहुत-से नये प्रस्ताव आते थे, जिनको विकास इंजीनियरों द्वारा फिर से क्रियात्मक रूप दिया जाता था। यदि वह अच्छे मालूम पड़ते तो उत्पादन इंजीनियरिंग के लिए उत्पादनकर्ता के पास भेज दिये

जाते । उत्पादक के पास से उत्पादित चीजें आती थीं, जो उचित परीक्षण और जाँच के पश्चात् अन्तिम उपभोक्ता (इस उदाहरण में सिपाही) के हाथों में पहुँच जाती थीं । उपभोक्ता से वस्तु में सुधार के लिए सुझाव तथा नये यंत्रों, शस्त्रास्त्रों तथा नई सामग्री के बारे में नवीन विचार प्राप्त होते थे । इसके साथ ही यह भी कह देना चाहिए कि सूचनाओं, सुझावों तथा माँगों को विकासकारियों तथा प्रयोगशालाओं तक पहुँचाने का कार्य बहुत सरल नहीं था ।

सूचना का उस श्रृंखला में से होकर गुजरना ही काफी नहीं था, अपितु कई स्थानों पर निर्णय किया जाता था । संघर्ष के दौरान, जल्दी होने के कारण, शीघ्र निर्णय करने में और भी कठिनाई होती थी । लड़ाकू फौजों की आवश्यकताओं को तुरन्त पूरी करने के लिए ऐसे कई स्थान छोड़ दिए जाते थे, जो कार्यकुशलता की दृष्टि से शान्तिकाल में अनिवार्य होते । कई सूचनाओं को एकत्र करके उनमें से एक सर्वोत्तम चुनाव की बजाय कई विकल्प एक साथ क्रियान्वित कर दिए जाते थे । परमाणु बम का निर्माण इसका विशिष्ट उदाहरण है । प्रारम्भ में (प्रयोगशाला की अवस्था में ही) परमाण्विक ईंधन बनाने की बहुत-सी योजनाएँ थी । स्मिथ रिपोर्ट से प्रकट होता है, कि विकास की अवस्था पर भी अनेक सम्भावनाएँ प्रस्तुत थीं । यदि पुराने कार्यक्रम को अपनाया जाता तो निर्माण की योजना निश्चित होने से पहले विकास कार्य द्वारा ही विकल्प और कम कर दिये जाते । सभी जानते हैं कि तर्कसंगत मार्ग अपनाने के लिए आवश्यक पर्याप्त सूचना प्रस्तुत करनेवाले अनुसन्धान और विकास की प्रतीक्षा किए बिना ही बहुत-सी दिशाओं में एक साथ पूरी ताकत से काम शुरू कर दिया गया ।

युद्ध में समय का महत्त्व सबसे अधिक था । सभी लोगों पर विशेष शर्तें लागू हो गई थीं । इनमें विज्ञान और उसके उपयोग से सम्बन्ध रखने वाले लोग भी शामिल थे । इसलिए, युद्धकालीन सफलताओं या असफलताओं से निष्कर्ष निकालने और उस समय के उदाहरणों के आधार पर तर्क देने में सतर्कता से काम लेना चाहिए । तो भी युद्ध से पहले और आज के अनेक औद्योगिक कार्यों पर यदि विचार किया जाए तो, मुझे विश्वास है कि, वही क्रम दिखाई देगा जो अनुसन्धानशाला से प्रारंभ होकर उपभोक्ता तक पहुँचता है ।

युद्ध के दिनों में सबसे कठिन दो संगठनात्मक समस्याएँ थीं—सम्पर्क-स्थापना और संचार । इसी प्रकार औद्योगिक प्रबंधकों के सामने भी कई बार यह समस्या गम्भीर रूप में आती है कि इस सारे क्रम के विभिन्न भागों तक सूचना शीघ्र

और प्रभावकारी रीति से कैसे पहुँचाई जाए। प्रायः ऐसा होता है कि जो सूचना नीति निर्धारित करने वाले अफ़सरों तक अनुसंधान-वैज्ञानिकों और विकास-इंजीनियरों ने पहुँचानी होती है, वह धीरे-धीरे एकत्रित होती है। इसलिए, कई बार अपर्याप्त तकनीकी ज्ञान के आधार पर ही सम्मतियाँ कायम कर लेनी पड़ती हैं।

विभिन्न प्रकार के अनुसंधान और विकास कार्यों को देखने के पश्चात् मेरा अनुमान यह है कि साधारण लोगों को भी कई बार ठीक इसी प्रकार अत्यन्त कठिन निर्णय लेने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, शायद कोई बहुत ही टैक्नीकल प्रस्ताव हो, जिसकी स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रभाव बहुत दीर्घ और गंभीर हो। अब दाँव के दोनों पहलुओं पर विचार करना होता है। एक तो सफलता की संभावना की दृष्टि से (जोकि बहुत ही टैक्नीकल बात है) और दूसरे सफलता या असफलता के परिणाम की दृष्टि से। इसलिए निर्णय का आधार व्यापक नीति भी है, और यह उन्हीं लोगों को करना चाहिए जिन पर बहुत उत्तरदायित्व है अर्थात् उन अधिकारियों को जो इसके सभी प्रभावों को समझते हैं। प्रस्ताव सारे क्रम में से किसी भी स्थान पर उत्पन्न हो सकता है। यह अनुसन्धान कार्य, विकास योजना, नये कारखाने की योजना और निर्माण या वर्तमान क्रियात्मकता के सुधार किसी के भी बारे में हो सकता है। अब निर्णय कौन करे और टैकनीकल कारणों का क्या महत्त्व है?

एक ठीक ढंग से चलने वाले औद्योगिक संगठन में जहाँ सारा क्रम एक ही प्रबन्ध के अन्दर चलता है, यह निर्णय करने वाले लोग 'सारे कार्य व्यापार के साथ-साथ विकसित हुए' होते हैं। अपने स्कूली ज्ञान के बावजूद वह यह अवश्य सीख चुके होते हैं कि वैज्ञानिक विशेषज्ञों और इंजीनियरों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों को किस प्रकार आँकना है। इस प्रकार का सफल अधिकारी आत्मानुभूति से ही उन स्पष्ट कठिनाइयों से बचाव कर लेता है जिनमें युद्धकाल में अनेक अनुभवहीन व्यक्ति फँस गए थे—और वह भी अपने-आप विशेषज्ञ बनने की चेष्टा करने के कारण। इसी प्रकार सफल कार्यकारी अनजाने तौर पर ही उन लोगों की भावनाओं के लिए भी छूट रख लेता है जो जानने का दावा करते हैं, क्योंकि वह जानता है कि वैज्ञानिक सम्मतियाँ उतनी भावनाहीन और निष्पक्ष नहीं होतीं जितना जनता समझती है। रचनाकार होने का गर्व बहुत बलवान और गहरा होता है। बुद्धिमान व्यक्ति विभिन्न गवाहों के व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों में सन्तुलन स्थापित कर लेता है। अन्तिम बात

यह है कि ऐसे व्यापारियों को विज्ञान की समझ होती है और वे जानते हैं कि इसका उपयोग कैसे होता है (कम-से-कम अपने व्यापार क्षेत्र में)। इसी कारण वह समझते हैं कि नये प्रस्ताव में नवीनता की मात्रा ढूँढ़ना और प्रस्ताव की पृष्ठभूमि के विज्ञान में अनुभववाद की मात्रा को समझना कितना महत्त्वपूर्ण है।

नवीनता की मात्रा किसी क्षेत्र विशेष में वैज्ञानिक धारणाओं के नये रूप में हो सकती है। यह किसी दूरस्थ प्रायोगिक क्षेत्र में ज्ञात ऐसे नए प्रायोगिक तथ्यों का फल भी हो सकती है जिनका प्रत्यक्ष समस्या से सम्बन्ध हो। नये पदार्थ (संकर, प्लास्टिक आदि) भी नवीनता ला सकते हैं या अन्यत्र विकसित नई मशीनों या नये यंत्रों से नवीनता आ जाती है। कुछ भी हो, अफसर विशेषज्ञों पूछ सकता है: "यह पहले क्यों नहीं हुआ?" जितने भी उत्तर मिलेंगे उनमें सबसे कम विश्वसनीय (यद्यपि इसके आधार पर नकारात्मक निर्णय लेना सर्वथा उचित नहीं होगा) यह होगा कि "इससे पहले किसी ने यह सोचा ही नहीं।" मेरे विचार में सबसे अधिक विश्वसनीय उत्तर यह होगा—"पहली बार हमें भली-भाँति समझ में आया है कि हम कर क्या रहे हैं?" या यह "पिछले महीने तक यह प्रायोगिक तथ्य अज्ञात ही नहीं सर्वथा **अनपेक्षित** था।"

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जहाँ अनुभववाद की मात्रा अधिक है और प्रस्तुत कार्य की कुछ उपयोगिता है, वहाँ हम व्यावहारिक कला में ही सुधार का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरी ओर, जहाँ अनुभववाद की मात्रा कम है और लक्ष्य यह है कि अपने ज्ञान में इसकी मात्रा और भी कम कर दी जाए, वहाँ हम उस क्रान्तिकारी कार्य के एक अंश से सम्बन्धित कदम उठा रहे हैं जो लगभग 350 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था और जिसे हम विज्ञान कहते हैं। मैंने संकेत किया है कि अनुसन्धान के प्रति यह दृष्टिकोण उन लोगों के लिए मूल्य-वान हो सकता है जिन्हें यह निर्णय करना होता है कि किसी नये कार्य या नई अनुसंधान योजना में किस हद तक जोखिम उठाना चाहिए। प्रायः हम मूलभूत बातों को जितना अधिक समझेंगे उतनी ही अधिक सफलता हमें नये वैज्ञानिक और टैक्नीकल प्रयास में मिलेगी। अर्थात्, अनुभववाद की मात्रा जितनी कम हो उतना अच्छा!

आधुनिक विज्ञान के दो क्षेत्रों में किसी विशेष समय पर अनुभववाद के परिणाम के अन्तर के जो व्यावहारिक परिमाण होते हैं उनके उदाहरण दूसरे विश्वयुद्ध से दिए जा सकते हैं। इस उदाहरण में प्रमुख नीति सम्बन्धी निर्णय आते हैं जो युद्धकाल में विकास और उत्पादन कार्य के सम्बन्ध में वाशिंगटन में

लिये गए। एक ओर तो परमाणु बमों के लिए परमाण्विक ईंधन बनाने पर विशाल व्यंय का निर्णय किया। इसका आधार केवल इतना था कि प्रयोगशाला में अतिसूक्ष्म सामग्री के साथ प्रयोग किए गये थे। दूसरी ओर यह किया गया कि पैंनिसलीन का निर्माण पुराने ढंग से 'कल्चरों' पर फफूंदी उगाने की जीव-वैज्ञानिक विधि से ही जारी रखा जाए और उससे कहीं अधिक सुविधाजनक संश्लिष्ट औद्योगिक प्रक्रिया को विकसित करने के लिए धन और पदार्थ का व्यय किया जाए। ऐसा उस समय किया गया जब कार्बनिक वैज्ञानिक इसके रचनात्मक सूत्र के बारे में एकमत हो रहे थे और सोचा जा रहा था कि औद्योगिक संश्लेपण विधि का आविष्कार होने ही वाला था।

दोनों निर्णय ठीक थे। बाद की घटनाओं से प्रमाणित हो गया कि परमाण्विक ईंधन के बारे में खेला गया जुआ ठीक था। कार्बनिक रसायनज्ञ द्वारा पैंनिसलीन के संश्लेषण के बारे में इस प्रकार का जुआ आत्मघाती सिद्ध होता (क्योंकि आज तक भी औद्योगिक स्तर पर पैंनिसलीन बनाने की विधि नहीं बन पाई)। मूल अन्तर क्या था ? परमाणु-भौतिक-वैज्ञानिक विश्वासपूर्वक भविष्यवाणी कर सकते थे और उनकी भविष्यवाणियाँ सत्य निकलीं, क्योंकि न्यूट्रोन और परमाणु केन्द्रों की आपसी प्रतिक्रिया एक पर्याप्त धारणापद्धति के अन्तर्गत समझी जा चुकी थी। इस क्षेत्र में काम यद्यपि नया था, लेकिन अनुभववाद का परिमाण कम था। इसके विपरीत संश्लेषात्मक कार्बनिक रसायन में अनुभवावाद की मात्रा अधिक थी। इसलिए लोग यह जोखिम उठाने को तैयार न थे कि एक जटिल पदार्थ का कम समय में व्यापारिक स्तर पर संश्लेषण शुरू हो जाएगा।

मेरा विश्वास है कि परमाण्विक ईंधन और पैंनिसलीन सम्बन्धी बहस में 'अनुभवावाद की मात्रा' शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ (यह मेरा अपना आविष्कार है)। किन्तु मेरा यह विचार अवश्य है कि दोनों समस्याओं का आधारभूत विश्लेषण वैसा ही हुआ होगा, जैसा मैंने बतलाया है। कुछ भी हो परिणाम विचाराधीन बात को स्पष्ट कर देता है। व्यावहारिक कला में जो भी विकास करना हो उसके लिए सम्बन्धित विज्ञान की अनुभवावाद की मात्रा पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए।

संगठन की समस्याएँ

यह तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कार्य को कुशलता से चलाने के लिए

अनुसन्धान प्रयोगशाला से लेकर उपभोक्ता तक चलने वाला सारा क्रम एक ही नियन्त्रण में होना चाहिए। अन्यथा सम्पर्क, संचार और निर्णय की पूर्वोक्त कठिनाइयाँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। परन्तु मामला इतना सरल नहीं कि केन्द्रीय प्रबन्ध की बात कहने से हल हो जाए। उद्योग में व्यवहृत अनुसन्धान के संगठन की चर्चा तब तक व्यर्थ है, जब तक हम एकाधिपत्य, सरकारी नियन्त्रण और सरकारी स्वामित्व की मूल बातों पर विचार न कर लें।

यह समझ में आता है कि कुछ ऐसे कारणों से, जो प्रौद्योगिक न हों, किसी विशेष क्षेत्र में एकाधिपत्य (चाहे वह गैर-सरकारी हो, चाहे सरकारी) अनिवार्य है। इस अवस्था में अनुसन्धान का विकास और निर्माण से सम्बन्ध आन्तरिक संगठन की बात रह जाती है। इस प्रकार का एकाधिपत्य होने से, किसी प्रकार की प्रौद्योगिक प्रतियोगिता द्वारा अनुसन्धान तथा विकास से सम्बद्ध व्यक्तियों को प्रोत्साहित करने की समस्या विकट बन जाती है। विज्ञान और उद्योग में तीव्रता और उत्साह लाने के लिए प्रौद्योगिक प्रतियोगिता उतनी ही आवश्यक है, जितनी मानव-कार्य के किसी अन्य क्षेत्र में।

दूसरी ओर उद्योग का संगठन यदि ऐसा हो कि उसमें बहुत-से स्वतन्त्र उत्पादक हों तो सम्भवतः कोई भी उत्पादक इस योग्य नहीं होगा कि विकास से सम्बद्ध लोगों या अनुसन्धान प्रयोगशाला की व्यवस्था कर सके। इस कठिनाई के दो हल हो सकते हैं। या तो विकास और अनुसन्धान का कार्य सरकार अपने हाथ में ले ले या कोई ऐसा सहकारी प्रबन्ध किया जाय जिसमें बहुत-से प्रतियोगी शामिल हों। अनुसन्धान और विकास पर धन व्यय करने की इन दोनों योजनाओं में एक दोष यह है कि सारा क्रम एक ही नियन्त्रण में नहीं रहता। इनमें सम्पर्क और संचार अत्यन्त कठिन कार्य हो जाते हैं और विभिन्न स्थानों पर जहाँ कठिन निर्णय लेने होते हैं अधिकारयुक्त कार्यकारी नहीं होता। दूसरे तकनीकी तथा वैज्ञानिक प्रतिस्पर्द्धा न होने के कारण प्रेरणा की कमी रह जाती है। इसलिए, यदि प्रौद्योगिक बातों को ही देखा जाए तो विकेन्द्रित उद्योग का आदर्श विकास आधी दर्जन या उससे भी अधिक सक्रिय प्रतियोगियों के परस्पर सहयोग द्वारा ही हो सकता है। सच तो यह है कि, मेरे मत के अनुसार, बहुत बार हुआ भी ऐसा ही है और उसका कारण भी वही था जो मैंने बताया है। किसी भी औद्योगिक क्षेत्र में किसी राष्ट्र को समृद्ध तभी गिना जाएगा जब ऐसे सक्रिय प्रतियोगियों में तीव्र प्रौद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा चल रही हो, जो अनुसंधान प्रयोगशाला से लेकर उपभोक्ता तक

सारे क्रम पर नियन्त्रण करते हों।

चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य : चिकित्सा विज्ञानों का वर्णपट्ट

इस शताब्दी में केवल उद्योग में ही वैज्ञानिक क्रान्ति नहीं हुई। रोग-निवारण की प्रचीन कला में भी वैज्ञानिक क्रान्ति हुई है। कहा जा सकता है कि उद्योग के क्षेत्र में विज्ञान का प्रवेश चिकित्सा के क्षेत्र में प्रवेश से बहुत पहले हुआ। इस सिलसिले में लुई पास्चर के कार्य पर और अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं। यह फ्रांसीसी रसायनज्ञ जब प्राणि-विज्ञानों के क्षेत्र में आया तो वह विज्ञान की उस शाखा के साथ सम्बन्धित हो गया जहाँ व्यावहारिक उलझनें कभी भी लोगों के विचारों से दूर नहीं हुईं। उसका जीवन एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण है जिसने विशुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान दोनों के विकास में महान् योगदान दिया है।

प्राणि-वैज्ञानिक (चाहे उसका सम्बन्ध कृषि से हो या चिकित्सा से) पिछले सौ वर्षों के अन्दर व्यावहारिक और विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्रों में भौतिकशास्त्री, रसायन-वैज्ञानिक की अपेक्षा अधिक सरलता से आता-जाता रहा है। संगठित समाज तथा कृषि, चिकित्सा और उद्योग के सम्बन्धों में जो अन्तर है, यह भी इससे प्रकट हो सकता है। शासन औद्योगिकों की अपेक्षा कृषकों (जिनमें रेशम के कीड़े पालने और अंगूर उगाने वाले भी शामिल हैं) को तकनीकी परामर्श देने के लिए अधिक उद्यत रहा है। सरकार आविष्कारक को कुछ वर्षों के लिए पेटेंट द्वारा जो एकाधिपत्य प्रदान करती है, उसके मुकाबिले में सभी कृषकों को अधिक उत्तम ज्ञान उपलब्ध कराने के लिए सरकार की ओर से अनुसन्धान कराया जाता है।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कृषि-रसायन पर डेवी की कृति के पश्चात् रसायन के बढ़ते हुए ज्ञान का कृषि में प्रयोग करने के प्रयास इंगलैंड, यूरोपीय भूखण्ड तथा इस देश में निरन्तर होते रहे हैं। आलुओं के रोग और उसके पश्चात् 1840 के आस-पास आयरलैंड के दुर्भिक्ष के कारण पौधों के रोग-निदान पर ध्यान केन्द्रित हो गया है। जीवाणुविज्ञान, जिसका लुई पास्चर तथा अन्य अग्रगामियों के हाथों खूब विकास हुआ, से कृषक को बहुत लाभ पहुँचा है। इस शताब्दी में प्रजनन-विज्ञान का अधिकाधिक प्रभावकारी उपयोग हुआ है। 19वीं शताब्दी का अन्त होते-होते राज्य तथा संघीय धन से चलने वाले कृषि अनुसन्धान केन्द्र, पशुपालन तथा मिट्टी का उपयोग दोनों को अधिक प्रभावकारी

बना रहे थे।

जीवाणु-विज्ञान की नई खोजें और नई धारणाएँ शल्यकार और चिकित्सक के लिए कृषकों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। किन्तु यह बात 20वीं शताब्दी में आकर ही स्वीकृत हुई कि जीवाणु-वैज्ञानिकों और शरीर-वैज्ञानिकों के परिश्रम से चिकित्सा में परिवर्तन हो रहे हैं। आज बिना प्रयोगशाला के अस्पताल की कल्पना नहीं की जा सकती। पिछले 25 वर्षों में चिकित्सा-विज्ञान ने भव्य सफलताएँ प्राप्त की हैं। रसायनज्ञों, प्राणि-रसायनज्ञों, शरीर-वैज्ञानिकों और शाकाणु वैज्ञानिकों ने चिकित्सकों को अधिकाधिक सहयोग दिया है। रोगों के इलाज में अनुभववाद की मात्रा प्रतिदिन कम होती गई है। लेकिन नई औषधियों और नई कार्यविधियों का आविष्कार उन्हीं विधियों से हुआ है जो अधिकांशतः अनुभवसिद्ध हैं। वास्तव में भेषज-विज्ञान में (इसे बाद में रासायनिक-उपचार नाम दिया गया) अनुभववाद की मात्रा बहुत अधिक है, यद्यपि पिछली दशाब्दी में नई धारणाएँ विकसित हुई हैं और ऐसे प्रयोग किये गए हैं जो क्रान्तिकारी सिद्ध हो सकते हैं।

जिस प्रकार उद्योग में व्यावहारिक अनुसंधानशाला से उपभोक्ता तक एक क्रम चलता है, वैसे ही रसायनज्ञ और प्राणि-वैज्ञानिक से लेकर चिकित्सक तक भी एक क्रम चलता है। इसको मैं प्राणिविज्ञानों के वर्णपट्ट की उपमा दूंगा। एक सिरे पर वे अन्वेषक हैं जो केवल विज्ञान की प्रगति में दिलचस्पी रखते हैं। दूसरे सिरे पर वे चिकित्सक और शल्यकार हैं जो रोगियों को ठीक करने में दिलचस्पी रखते हैं और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारी हैं जो लोगों को रोगी बनने से बचाना चाहते हैं। उद्योग की व्यावहारिक अनुसंधान प्रयोग-शाला के मुकाबिले में वे चिकित्सा-विद्यालयों और अनुसंधान-संस्थाओं की प्रयोग-शालाएँ हैं जिनमें प्राणि-रसायनज्ञ, भेषज-वैज्ञानिक, शरीर-वैज्ञानिक और शाकाणु वैज्ञानिक अपने अनुसंधान करते हैं। इंजीनियरिंग विकास और उत्पादन इंजी-नियरिंग के दलों में मुकाबिले में चिकित्सालय अनुसंधान में लोग व्यस्त हैं। उद्योग की भाँति यहाँ भी विभिन्न क्षेत्रों के बीच स्पष्ट भेद करना कठिन है। बल्कि यह देखना प्रथम महत्त्व की बात है कि वर्णपट्ट के विभिन्न स्थलों पर काम करने वाले लोगों का आपस में निकट सहयोग हो।

योजनाबद्ध अनुसंधान और असम्बद्ध अन्वेषक

मैंने उद्योग और चिकित्सा की जो समानता की है वह सम्भवतः चिकित्सा-

वैज्ञानिक उचित नहीं मानेंगे। वे इस बात पर ज़ोर देंगे कि वे भी विशुद्ध विज्ञान में उतने ही डूबे हुए हैं जितने भौतिकशास्त्री और रसायनज्ञ। चिकित्सा-अन्वेषक भी यह कहेंगे कि उनका अनुसंधान मौलिक है। चिकित्सा या अन्य औद्योगिक संगठन के क्षेत्र में विशुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान पर बहस शुरू कर देना सबसे आसान काम है। उलझनपूर्ण समस्याओं को स्पष्ट करने के लिए मैंने दो उपमाओं का प्रयोग किया है। एक है उद्योग के लिए प्रयोगशाला से उपभोक्ता तक का क्रम और दूसरी है चिकित्सा में विशुद्ध और व्यावहारिक अनुसंधान का वर्णपट्ट। दोनों अवस्थाओं में उन लोगों को पहचानना आसान है जिनका मुख्य काम तात्कालिक व्यावहारिक लक्ष्य पर होता है—कोई वस्तु बनाना या रोगी का उपचार करना। इसी प्रकार, लगभग प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि समय और अन्तरिक्ष सम्बन्धी गणितीय सिद्धान्त या कणों की परस्पर प्रतिक्रिया सम्बन्धी सिद्धान्त विकसित करने वाले सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्री का ध्येय विज्ञान को विकसित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन दोनों सिरों के बीच में अथवा वर्णपट्ट में कहीं भी काम करने वाला व्यक्ति समाज से सहायता पाने की माँग या तो अपने कार्य के व्यावहारिक फल के आधार पर बनाएगा या (किसी दूसरे मूड में) मूलभूत अनुसन्धान के आधार पर।

पिछली दो-तीन पीढ़ियों के दौरान उद्योग, औषधि तथा कृषि में काम करनेवाले एक ही व्यक्ति ने अकसर उपयोग के अतिरिक्त भी विज्ञान का विकास किया है और अपने कार्य द्वारा व्यावहारिक कला की प्रगति में भी सहायता की है। प्राणि-विज्ञान में लुई पास्चर प्रसिद्ध उदाहरण है। भौतिकी में लार्ड केल्विन का नाम लिया जा सकता है। प्रतिभावान व्यक्ति विशुद्ध से लेकर व्यावहारिक विज्ञान तक सारे क्षेत्र में काम करने की योग्यता रखता है। यह सोचने पर किसी समय विशेष में किसी विशेष प्रयोगशाला पर कोई 'लेबल' लगाने का महत्त्व नहीं रहता। आधुनिक उद्योग की अनुसंधान प्रयोगशाला में मूलभूत अनुसंधान प्रयोगशाला तथा व्यावहारिक अनुसंधान प्रयोगशाला दोनों के गुण हो सकते हैं। यही बात चिकित्सा-विद्यालय या अनुसंधान-संस्थान की अनुसंधान प्रयोगशाला के बारे में भी सही है। उपभोक्ता के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण बात है सारे क्रम की सम्बद्धता और सजीवता। रोगी का भला इसी में है कि वर्णपट्ट के विभिन्न भागों का सम्बन्ध निरन्तर बना रहे।

चाहे यह अध्याय मनमानी परिभाषाओं से भरा प्रतीत क्यों न हो, मैं वैज्ञानिक जाँच के बारे में एक और अन्तर दिखाना चाहूँगा। मेरे विचार से इसका

बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसका सम्बन्ध उद्योग, दान और सरकार द्वारा विज्ञान को सहायता से है। एक शताब्दी पहले का अव्यवसायी वैज्ञानिक तथा एकान्त आविष्कारक इस बात के लिए सर्वथा स्वतन्त्र था कि वह जब चाहे किसी भी विषय पर अपनी बुद्धि का प्रयोग करे। प्रथम अनुसंधान संस्थान (रायल इन्स्टीट्यूट) एक ही प्रतिभावान व्यक्ति के अधीन था, इसलिए इसके पास भी कोई योजना नहीं थी। माइकल फैराडे ने लोकप्रिय भाषण देकर और अपने पूर्वगामी सर हम्फ्री डेवी द्वारा अर्जित वैज्ञानिक ख्याति को बढ़ाकर प्रबन्धकों को सन्तुष्ट कर दिया। वास्तव में फैराडे का जीवन उस व्यक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है जिसे मैं 'असम्बद्ध अन्वेषक' कहता हूँ। वह रसायन से भौतिकी में गया और उसने इस विषय के सभी भागों में खोज की। अपने प्रारम्भिक काल में पास्चर भी ऐसा ही स्वतन्त्र अनुसंधानकारी था, किन्तु जब वह प्रसिद्ध हो गया और उसके लिए एक विशेष अनुसंधान संस्थान की स्थापना हुई तो वह एक विशेष दिशा में विज्ञान का उपभोग करने के लिए अधिकाधिक बाध्य होता गया और वह दिशा थी मानव-मात्र के शारीरिक-स्वास्थ्य का सुधार। सामाजिक दबाव, जिनका स्वयं उसे भी पूरा ज्ञान नहीं था, ने उसके लिए यह असम्भव कर दिया कि वह प्राकृतिक वस्तुओं के प्रकाशीय व्यवहार से सम्बन्धित रासायनिक प्रक्रियाओं के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त हो सके। कोई व्यक्ति या प्रयोगशाला किसी वैज्ञानिक क्षेत्र के किसी विशेष भाग पर अनुसंधान करने का भार उठाते ही, चाहे उसका कुछ भी कारण हो, एक योजना से आबद्ध हो जाता है। योजना की व्यापकता या संकीर्णता की परिभाषा अनेक रूपों में हो सकती है—परिणाम या करार द्वारा प्रत्यक्षतः या घोषित आदर्शों और प्राप्त सफलताओं के अप्रत्यक्ष रूप से।

20वीं शताब्दी में विज्ञान और आविष्कार दोनों की प्रवृत्ति योजनाबद्ध अनुसंधान की ओर अधिकाधिक है। असम्बद्ध अन्वेषक समाज में घटते जा रहे हैं। व्यावहारिक कलाओं में स्वतन्त्र आविष्कारक का हाथ लगभग रहा ही नहीं।

प्रत्येक औद्योगिक कम्पनी, प्रत्येक अस्पताल या अनुसंधान संस्थान को और चिकित्सा-विद्यालय के प्रत्येक विभाग-प्रमुख को प्रतिवर्ष योजना बनानी पड़ती है और यह निश्चय करने होते हैं कि योजना का कलेवर कितना वृहद् या संकीर्ण रखना है और इसमें कितना मूलभूत अनुसंधान शामिल किया जा सकता है। सी० ई० के० मीस ने दो प्रकार की औद्योगिक प्रयोगशालाएँ बताई हैं—एकोद्देश्यीय, जिनके सारे क्रम एक ही दिशा में चलते हैं और बहुउद्देश्यीय जिनके

क्रम विभिन्न दिशाओं में चलते हों। किन्तु दूसरी प्रकार की योजना की भी तो कोई सीमा होगी ही। यदि विशुद्ध विलासिता को छोड़ दिया जाए तो कोई भी उद्योग अपने क्षेत्र से बाहर विज्ञान के विकास में दिलचस्पी नहीं रखेगा। इसी प्रकार यदि किसी चिकित्सा-विद्यालय का प्राणि-रसायन का अध्यापक विरल तत्त्वों के रसायन में दिलचस्पी लेने लगे और अपना सारा समय उस अनुसंधान पर लगा दे तो उसके सहयोगी कहेंगे कि वह अपना काम पूरी तरह से नहीं कर रहा है। किन्तु फिर भी यह तो माना ही जा सकता है कि अपने कार्य के दौरान कोई प्राणि-वैज्ञानिक अपने क्षेत्र से उतनी ही दूर की कोई नई बात निकाल ले, जितनी मैंने अपनी काल्पनिक उदाहरण में बताई है। इस अवसर पर विज्ञान के इतिहास में अचानक खोज का महत्त्व सामने आता है। अव्यवसायी वैज्ञानिक पूरी तरह से स्वतन्त्र अन्वेषक था और आधुनिक विज्ञान की नींव लगभग पूरी-की-पूरी उसी के हाथों रखी गई थी।

जब हम आधुनिक विज्ञान के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं और आज की अवस्था को देखते हैं तो यही कहना उचित लगता है कि असम्बद्ध और स्वतन्त्र अन्वेषक जितने अधिक हों अतना ही अच्छा है, बशर्ते कि वे सभी गुण-वान और शक्तिवान हों। जितने अधिक उतना अच्छा मैं इस आधार पर कह रहा हूँ कि विज्ञान का विकास जारी रखना संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए हितकारी है। यदि इस बात को मान लिया जाए तो उन शक्तियों पर विचार करना उचित रहेगा जो योजनाबद्ध अनुसंधान पर अधिक ज़ोर दे रही हैं। पहली तो है भौतिकी, रसायन और प्राणि-विज्ञान में आधुनिक प्रयोगों का स्तर और व्यय। कोई भी व्यक्ति अकेले, पुराने उपकरणों से काम करके कोई विशेष महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे सकता। आज सभी प्रयोगकारी मानते हैं कि स्थायी और उच्च-व्ययी उपकरणों के लिए अनुसंधान दल और बड़े बजट अनिवार्य हैं। यह सामान्य बात है कि ऐसे किसी भी दल के प्रमुख (उसे हम प्रमुख अन्वेषक कह सकते हैं) का बजट उसके वेतन से दसगुना होता है। मानव शक्ति की दृष्टि से ही इसमें विविध मानवीय कौशल को एकत्र किया जाता है। डालरों की भाषा में यह भद्दा प्रश्न उठता है : "पैसा कौन लगाता है ?" धन जिन लोगों के नियन्त्रण में है, वह पूछते हैं : "यह सब धन किसलिए लग रहा है ?" परिणाम यह है कि जिस प्रयोगशाला का व्यावहारिक उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उनको भी धन की माँग करते समय पूरी योजना देनी पड़ती है। एक बार जब धन निश्चित उद्देश्य के लिए स्वीकृत हो, तो अन्वेषक अस-

म्बद्ध नहीं रह जाता। योजनाबद्ध अनुसंधान शुरू हो जाता है।

दूसरी बात जो योजनाबद्ध अनुसंधान को बढ़ावा दे रही है वह वैज्ञानिक की ऐसी प्रवृत्ति है कि प्रारम्भ में वह केवल विज्ञान में दिलचस्पी रखता है और फिर उसका झुकाव व्यावहारिक समस्याओं की ओर हो जाता है। यह रसायन और भौतिकी के बारे में सत्य है और यहाँ व्यावहारिक उपयोग का केन्द्र उद्योग है। चिकित्सा और प्राणि-विज्ञानों के बारे में यह विशेपरूप से सही है। वर्णपट्ट पर विशुद्ध विज्ञान के सिरे से व्यावहारिक सिरे की ओर जाने की चाह सदा बनी रहती है। आज बहुत-सी चीज़ें हैं जो व्यावहारिक अनुसंधान पर ज़ोर दे रही हैं। कुछ अवस्थाओं में तो कारण आर्थिक हैं। यदि अन्वेषक व्यावहारिक समस्याओं में लगे तो उसका जीवनस्तर बहुत ऊँचा उठ सकता है—या तो इसलिए कि वह औद्योगिक प्रयोगशाला में चला जाता है या वह सलाहकार बन जाता है और मोटी तनख्वाह पाता है। दूसरी अवस्थाओं में भी कारण आर्थिक हो सकता है, चाहे वह इतना व्यक्तिगत न हो। व्यावहारिक अनुसंधान की योजनाओं के लिए जितना बड़ा बजट मिलता है, विशुद्ध विज्ञान के विकास के लिए नहीं मिलता। धन सम्बन्धी प्रेरणाओं के अतिरिक्त और भी बहुत-से सूक्ष्म कारण हैं जो सार्वजनिक मत से उत्पन्न होते हैं। बहुत कम वैज्ञानिक ऐसे हुए हैं जिन्हें अपने परिश्रम के पुरस्कार की कोई परवा न हो। (खोज किसने पहले की, इस बारे में जो विवाद होते हैं वे ही इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं।) 20वीं शताब्दी के मध्य में, अमेरिका में कोई व्यक्ति अपना जीवन ऐसे वैज्ञानिक अनुसंधान में क्यों लगाए जो व्यावहारिक उपयोग के क्षेत्र से बहुत दूर हो? जनोपयोगी विज्ञान के लेखक उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं, इतना 'फुला देते हैं' कि वह स्वयं घबरा जाए, लेकिन सचाई यह है कि उसे अपने प्रयास में सफलता हुई या नहीं इसकी कोई परवाह नहीं करता।

साधारण व्यक्ति प्रायः यह भूल जाता है कि जो लोग व्यावहारिकता का विचार किए बिना विज्ञान के विकास में लगे हुए हैं, वह कितना बड़ा दाँव लगाये हुए हैं। उनकी सफलता या असफलता किसी नई धारणा के निर्माण या धारणापद्धति के विकास पर निर्भर है या फिर किसी ऐसी प्रायोगिक खोज पर निर्भर है जो व्यावहारिक नहीं धारणात्मक दृष्टि से लाभदायक हो। (व्यवहार से भिन्न) हमारे ज्ञान में अनुभववाद की मात्रा कम करने के इस महान् कार्य में प्रारम्भ बहुत-से लोग करते हैं, किन्तु ठहरते कम हैं। जिन लोगों ने इस प्रकार

कितना बड़ा जोखिम है और उस जोखिम का भावनात्मक प्रभाव क्या होता है। अतः विस्मय की बात नहीं कि पिछले दशक में हमने प्रतिभाशाली अन्वेषकों को वर्णपट्ट के एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर जाते देखा है। अचानक कुछ हाथ लगने की सम्भावना व्यावहारिक क्षेत्र में अधिक रहती है और वहाँ प्रसिद्धि के रूप में तात्कालिक फल भी बहुत शीघ्र मिलता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ अवस्थाओं में उपर्युक्त स्थानान्तर समाज के लिए लाभदायक होता है। हमें औद्योगिक क्रम तथा चिकित्सा-विज्ञानों के वर्णपट्ट के हर स्थान पर सर्वोत्तम व्यक्ति चाहिए। अनुसंधानकारी की शिक्षा ऐसी होती है कि प्रारम्भ में उसकी रुचि विशुद्ध विज्ञान की ओर ही रहेगी। परन्तु यदि यह सत्य है कि (जैसे इतिहास दिखाता है) मूल विचार सदा स्वतन्त्र और असम्बद्ध अन्वेषक ने दिए हैं तो अमेरिका में प्रचलित वर्तमान प्रवृत्ति अमेरिका में विज्ञान के भविष्य के लिए खतरनाक है। कहा जा सकता है कि योग्य व्यक्ति योजना से आबद्ध होते हुए भी जब कभी कोई नया मार्ग निकलता देखेगा तो शीघ्र ही दूसरे क्षेत्र में चला जाएगा। परन्तु इतिहास इसके विपरीत साक्षी देता है। एक ईमानदार और योग्य रसायनज्ञ का, जो एक सरकारी विभाग का अध्यक्ष था, उदाहरण सामने आता है जो विरल गैसों की खोज के कार्य को जारी नहीं रख सकता था। वह अन्वेषक क्यों नहीं बन सका, इस बारे में उसका अपना वक्तव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'आकस्मिक घटना का लाभ उद्युक्त मस्तिष्क ही उठा सकता है', परन्तु सामाजिक प्रभावों की जटिल क्रियाओं द्वारा उद्युक्त मस्तिष्क ही ऐसे मार्ग पर चलकर बड़ा दाँव लगा सकता है जिससे केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की ही वृद्धि होती हो।

विश्वविद्यालयों का कार्य

एक बात तो स्वीकार करनी ही चाहिए कि बहुत-से व्यक्ति अनुसंधान टीम में तो अच्छा काम कर सकते हैं किन्तु उनमें अग्रगामी होने के लिए आवश्यक गुण नहीं होते। कई वर्षों से बहुत-से असम्बद्ध अन्वेषक ऐसे हुए हैं जिन्होंने विज्ञान की कोई प्रगति नहीं की और सूचनाओं का ही संग्रह बढ़ाया है। इन लोगों के प्रयास यदि किसी सुव्यवस्थित योजना का भाग होते तो निस्सन्देह इनके प्रयत्न अधिक सफल होते। किन्तु यदि पचास वर्ष पहले विज्ञान अति-व्यक्तिवादी और अराजकतावादी था, तो आज खतरा दूसरी ओर से है। कुछ हद तक तो औद्योगिक प्रयोगशालाओं में ऐसे लोग समा सकते हैं जो सैद्धान्तिक

विज्ञान में कोई 'अनपेक्षित मोड़' पैदा कर दें। यही बात उन संस्थानों के लिए भी सही है जो विशाल योजनाएँ लेकर चलते हैं। किन्तु असम्बद्ध अन्वेषक का मुख्य स्थान विश्वविद्यालय है। इस मामले में स्पष्टतः मेरा तो पूर्वाग्रह हो सकता है, इसलिए मैं यहाँ औद्योगिक अनुसंधान के एक सफल निर्देशक डॉ० सी० ई० के० मीस का उदाहरण दूँगा। डा० मीस ईस्टमैन कोडक कम्पनी में अनुसंधान विभाग के उपाध्यक्ष थे। अपनी पुस्तक 'दी आर्गनाइजेशन ऑफ़ इण्डस्ट्रियल साइंटिफिक रिसर्च' (1950) में वैज्ञानिक ज्ञान की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है :

"मूल संस्थान, जिस पर और सभी कुछ निर्भर करता है, विश्वविद्यालय का विज्ञान विभाग है। इसका अन्य सभी संस्थानों से अन्तर यह है कि इसको बाहर से न कोई निर्देश मिलता है और न मिलना चाहिए और विषय चुनने में इसे पूर्ण स्वाधीनता होती है। विज्ञान को आगे बढ़ाने वाले नये विचार प्रायः विश्वविद्यालयों से ही अपेक्षित हैं, क्योंकि अन्य सभी संस्थानों में कुछ-न-कुछ पाबन्दी होती है और कार्य के लिए चुने हुए क्षेत्रों पर भी पाबन्दी शायद हमेशा रहेगी।"

विश्वविद्यालयों के योगदान सम्बन्धी इस स्पष्ट वक्तव्य के पूरक रूप में यह भी कहा जा सकता है कि लम्बी परम्परा के कारण विश्वविद्यालय का प्रोफेसर अपने विद्वत्-कार्य की सीमा में ही स्वतन्त्र होता है। जैसे ही वह स्थायी स्थिति प्राप्त कर लेता है वह ऐसे विद्वत्समूह का आजीवन सदस्य बन जाता है जिसका उद्देश्य पढ़ाना और ज्ञान का प्रसार करना है। उसका निश्चित कर्त्तव्य है कि वह पढ़ाने का अपना काम करे और नैतिक कर्त्तव्य है कि जैसा वह उचित समझे ज्ञान को आगे बढ़ाए। इसका अर्थ यह है कि यदि वह ऐसे उलझनपूर्ण क्षेत्र में जा पड़ता है जहाँ उसकी बुद्धि रुक जाती है और एक साल, दस साल या जीवन-भर तक आगे नहीं बढ़ पाता तो यह उसका व्यक्तिगत मामला है। उसके अन्य सहयोगी इस बात पर खेद प्रकट करेंगे कि वह कुछ कर नहीं पा रहा, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ नहीं किया जा सकता और न ही कुछ करना चाहिए। उसका दायित्व, वास्तविक और नैतिक, दोहरा होने के कारण वह अध्यापन में ही सफल होकर सन्तोष कर सकता है। बहुत-से असफल (या अभागे) अन्वेषकों ने इसी प्रकार सन्तोष किया है। यह सम्भव है, इसी कारण विश्वविद्यालय अभी भी ऐसे केन्द्र हैं जहाँ केवल विशुद्ध विज्ञान में रुचि रखनेवाला व्यक्ति अपने जीवन के लिए कुछ-न-कुछ सन्तोष पा सकता है।

ये बातें विश्वविद्यालय के सभी स्थायी अध्यापकों पर लागू होती हैं। किन्तु

इन अन्वेषकों पर भी दबाव पड़ सकता है और उनका अन्वेषण कार्य रुक सकता है। मूल्यवान उपकरणों और बहुत-से सहायकों की आवश्यकता उत्पन्न होते ही अन्वेषण कार्य शिथिल हो जाता है। यह धन चाहे स्वयं विश्वविद्यालय से आए चाहे बाहर से किसी सरकारी या ग़ैर-सरकारी स्रोत से अनुदान के रूप में आए, इसका सम्बन्ध प्रायः प्रोफेसर द्वारा प्रस्तुत 'योजना' से होता है। उसको योजना के अनुसार काम करना पड़ता है और परिणाम भी दिखलाने पड़ते हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध और दबाव अनिवार्यतः बुरे नहीं होते, परन्तु उससे वैज्ञानिक की स्वतन्त्रता अवश्य सीमित हो जाती है। ये उसको व्यावहारिक अनुसंधान की ओर प्रेरित कर भी सकते हैं और नहीं भी। प्रायः ये करते ही हैं। इसको प्रमाणित करने के लिए बहुत-से उदाहरण दिए जा सकते हैं। ध्यान देने की बात है कि ज्योतिषियों ने बहुत वर्ष पहले ही सामूहिक अनुसंधान का रास्ता ढूंढ़ लिया था और उस क्षेत्र में अन्वेषक बिना किसी दबाव के मूल्यवान उपकरणों का प्रयोग कर सकता है। किन्तु वहाँ व्यावहारिक अनुसंधान के लिए कोई दबाव नहीं है।

उपर्युक्त चर्चा का यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वविद्यालय के कार्य को अधिकतम आकर्षक बनाना चाहिए। उत्साही वैज्ञानिक के लिए इसका अर्थ यह है कि उसको अपनी इच्छानुसार वैज्ञानिक कार्य करने की पूरी सुविधाएँ हों। उसकी योजना में अधिकतम स्वतन्त्रता होनी चाहिए और सुनिश्चित योजना के अनुसार चलने का दायित्व कम-से-कम होना चाहिए। सहायता-धन योजना के लिए नहीं, व्यक्ति के लिए स्वीकृत होना चाहिए। अनुसन्धान के लिए धन पर जिन लोगों का नियन्त्रण है उनसे कहना चाहिए, "'योजना' को नहीं प्रस्तावित अन्वेषक को जाँचो। विषय पर नहीं, व्यक्ति पर दाँव लगाओ। और सफल जुआरियों की भाँति तगड़े दाँव लगाओ। अपना रुपया थोड़ा-थोड़ा विभिन्न स्थानों पर न बिखेरो।"

मुझे ऐसा लगता है कि संगठित योजनाबद्ध अनुसन्धान की प्रवृत्ति बहुत बढ़नेवाली है। जो लोग यह समझते हैं कि बिना नियन्त्रण धन बहाने से विज्ञान में 'धोखाधड़ी' शुरू हो जाएगी, उनको यह याद रखना चाहिए कि उद्योग की भाँति विज्ञान में भी स्वस्थ प्रतियोगिता इन बुराइयों को दूर करेगी। अनुसन्धान चाहे सैद्धान्तिक हो चाहे व्यावहारिक, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बहुत-से सुदृढ़ केन्द्र होने चाहिए (चिकित्सा-विद्यालय, अस्पताल, विश्वविद्यालय की प्रयोगशालाएँ, अनुसन्धान संस्थान और प्रयोग केन्द्र)। प्रबन्ध अच्छा हो तो

इनमें से प्रत्येक केन्द्र प्रयास करेगा कि दायित्व और नेतृत्व के स्थानों पर सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न अन्वेषक लाए जाएँ। यदि यह भावना रहे तो बाहर से इन केन्द्रों में आनेवाला धन व्यक्तियों के लिए आएगा, योजनाओं के लिए नहीं। कम-से-कम रसायन, भौतिकी तथा प्राणि-विज्ञानों में तो अधिकाधिक दानी संस्थान यही नीति अपना रहे हैं। इसमें वह ज्ञात या अज्ञात रूप से जर्मनी की उस नीति का अनुसरण कर रहे हैं जो वहाँ के विज्ञान के स्वर्णयुग (1850-1933) में अपनाई गई थी। एक दजन से भी अधिक विश्वविद्यालयों में तीव्र विद्वत् प्रतियोगिता चलती थी। यह जर्मन राष्ट्र के विज्ञान में आगे बढ़ने का बड़ा कारण था। मैं जर्मन साम्राज्य की उच्च शिक्षा-पद्धति के दोषों से अनभिज्ञ नहीं परन्तु जहाँ तक ज्ञान की वृद्धि का सम्बन्ध है विचारधारा के लिए उपयुक्त वातावरण जैसा 19वीं शताब्दी में जर्मन-भाषी क्षेत्र में था वैसा कहीं नहीं है।

अधिक विज्ञान क्यों ?

अमेरिका की जनता प्राय: इस बात पर विश्वास करती है कि उद्योग, चिकित्सा के विकास या युद्ध की तैयारी के लिए अनुसंधान पर खूब खर्च होना चाहिए। (युद्ध के बारे में अगले अध्याय में बताया जाएगा।) किन्तु जो लोग ग़ैर-सरकारी दान या सरकारी सहायता-धन पर नियन्त्रण करते हैं वे या तो विशुद्ध विज्ञान पर खर्च करने में हिचकिचाते हैं या विशुद्ध और व्यावहारिक विज्ञानों में भेद नहीं कर पाते। इस उलझन के कारण पहले ही बताये जा चुके हैं। वे आधुनिक उद्योग में विज्ञान और आविष्कार के मिश्रण से जन्मे हैं।

स्वतन्त्र समाज द्वारा वैज्ञानिक अनुसन्धान की सहायता के पक्ष में कई प्रकार के तर्क दिए जाते हैं। वैज्ञानिक स्वयं यह तर्क प्रस्तुत करने में प्रवृत्त हैं कि सभ्य राष्ट्र विद्वानों का वैसे ही संरक्षण करना चाहेंगे जैसे पुनर्जागरण काल के राजे-महाराजे कलाकारों और लेखकों का संरक्षण करते थे। इस प्रकार के तर्क में 17वीं और 18वीं शताब्दियों के अव्यवसायी वैज्ञानिकों की भावना काम करती है और कभी तो यह 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त के निकट आ जाती है। कुछ लोगों के लिए, अन्वेषक के रूप में सफलता से कार्य करने के लिए शायद इस प्रकार के विश्वास अनिवार्य हैं। इस विवाद में मैं नकारात्मक पक्ष नहीं लेना चाहूँगा। हो सकता है कि समाज विशुद्ध विज्ञान के विकास-मात्र के लिए कार्य करने वालों को सहन कर ले या उनकी प्रशंसा करे, किन्तु विशुद्ध अनु-

संधान के कुछ पक्षों के लिए जितने धन की अब आवश्यकता पड़ती है वह प्रदान करना सर्वथा भिन्न बात है ।

पिछले सौ वर्षों का इतिहास ऐसे नागरिक को बहुत पसन्द आनेवाले तर्क प्रस्तुत करता है, जो सब प्रकार के व्यय के प्रति सतर्क दृष्टिकोण रखता है । बात स्पष्ट है । जो लोग केवल विज्ञान के विकास में रुचि रखते थे, उनके परिश्रम के परिणामस्वरूप ऐसे विचार, शोध और नये उपकरण उत्पन्न हुए हैं, जिनसे नये उद्योग उत्पन्न हुए हैं और पुरानों में परिवर्तन हुए है । इस पुस्तक में प्रयुक्त शब्दावली के अनुसार कहा जा सकता है कि विशुद्ध विज्ञान में भी अनुभववाद की मात्रा कम करने से प्रौद्योगिकी को लाभ हुआ है । जहाँ तक नई खोजों का सम्बन्ध है, इतना ही याद रखना काफी है कि विद्युत् उद्योग वैद्युत्-चुम्बकत्व प्रक्रिया पर आधारित है जो 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वैज्ञानिकों के प्रयोगों से ज्ञात हुई थी, किन्तु यहाँ पर भी विज्ञान के विकास के सिलसिले में हुई नई खोजों और नये आविष्कारों के बारे में जनता में भ्रम उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि आज आविष्कारक का स्थान व्यावहारिक अनुसन्धान प्रयोगशाला और इंजीनियरिंग विकास विभाग ने ले लिया है । व्यवहारिक अनुसन्धान के लिए धन ? बेशक, आलोचक कहेगा, परन्तु उन लोगों को धन क्यों दिया जाए जो विज्ञान का उपयोग उद्योग, चिकित्सा, कृषि या राष्ट्रीय प्रतिरक्षा किसी भी काम में नहीं करना चाहते ?

इसका उत्तर भी किसी उद्योग के तात्कालिक इतिहास में ही मिल सकता है। व्यावहारिक वैज्ञानिक बार-बार उन लोगों की खोजों और निष्कर्षों के आधार पर काम करता है जो केवल वैज्ञानिक विकास के लिए काम करते हैं । इसके अतिरिक्त व्यवहार के सीमित क्षेत्र में अनुभववाद की मात्रा कम करने के उसके प्रयास कुछ समय के पश्चात् विफल होने लगते हैं । अब नई धारणाओं और धारणापद्धतियों या नये उपकरणों और क्रियाविधियों की आवश्यकता पड़ती है । इनमें से 90 प्रतिशत उस प्रयोगशाला से निकलते हैं जिसमें केवल मूल विज्ञान पर काम होता है । इंजीनियर को व्यावहारिक वैज्ञानिक से सहायता माँगनी होगी, परन्तु यदि विशुद्ध विज्ञान की प्रगति रुक जाए तो व्यावहारिक वैज्ञानिक उसकी कोई सहायता न कर सकेगा । कारण, व्यावहारिक वैज्ञान की खुराक—नये विचार और नये प्रायोगिक निष्कर्ष—ही समाप्त हो जाएगी ।

मैकलारिन ने रेडियो उद्योग का जो वर्णन दिया है उससे पता चलता है कि वर्तमान शताब्दी के एक प्रमुख क्षेत्र में विज्ञान और प्रौद्योगिकी एक-दूसरे पर कैसे प्रभाव

डालते हैं। एफ० ए० हावर्ड ने तेल और संश्लेषित रबड़ उद्योग के विकास के बारे में जो पुस्तक (बूना रबर : दि वर्थ ऑफ़ ऐन इण्डस्ट्री) लिखी है, उसके प्रारम्भिक अध्यायों में यही कहानी है—अन्तर सिर्फ इतना है कि भौतिकी के स्थान पर रसायन मूल विज्ञान के रूप में उपस्थित है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं कि जर्मनी में जहाँ रसायन में अनुसंधान के लिए सबसे अधिक व्यक्तियों को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ, कोयले से संश्लिष्ट तेल और संश्लिष्ट रबड़ भी पहले-पहल वहीं बनाया जा सका। 1860 से लेकर दूसरे विश्वयुद्ध तक जर्मनी में विशुद्ध और व्यावहारिक रसायन-विज्ञान का विकास साथ-साथ हुआ। यदि अतीत के आधार पर भविष्य के लिए कोई पाठ ग्रहण किया जा सकता है तो यही कि यदि किसी राष्ट्र को प्रौद्योगिकी में अगुआ बनना हो तो उसे विशुद्ध विज्ञान में भी अगुआ बनना होगा। और अधिक विज्ञान क्यों ? इस प्रश्न का संक्षेप में यही प्रभावशाली उत्तर है।

अध्याय बारह

विज्ञान, आविष्कार और राज्य

उद्योग और चिकित्सा पर विज्ञान के प्रभाव ने इस शताब्दी की राजनीति पर बहुत गहरा असर डाला है। जो एक समय निजी संगठन का मामला था अब वह अधिकाधिक राज्य के हाथ में चला गया है। लोकतंत्रों में जनसाधारण विज्ञान और आविष्कार में अधिक रुचि दिखाने लगा है और सर्वाधिकारवादी राज्यों के कुछ शासक वैज्ञानिक अनुसंधान के महत्त्व को भलीभाँति पहचान गए हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के दिनों में अमेरिका में सरकारी एजेन्सियों ने अनुसंधान पर जो विशाल धनराशि खर्च की थी उससे एक ऐसी नीति चल पड़ी है जिससे प्रतीत होता है कि अमेरिका में क्रान्तिकारी परिवर्तन होंगे। युद्धकाल में इसका व्यय का औचित्य यह था कि सामरिक योजना को कार्यान्वित करना था (और यह हथियार बनाना मात्र नहीं था, क्योंकि सेना के लिए चिकित्सा-अनुसंधान का बहुत बड़ा महत्त्व था)। 1945 के उपरान्त करदाताओं का धन अनुसंधान और विकास पर इतने बड़े पैमाने पर खर्च किया जा रहा है जितना युद्ध से पूर्व कभी नहीं हुआ था। इसका अधिकांश भाग इंजीनियरिंग विकास या उत्पादन इंजीनियरिंग पर व्यय हुआ है। विश्वविद्यालयों तथा स्वतन्त्र अनुसंधानशालाओं में भी व्यावहारिक और मूलभूत अनुसंधान योजनाओं पर करोड़ों डालर व्यय किए जा रहे हैं। इस धनराशि पर नियन्त्रण करनेवाली सरकारी एजेन्सियों में से तीन का मुख्य महत्त्व है : नेशनल डिफेन्स एस्टेब्लिशमेंट (भूसेना, नौसेना, वायुसेना), एटामिक एनर्जी कमीशन और पब्लिक हैल्थ सर्विस। इनके साथ अब नेशनल साइंस फाउंडेशन का नाम भी लेना चाहिए, जो 1950 के वसंत में कांग्रेस के एक ऐक्ट द्वारा स्थापित की गई थी।

वर्तमान युग में सरकारी अधिकारी विज्ञान और उसके उपयोग के प्रति चिन्तित होने से बच नहीं सकते। सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी अध्ययन, चिकित्सा अनुसंधान और कृषि सम्बन्धी प्रयोगों को किसी-न-किसी तरह प्रोत्साहन दिया ही जाएगा। औद्योगिक क्षेत्र में व्यावहारिक अनुसंधान तथा इंजीनियरिंग विकास पर करदाताओं के धन का प्रयोग कहीं अधिक विवादास्पद है। जो राष्ट्र अपने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहता है, वह एक ढंग

से सोचेगा और जो राष्ट्र निजी व्यवसाय में विश्वास रखता है वह दूसरे ढंग से। यदि कोई स्वतन्त्र समाज अपने बहुत-से महत्त्वपूर्ण उद्योगों को सार्वजनिक नियन्त्रण के अधीन लाना चाहे, जैसाकि ग्रेट ब्रिटेन में प्रतीत होता है, तो इस निर्णय के अनुसार सरकार पर औद्योगिक अनुसंधान और विकास का काफी भार आ जाता है। कोई अमरीकी प्रेक्षक यह प्रश्न कर सकता है कि राष्ट्रीयकरण हो जाने पर प्रौद्योगिक प्रतियोगिता का समतुल्य क्या होगा? अत्यधिक समाजीकृत समाज में आविष्कार और नवीनीकरण करने के लिए क्या प्रेरणा या पुरस्कार होगा? ये बड़े रोचक प्रश्न हैं। इनसे सरकारी विभागों द्वारा व्यावहारिक अनुसंधान के नियन्त्रण से सम्बन्धित अन्य प्रश्न उत्पन्न होते हैं और अन्त में हम राज्य और उद्योग के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर पहुँच जाते हैं। मार्क्सवादी विज्ञान और समाज के भावी सम्बन्ध को एक विशेष रूप से देखता है और लाभ-हानि की अर्थ-व्यवस्था माननेवाले लोग दूसरे रूप में।

प्रतियोगितामूलक अवस्था के अन्तर्गत, जो औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ होने के पश्चात् पश्चिमी संसार में रही है, सरकार का काम यही रहा है कि कुछ नये अध्यवसायों को कुछ वर्षों के लिए पेटेंट प्रदान करके सुरक्षा दे। पेटेंटों के महत्त्व और पेटेंट व्यवस्था की निरन्तर कठिनाइयों से प्रौद्योगिक कांडों के विवरण के लिए बहुत-से विषय मिल सकते हैं। यह विवरण वाट और उसके इंजन के पेटेंट से प्रारम्भ किया जा सकता है, 19वीं शताब्दी के विभिन्न आविष्कारों से होते हुए 20वीं शताब्दी के दो मुख्य कांडों—रेडियो तथा संश्लेपित रबड़ उद्योगों—पर लाकर समाप्त किया जा सकता है। मुझे विश्वास है, यह वृत्तान्त प्रमाणित कर देगा कि पेटेंट व्यवस्था की समस्त कठिनाइयों और दोषों के बावजूद, पेटेंट का आधुनिक उद्योग के विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस बात पर किसी को आपत्ति नहीं कि इस व्यवस्था में सुधार होना चाहिए, किन्तु क्या सुधार हो इस बात पर सहमति प्राप्त करना कठिन है। और इस विषय पर कोई भी अच्छी सार्वजनिक बहस सम्बन्धित कानूनी उलझनों और प्रौद्योगिक सूचनाओं के ढेर में उलझकर रह जाती है।

मूलतः पेटेंट एक अतिसीमित एकाधिकार है जो किसी आविष्कारक को कुछ वर्षों के लिए प्रदान किया जाता है। इस प्रकार के एकाधिकार की सुरक्षा न मिलती तो बहुत-से आविष्कार कागजी-योजनाएँ-मात्र रह जाते। यदि आविष्कारक और प्रवर्त्तक दोनों को सरकारी सुरक्षा प्राप्त न होती तो आविष्कार को साकार रूप देने के लिए अनिवार्य धन कभी उपलब्ध न होता। ('प्रवर्त्तक'

मैकलारिन का शब्द है और उस व्यापारी के लिए प्रयुक्त होता है जो नये आविष्कार पर धन लगाता है।) सच तो यह है कि आज आविष्कार एक व्यक्ति का काम नहीं रहा, वरन् अनेक वैज्ञानिकों और इंजीनियरों के सामूहिक प्रयास का फल हो गया है। इसलिए सुरक्षा अब कम्पनी को प्रदान की जाती है, प्राचीन काल की तरह किसी एक व्यक्ति को नहीं। इस प्रकार की सुरक्षा के कुछ लाभ (तथा कुछ उलझनें) रेडियो तथा संश्लिष्ट रबड़ उद्योगों के विकास से स्पष्ट होते हैं। जो पाठक 20वीं शताब्दी में पेटेंट तथा पेटेंट सुरक्षा की उलझन-पूर्ण समस्याओं के अध्ययन में दिलचस्पी रखते हों उनको मैकलारिन और हावर्ड की पूर्वोक्त पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए।

जब पेटेंट प्रदान किया जाता है तो आविष्कार का विवरण सार्वजनिक रूप में घोषित कर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप पेटेंट पर बहुत-सा साहित्य पैदा हो गया है। किन्तु वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक संसार को इस प्रकार जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह बहुत महत्त्व का नहीं है। पेटेंट मामूली या गई-बीती चीज़ों से सम्बन्धित भी हो सकता है। उसका विवरण अपर्याप्त और कई बार जानबूझकर ग़लत हो सकता है। जिस प्रतिबन्ध और सन्तुलन के कारण वैज्ञानिक साहित्य विश्वसनीय है, वे पेटेंट पर लागू नहीं होते। रिपोर्ट करने के स्थायी मानदण्ड, सतर्क सम्पादन, वैज्ञानिक ख्याति का ध्यान—ये सभी बातें पेटेंट में अनुपस्थित हैं। कम-से-कम रसायन में कोई भी ऐसे 'तथ्य' पर ज़ोर नहीं देता जो पेटेंट पर आधारित हो। इस पर भी पेटेंट साहित्य का मूल्य है—कुछ क्षेत्रों में दूसरों से अधिक मूल्यवान है। व्यावहारिक उद्योग के क्षेत्र में काम करने वाला कोई भी व्यक्ति प्रकाशित पेटेंट के अनुसरण का प्रयत्न नहीं करता। संसार-भर में प्रकाशित होनेवाले पेटेंटों के आधार पर एक प्रकार की सार्व-जनिक प्रौद्योगिकी तैयार हो गई है (यद्यपि प्रक्रिया के कार्यान्वित होने के **पश्चात्** कम्पनियाँ जो रिपोर्टें तैयार करती हैं, उनसे पेटेंट के उलझन-भरे वृत्तान्तों की अपेक्षा बहुत अधिक ज्ञान उपलब्ध होता है)। किन्तु कोई भी कम्पनी समस्त तकनीकी बातों और 'ज्ञान' को प्रकाशित नहीं करती। बहुत-से औद्योगिक क्षेत्रों में गोपनीयता की दृढ़ परम्पराएँ हैं। परन्तु यदि पेटेंट व्यवस्था न हो तो कम्पनी को अपने अनुसंधान और विकास विभागों के आविष्कार की सुरक्षा के लिए अत्यधिक गोपनीयता से काम लेना पड़ेगा। स्पष्ट है कि इससे सर्वसाधारण को कष्ट होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोपनीयता वैज्ञानिक विकास के साथ मूलतः असंगत है और आज प्रौद्योगिक विकास का विज्ञान से

घनिष्ठ सम्बन्ध है।

संगठित समाज अब तक पेटेंट व्यवस्था का प्रयोग औद्योगिक प्रवर्त्तनों को प्रोत्साहित करने के लिए करता रहा है। व्यावहारिक विज्ञान को विकसित करने के लिए आधुनिक राज्य के और क्या-क्या दायित्व हैं ? जैसे सौर-शक्ति का उपयोग या धरती के अन्दर कोयले से गैस बनाना या उद्योग में परमाणु-शक्ति का उपयोग आदि योजनाओं में राज्य पर्याप्त मदद कर सकते हैं, चाहे वे उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के कितने ही विरुद्ध क्यों न हों। लेकिन यहाँ भी अनुसंधान और विकास के कार्यक्रम को कितनी सहायता दी जाए और उन पर किस प्रकार का नियन्त्रण किया जाए जैसे प्रश्नों पर अन्तहीन बहस की जा सकती है। और इस बहस में दीर्घ-प्रभावी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विचार भी आएँगे। अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है कि अनुसंधान और विकास पर जो व्यय होता है उसके औचित्य का निर्णय अन्तिम लक्ष्य को दृष्टि में रखने पर ही हो सकता है। यह राष्ट्रों के बारे में भी उतना ही सही है जितना व्यापार-संस्थानों के बारे में। तो फिर यदि हम निःशस्त्रीकरण और शान्ति के युग में रहते हों तो औद्योगिक अनुसंधान के लिए सरकारी सहायता अमेरिका में बड़े विवाद का विषय बन जाएगी। आज के कठिन युग में ये प्रश्न गौण हैं। इस समय प्रमुख महत्त्व की बात प्रभावकारी और शीघ्र शस्त्रीकरण है। जब तक संसार दो शस्त्रबद्ध गुटों में बंटा रहेगा, तब तक सरकार की नीति के बारे में निर्णय प्रमुखतः अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के आधार पर करना होगा।

हो सकता है कि इन शब्दों के प्रकाशित होने तक हम तृतीय विश्वयुद्ध में फँस जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो आगे जो कुछ लिखा जा रहा है, असंगत हो जाएगा।[1] परन्तु यदि इसके विपरीत, जैसाकि मुझे प्रतीत होता है, सोवियत संघ और अमेरिका के बीच नाम की शान्ति बनी रही, तो हमें कई वर्षों तक स्वतन्त्र संसार को हथियारबन्द किए रखने की आवश्यकता पड़ेगी। जब हम इतने हथियारबन्द हो जाएँगे कि पश्चिमी यूरोप का सुरक्षा-प्रबन्ध सन्तोष-जनक हो, तब भी राष्ट्रीय सुरक्षा पर व्यय बन्द नहीं होगा। हमें बड़े पैमाने पर व्यय करना होगा और इसमें से बहुत-सा नये साज-सामान पर व्यय होगा। इस शताब्दी में युद्ध सम्बन्धी प्रौद्योगिक परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से होते

[1] तृतीय विश्वयुद्ध अभी तक नहीं हुआ। पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।—अनुवादक

हैं और हथियार शीघ्र ही पुराने पड़ जाते हैं। इसलिए विज्ञान और आविष्कार में सरकार के योगदान पर बहस करते समय हमें युग के दुःखद तनाव के सामने झुकना ही पड़ेगा, अमरीकी जनता को परम्परागत शान्तिपूर्ण प्रवृत्ति को बदलकर सैनिक आवश्यकताओं के अनुसार विश्लेपण प्रारम्भ करना होगा।

विज्ञान और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा

दूसरे विश्वयुद्ध की चर्चा से वात शुरू की जाए। संघर्प जव चरम सीमा पर था तो प्रयोगशाला से युद्धक्षेत्र तक का निरन्तर क्रम स्पष्ट दिखाई देता था। इस क्रम की वहुत-सी कड़ियाँ वैसी ही थीं जैसी हमने औद्योगिक अनुसंधान का वर्णन करते समय देखी थीं—व्यावहारिक अनुसंधान, इंजीनियरिंग का विकास, उत्पादन इंजीनियरिंग और सर्विस इंजीनियरिंग। किन्तु विक्रय विभाग तथा शान्तिमय उपभोक्ता के स्थान पर युद्ध में व्यस्त भूसेना, नौसेना और वायुसेना को रखना होगा। इस पुस्तक के लिखे जाते समय तक क्रम एक विशेप युद्धक्षेत्र (कोरिया) तथा वायु, धरती और समुद्र के अन्य ऐसे क्षत्रों तक पहुँचता है जो युद्धक्षेत्र वन सकते हैं। आज वाशिंगटन में वैठे हुए निर्णय लेनेवाले लोगों के सामने जो समस्याएँ हैं वह वास्तविक नहीं सम्भावित युद्धक्षेत्रों से सम्वन्धित हैं।

उद्योग अपनी उपज को निरन्तर वेचता रहता है, उपभोक्ताओं से निरन्तर सूचना पाता रहता है और इस सूचना के अनुसार अपनी उपज और इंजीनियरिंग को वदलता रहता है तथा कई वार अनुसंधान का लक्ष्य भी वदल दिया जाता है। जव युद्धक्षेत्र वास्तविक होते हैं तो सरकारों को मोर्चे की आवश्यकताओं के वारे में सूचना मिलती रहती है जिसके आधार पर योजनाएँ वनाई जाती हैं। किन्तु जव अनेक युद्धक्षेत्र केवल कागज पर हों तो नियन्त्रणकारियों को कल्पना से ही अनुमान लगाना पड़ता है कि उनके हथियारों का प्रदर्शन कैसा होगा? क्षेत्र परीक्षणों तथा विभिन्न सिद्धि उपकरणों से कुछ पता तो लग सकता है, किन्तु मुझे विश्वास है कि कोई सैनिक इस वात का विरोध नहीं करेगा कि 'असली वात युद्ध से ही मालूम होती है'।

आधुनिक युद्ध में कोई विशेप प्रकार का युद्धक्षेत्र नहीं जिसकी कल्पना की जा सके। न ही शत्रु के हथियार सदा एक-से रहते हैं। कोरिया के अनुभव से यह वात भलीभाँति अमेरिकन जनता की समझ में आ गई है। आनेवाले समय में यदि हमें अपनी सेना को किसी अन्य स्थान पर लगाना पड़े तो यह

सोचना होगा कि उन्हें किन परिस्थितियों में लड़ना होगा और शत्रु की प्रौद्योगिक अवस्था कैसी होगी। यदि विश्वयुद्ध होता है और हमें विश्वव्यापी युद्ध में भाग लेना पड़ता है, तो युद्धक्षेत्र कहाँ होंगे और सोवियत संघ के नये सुधारे हुए शस्त्र कितने प्रभावशाली होंगे ? प्रौद्योगिकी सम्बन्धी इन अज्ञात बातों के कारण उन लोगों की समस्या और-भी उलझ जाती है जिनको अपेक्षाकृत शान्ति के समय में भी युद्ध की योजना बनानी होती है। उपस्थित शस्त्र एक बात हैं, उत्पादन की अवस्था में दूसरे हैं, तीसरे वे हैं, जो इंजीनियरिंग विकास की अवस्था में हैं। इनसे भी दूर वे हैं जिनके रेखाचित्र बन रहे हैं। इसके परे हैं प्रयोगशाला के अन्दर की गई क्रान्तिकारी खोजें। इन सभी बातों के कारण सैनिक योजनाकार कठिनाई में पड़ते हैं। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि गोपनीयता के परदे के पीछे सम्भावित शत्रु का अपना विज्ञान और प्रौद्योगिकी का एक क्रम है। कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि विचाराधीन शस्त्रों के एक 'सेट' का एक दूसरे 'सेट' के मुकाबले में प्रदर्शन कैसा होगा।

इस बात पर इससे अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं। वान्नेवार बुश ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "माडर्न आर्म्स एंड फ्री मैन" (1949) में शस्त्रों और सामरिक कार्यों को प्रभावित करनेवाले प्रौद्योगिक विकास के भविष्य का वर्णन किया है। यहाँ पर मैं संगठन और प्रबन्ध की समस्याओं पर ही विचार कर रहा हूँ। इससे प्रौद्योगिकी नहीं राजनीति का वृहद् अर्थों में सम्बन्ध है। मूल समस्याएँ उतनी ही पुरानी हैं जितना मानव का समाज को संगठित करने का प्रयास। बहुत-से निश्चित प्रश्न इस देश का अध्ययन करनेवाले राजनीतिक विचारक उस समय से पूछते आए हैं जब से यहाँ गणतन्त्र की स्थापना हुई है। केन्द्रीकृत सत्ता से घबराने वाले लोगों द्वारा स्थापित प्रतिबन्ध और सन्तुलन के समन्वय, ग्रेट ब्रिटेन से क्रमशः लाई गई संसदीय प्रथा और आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं के मिलन से एक ऐसी संघीय सरकार बन गई है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वाशिंगटन में आनेवाले लोगों को कई बार ऐसा लगता है कि यह पागलखाना है। तो भी यह काम करता है, विशेपकर कठिनाई के समय में, और ऐसा काम करता है कि शासन व्यवस्थाओं के विश्लेषकों की सभी भविष्यवाणियाँ ग़लत हो जाती हैं। किन्तु दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् नई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं जिनके लिए अभी तक कोई पर्याप्त राजनीतिक उपकरण विकसित नहीं हुए। ऐसी कोई प्रथाएँ या परम्पराएँ नहीं हैं जो अमेरिका में योद्धाओं के लिए नये हथियार और साज-सामान बनाने

के लिए अनुसन्धान के नियन्त्रण में अधिकारी वर्ग के लिए सहायक सिद्ध हों।

शस्त्रोत्पादन के लिए होनेवाले अनुसंधान के मूल्यांकन की समस्या

प्रगतिशील औद्योगिक कम्पनी के प्रबन्धकों को, जिन्होंने अनुसंधान और विकास के लिए बहुत-सा धन लगा रखा हो, वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक वातों के बारे में निरन्तर महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं। उत्तरदायित्वपूर्ण लोगों को प्राथमिकताएँ निश्चित करनी होती हैं। उनमें साहस होना चाहिए कि कार्य का एक तरीका छोड़कर दूसरा प्रारम्भ करें, एक प्रारम्भिक प्लांट को हटाकर दूसरा बनाएँ। अनेक वर्षों के दौरान विशाल कम्पनियों ने ऐसे लोग पैदा किए हैं जो भविष्य के बारे में चातुर्यपूर्ण अनुमान लगा और दृढ़ निर्णय कर सकते हैं। संघीय सरकार में आज इस प्रकार का कोई मानवीय संगठन नहीं है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि तकनीकी सूचना का मूल्यांकन करने के लिए कोई परम्परा नहीं है। हमारी सामरिक शक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय ऐसे सामाजिक दबावों के अधीन होकर किए गए हैं जिनके साथ औद्योगिक कार्यकारी का वास्ता तक नहीं पड़ता। राजनीतिक शक्तियाँ (मेरा अभिप्राय दलगत राजनीति नहीं है) लोकतन्त्रीय शासन में उतनी ही अनिवार्य हैं, जितना अनिवार्य धरती का गुरुत्व। इसलिए किसी उद्योग की क्रिया-प्रणाली को लागू करने के लिए सरकारी एजेन्सियों में गम्भीर परिवर्तन की आवश्यकता है। कांग्रेस धन पर नियन्त्रण करती है। कांग्रेस की अनुमति के अन्तर्गत कार्यकारी एक लम्बे क्रम द्वारा तात्कालिक निर्णयों पर नियन्त्रण करता है। समाचारपत्रों में (जान-बूझकर या अचानक) 'निकले हुए' समाचारों से जनमत इतना उग्र बन सकता है कि बहुत-से अन्यथा आकर्षक विकल्प छोड़ देने पड़ते हैं। ये सब हमारे स्वतन्त्र समाज के प्रतिफल हैं। इसलिए यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि यदि हमें बहुत समय तक शस्त्रों और सेनाओं पर भारी रकम लगानी है तो अनुसंधान और विकास के मूल्यांकन की विधि को बदल दें। हमें दीर्घकालीन सामरिक योजनाओं के प्रौद्योगिक पक्ष पर नियन्त्रण के लिए स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित करनी होंगी।

पूर्वोक्त कथन का आशय 'एटामिक एनर्जी कमीशन' या 'डिफेंस एस्टेब्लिशमेंट' के 'रिसर्च एण्ड डिवेलपमेंट बोर्ड' के भूतकालीन या वर्तमान प्रबन्ध की किसी प्रकार की आलोचना नहीं। संघीय एजेन्सियों तथा युद्ध से जो रूपरेखा मिली है उसके अन्तर्गत इनमें काम करनेवाले लोग आशा से अधिक सफल रहे हैं।

किन्तु सामरिक साजो-सामान के हमारे विकास का अध्ययन करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि हम सामरिक योजना के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान के मूल्यांकन के तरीकों में बहुत सुधार कर सकते थे। सबसे अधिक, थोड़े में बहुत करने की अपेक्षा दृढ़ तकनीकी निर्णय स्थापित करने की आवश्यकता है। राजनीतिक शक्तियाँ लगभग प्रत्येक स्तर पर समन्वयवादी नीति अपनाने पर मजबूर करती हैं। नीति निर्धारित करनेवाले लोग वैज्ञानिक तथा इंजीनियरिंग बातों पर बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय तब तक नहीं दे सकते, जब तक वे बाहर के विशेषज्ञों और स्वार्थी दलों के प्रभाव से सुरक्षित नहीं होंगे।

शासन के अन्तर्गत अनुसंधान और विकास कार्य के पुनर्संगठन के किसी बड़े परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। सच तो यह है कि कुछ क्षेत्रों में और अच्छा प्रबन्ध हो सकता है, किन्तु नई संगठन योजनाएँ बनाने और अधिकार चलाने के तरीके बदलने से काम की गति धीमी हो जाती है और यह समय ऐसा नहीं जिसमें विलम्ब किया जा सके। मैं तो यह कह रहा हूँ कि राजनीतिज्ञों, अधिकारियों और सेनाधिकारियों को शस्त्रोत्पादन के साथ अनुसंधान और विकास के सम्बन्ध के प्रति अपना रवैया बदलना पड़ेगा। इस समय जो लोग दायित्वपूर्ण पदों, ऊँचे या नीचे पर हैं, उनके पास अधिक वास्तविक अधिकार होने चाहिएं और उन पर बाहरी शक्तियों का दबाव भी बहुत कम होना चाहिए।

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस सारे क्षेत्र में अर्द्ध-न्यायिक जाँच की परम्परा के तत्काल विकास की आवश्यकता है। जब कोई प्रश्न निर्णय के लिए आता है, चाहे ऊपर के पद से तीन-चार सीढ़ियाँ नीचे ही आया हो, उसके पक्ष और विपक्ष में दलीलें एक या अधिक पंचों को सुननी चाहिएँ। यदि कोई भी विरोधी पक्ष न हो तो किसी तकनीकी विशेषज्ञ को नियुक्त करना चाहिए जो करदाता की ओर से प्रस्तावित अनुसंधान या विकास के विपक्ष में दलीलें प्रस्तुत करे। तत्पश्चात् दो या अधिक पक्षों की दलीलों का सार तैयार करना चाहिए (जो समझौता कमेटी की रिपोर्ट न हो)। विरोधी सार, दलीलों और प्रश्नोत्तरों से समस्या के विभिन्न पक्ष और गवाहों के बहुत-से पूर्वाग्रह सामने आ जाएँगे। इसके पश्चात् पंच लोग अपने निष्कर्ष उन लोगों के सामने रख सकते हैं जिनके ऊपर निर्णय करने का दायित्व है और वे लोग पर्याप्त प्रलेखों और प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट उत्तर दे पाएँगे। ऐसे निर्णय जब ऊपर के अफ-

सरों के पास जाएँगे तो विना पर्याप्त कारण वदले नहीं जा सकेंगे। पक्ष और विपक्ष के तर्क-सार सामने होंगे जिनसे पता लगेगा कि सभी पहलुओं पर विचार किया जा चुका है।

विज्ञान के बारे में तो कहा जा सकता है कि इसका सम्वन्ध शुद्ध भविष्य-वाणियों के साथ है, किन्तु व्यावहारिक विज्ञान के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसमें मानव के निर्णय शामिल हैं जिसमें ग़लती हो सकती है। तकनीकी निर्णय ऐसे होते हैं जिनमें सम्भावनाएँ समझ ली जाती हैं और पूर्वाग्रह निकाल दिए जाते हैं। इसलिए यदि अर्द्ध-न्यायिक कार्यविधि स्थापित हो जाए तो कमज़ोर समन्वयवादी निर्णय नहीं लिए जाएँगे। इस समय विशेषज्ञों के सम्भावनाओं सम्वन्धी विरोध को "मतभेद तोड़कर" दूर कर दिया जाता है। इसलिए दो विरोधी मतों में से किसी एक को भी पूरी सहायता नहीं मिलती।

अव तक जो कुछ मैंने लिखा है मैं उसमें अपनी एक रुचि को व्यक्त करने का अपराधी हूँ—यह रुचि है सरकार के तकनीकी कार्यक्रमों में अर्द्ध-न्यायिक विचार प्रथा की परम्परा को लाने की आवश्यकता। इस सुझाव के गुण-दोष को अलग रख दिया जाए, तो भी जो प्रश्न उठाए गए हैं उनसे यह बात तो सामने आती ही है कि अमेरिका का प्रत्येक नागरिक एक विशाल नये अध्यव-साय में किस सीमा तक भागीदार है। उसकी सरकार अनुसंधान और विकास के कार्य में उस स्तर तक पहुँच चुकी है जहाँ पहले कभी नहीं पहुँची थी (सिवाय उस समय के जव दूसरे विश्वयुद्ध में वाकई भाग लेना पड़ा था)। यह काम किस प्रकार होता है इससे ऐसे परिणाम पैदा हो सकते हैं जिस पर सम्भव है हमारा जीवित रहना निर्भर हो। विपुल धनराशि के अपव्यय से हमारे आर्थिक ढाँचे में दुर्वलता आ सकती है। दूसरी ओर यदि कुछ क्षेत्रों की सहायता न की जाए तो शस्त्रीकरण की दौड़ में हमारे पीछे रह जाने का भय है। विशुद्ध विज्ञान से लेकर (वास्तविक या सम्भावित) युद्धक्षेत्र तक जो सारा क्रम चलता है वह अमरीकी मतदाताओं के प्रतिनिधियों का उत्तरदायित्व है। इस क्रम की सारी कड़ियों को यदि प्रभावकारी होना है (विशेषकर कठिनाई के समय में), तो इसके लिए सुलझी हुई आलोचना और समझदार जनमत की आवश्य-कता है।

मूलभूत अनुसंधान के लिए संघीय धन

अव क्रम के दूसरे सिरे—मूलभूत अनुसंधान—पर विचार किया जाए।

ऐसा करते समय सबसे पहले तो आधुनिक उद्योग में विशुद्ध विज्ञान के योगदान को याद करना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि दीर्घकालीन प्रतिरक्षा योजना के लिए विज्ञान के विकास का आधारभूत महत्त्व है। इसलिए अमेरिकी जनता के सरकारी प्रतिनिधियों को मूलभूत अनुसंधान पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए और विज्ञान के विकास को प्रोत्साहन देने के लिए उपाय सोचने चाहिए। ऐसा करते समय उनको यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि इसका प्रभाव उल्टा न हो और इसके परिणामस्वरूप मौलिक व्यक्तियों की सृजनात्मक प्रवृत्ति प्रोत्साहित होने की बजाय रुक न जाए। यदि, जैसा मैं समझता हूँ, निष्पक्ष अन्वेषक केन्द्रीय महत्त्व का व्यक्ति है तो ध्यान उसी पर केन्द्रित होना चाहिए। मूलभूत अनुसंधान पर धन व्यय होगा, और इसके लिए आवश्यक है कि, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, व्यक्तियों को सहायता दी जाए योजनाओं को नहीं। आशा की जा सकती है कि हाल में स्थापित नेशनल साइंस फाउंडेशन की नीति ऐसी ही होगी। किन्तु ऐसी नीति निर्धारित करना आसान और चलाना कठिन है, विशेषकर तनाव और शस्त्रीकरण के काल में, क्योंकि लगभग सभी राजनीतिक और सामाजिक शक्तियाँ इसके विपरीत जाती हैं। अगले दशक में सरकारी प्रयोगशालाओं, उद्योग और विश्वविद्यालयों में ठेके पर व्यावहारिक अनुसंधान और विकास पर खूब धन लगाया जाएगा। यह बात निश्चित है। किन्तु यह सन्देहात्मक बात है कि इससे मूलभूत अनुसंधान की भी प्रगति होगी या नहीं। लेकिन शस्त्रपूर्ण युद्ध-विराम के समय में भी विशुद्ध विज्ञान के महत्त्व को समझने पर ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं।

मैं इस बात से सहमत हूँ कि करदाता को विज्ञान के विकास में हाथ बँटाना चाहिए। किन्तु यदि विज्ञान के विकास के लिए एकमात्र सहायता संघीय धन ही रह गया तो तबाही हो जाएगी। अनुसंधान के लिए सुरक्षित धन के अन्य स्रोतों का नियन्त्रण करनेवालों ने यदि 'प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र को अंकिल साम के लिए छोड़कर उसमें से निकल आने का निश्चय कर लिया' तो यह बुद्धिमत्ता की बात नहीं होगी। विगत दशक का अनुभव बतलाता है कि निजी दान से उन क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सकता है जहाँ सरकारी धन पानी की तरह बहता है। कैन्सर अनुसंधान इसका अच्छा उदाहरण है। ऐसी स्वतन्त्र एजेन्सियाँ, जिनके पास धन है, उन अन्वेषकों के लिए आवश्यक और धन दे सकती हैं जिनको मुख्यतः वाशिंगटन से सहायता मिलती

निर्णयों से सरकारी नीति पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिगत निधियों के अधिकारी और संरक्षक कभी-कभी उन सरकारी अधिकारियों का नेतृत्व कर सकते हैं, जो घटिया राजनीतिक शक्तियों के दवाव में होते हैं, और इस प्रकार संघीय धन के उचित उपयोग में सहायक हो सकते हैं। निष्पक्ष वैज्ञानिक अन्वेषक का भविष्य तभी सुरक्षित है जब उसके सामने सहायता के कई मार्ग खुले हों। अमेरिकी कांग्रेस में वोट द्वारा स्वीकृत धन उनमें से केवल एक होना चाहिए।

विज्ञान और राजनीति

शासन के योगदान के बारे में अब तक जो चर्चा हुई है उसमें मैंने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास में समाज की दिलचस्पी के दो ही पहलुओं का जिक्र किया है: एक तो युद्ध के लिए शस्त्रों का उत्पादन और दूसरे अमेरिका में प्राकृतिक विज्ञानों में अनुसन्धान का विकास। जो कुछ छोड़ दिया गया है उसके कारण हैं युग की प्रवृत्ति और लेखक के आर्थिक एवं राजनीतिक पूर्वाग्रह। यदि कुछ शान्ति का समय होता तो उन अनुसन्धान योजनाओं का उल्लेख भी उचित होता जो संघीय सरकार अपनी सहायता से अपनी प्रयोगशालाओं में गैर-सामरिक उद्देश्यों से चलाती है। पिछले पचास वर्षों में कृषि अनुसन्धान के सिलसिले में जो कार्य हुआ है उसकी चर्चा की जा सकती है। इसी प्रकार ब्यूरो ऑफ स्टैंडर्ड्स, जियोलोजीकल सर्वे तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा की हाल ही में विस्तृत सेवाओं का उल्लेख किया जा सकता है। संघीय सरकार की इन सभी शाखाओं की ये कार्यवाहियां समस्त राष्ट्र के लिए सीधे तौर पर लाभकारी हैं और इनको राज्य या स्वतन्त्र एजेन्सियाँ ठीक प्रकार से नहीं चला सकते। इस सीमा तक इनको सभी नागरिकों की सहायता मिलनी चाहिए। किन्तु मैं यह कहूँगा कि पिछले दस वर्षों में जिस प्रकार सरकारी प्रयोगशालाओं का विकास हुआ है, उसकी बुद्धिमत्ता पर मुझे सन्देह है। मैं जानना चाहूँगा कि क्या कोई भी उदाहरण यह प्रमाणित करता है कि सरकारी प्रयोगशाला मूलभूत अनुसन्धान के लिए उचित स्थान है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास से सम्बन्धित व्यावहारिक अनुसन्धान का विकास स्वयं उद्योग भलीभाँति कर सकता है।

इसके अतिरिक्त मैंने सामाजिक विज्ञानों की चर्चा भी अभी तक नहीं की। भौतिक तथा प्राणि विज्ञानों को सरकारी सहायता की माँग राष्ट्रीय सुरक्षा और उद्योग तथा चिकित्सा पर विज्ञान के प्रभाव के दृष्टिकोण से की गई है।

मनोविज्ञान, समाज विज्ञान और नृतत्व विज्ञान के बारे में क्या विचार है ? क्या इन अध्ययन क्षेत्रों का विकास उतना ही महत्त्वपूर्ण नहीं ? कुछ लोगों का विचार है कि इसका महत्त्व और भी अधिक है क्योंकि प्रौद्योगिक विकास ने सामाजिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अतः सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन पर अधिक प्रतिभा और शक्ति लगनी चाहिए। इस बात से कोई भी इन्कार नहीं करेगा कि इस देश में जो समाज विकसित हुआ है वह अपूर्व है। यह कई तरह से तो अन्य लोकतन्त्रों के समान है परन्तु हमारे कुछ आदर्श हमारे अतीत की देन हैं। हमारी राष्ट्रीय एकता इस बात पर निर्भर करती है कि हम सभी इन आदर्शों को स्वीकार करें और इनमें निहित सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रयास करें। यह आसान बात नहीं है, क्योंकि आधुनिक समाज की उलझनें बहुत अधिक हैं। अतः यह प्रश्न तुरन्त उठता है कि क्या सुयोग्य विद्वानों द्वारा मनुष्य और समाज के अध्ययन से व्यावहारिक रूप से लाभकारी ज्ञान उपलब्ध हो सकता है ? क्या राजनीति में अनुभवाधार की मात्रा (यदि इस शब्द का बृहत् अर्थ लिया जाए) वैज्ञानिक अध्ययन से कम हो जाएगी ? यदि ऐसा है तो क्या मानव समाज को संगठित करने की व्यावहारिक कला में इस प्रकार विज्ञान को लाने से इस स्वतन्त्र राष्ट्र को लाभ होगा ?

इन प्रश्नों के लिए मेरा उत्तर 'हाँ' है। इस बारे में मेरा विश्वास इस मान्यता पर आधारित है कि मानव और समाज सम्बन्धी विज्ञान का विकास वर्तमान तकनीकों और धारणाओं के फलप्रद उपयोग के साथ-साथ होगा। शायद लोग यह नहीं जानते कि पिछले दस वर्षों में कितनी प्रगति की जा चुकी है और आज व्यावहारिक, मानवीय समस्याओं को हल करने के लिए कैसी-कैसी नई तकनीकें निकल आई हैं। सबसे अधिक आशा तो भविष्य के बारे में है, क्योंकि मेरे विचार में सर्वाधिक उत्साही मनोवैज्ञानिक या नृतत्व वैज्ञानिक भी तुरन्त यह स्वीकार कर लेंगे कि इस समय उपलब्ध धारणा-पद्धतियाँ वैसी ही हैं, जैसी रसायनज्ञ और भौतिक-वैज्ञानिक 18वीं शताब्दी के अन्त में प्रयुक्त कर रहे थे। परिणामतः मानव व्यवहार से सम्बन्धित विज्ञानों को जहाँ कहीं भी व्यवहारिक उपयोग में लाया जाता है, अनुभवाधार की मात्रा अधिक रहती है।

जैसा कि पिछले कुछ वर्षों में चिकित्सा-विज्ञानों में हुआ है, कि जो लोग व्यावहारिक समस्याओं में रत रहते हैं उन्हीं में से कुछ ऐसे होते हैं जो विज्ञान

ो आगे बढ़ाते हैं । पास्चर के जीवन से इस बात का उदाहरण मिलता है कि
क रसायनज्ञ अपने से बहुत दूर के क्षेत्र में काम करनेवाले व्यक्ति को परामर्श
सकता है । व्यावहारिक वैज्ञानिक के रूप में उसने तात्कालिक समस्याओं को
ल किया और प्राणि विज्ञान की उन शाखाओं में अनुभवाधार की मात्रा कम
र दी जिनमें उसने काम किया । सिद्धान्त और व्यवहार की पृथकता जो
्यूटन, क्लार्क मेक्सवेल और डार्विन तक में पाई जाती है उससे भ्रम में पड़ने
ा भय है । ऐसे स्थान और समय भी होते हैं जब विशुद्धतम विज्ञान पृथक्
हकर विकसित नहीं हो सकता । दूसरी ओर यह आशा की जा सकती है कि
न्तिम उपभोक्ता, अर्थात् जनसाधारण, और व्यावहारिक व्यक्ति शीघ्र परि-
ााम पाने के लिए अधिक ज़ोर नहीं देंगे और यह भी समझ लेंगे कि निश्चय-
र्वक कभी भी यह नहीं कहा जा सकता कि आधी शताब्दी में कितना विकास
ो जाएगा । इस समय उपलब्ध ज्ञान को क्रियान्वित करनेवाली योजनाएँ इतनी
ाधिक या इतनी भारी नहीं होनी चाहिए कि. प्रयुक्त विधियों में अनुभवाधार
ी मात्रा को कम करने के प्रयास को अवरुद्ध कर दें । दीर्घकालीन कार्यक्रमों
ा लिए पर्याप्त सहायता और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है । यह
हायता आंशिक रूप से सरकारी कोष में से दी जा सकती है । हमारे स्वतन्त्र
माज को मानव प्रकृति के मूल सिद्धान्तों को समझने की आवश्यकता औरों
ी अपेक्षा अधिक है । अतीत का अनुभववाद किसी पुलिस राज्य के शासकों के
लए पर्याप्त हो सकता है किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्रों को इस युग के सामाजिक
वज्ञानों के सम्भव विकास से मिलनेवाली अधिक-से-अधिक सहायता की
ावश्यकता है ।

हमें इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि समाज-वैज्ञानिकों का कोई भी दल
ूलभूत राष्ट्रीय समस्याओं के हल वैसे ही ढूंढ़ सकता है जैसे इंजीनियर पुलों
ौर मशीनों की रूपरेखा की समस्याओं का हल निकालते हैं । अतीत की भाँति
ाविष्य में भी नीति सम्बन्धी प्रश्न सरकारी अधिकारियों, व्यापारिक कार्य-
ारियों तथा श्रमिक नेताओं को ही हल करने होंगे । इनको 'ठीक' उत्तर पाने
ा लिए वैज्ञानिक विशेषज्ञों के हवाले नहीं किया जा सकता । निर्णय प्रायः
नुभव, योग्य विश्लेषणकारियों तथा सामाजिक तत्त्ववेत्ताओं के परामर्श के
ाधार पर होने चाहिए । अनुभव के प्रसार के रूप में इतिहास शासकों
ौर नीति निर्धारिकों का अगुआ रहेगा । तो भी समाज वैज्ञानिकों के
ृष्टिकोण से कुछ तात्कालिक सहायता मिल सकती है । जिन समस्याओं पर

समाज-मनोवैज्ञानिक, समाज-वैज्ञानिक और नृतत्व-वैज्ञानिक से सहायता मिल सकती है, वे मानव सम्बन्धों तथा व्यक्तियों एवं समूहों के ऐसे विवादों से सम्बन्धित हैं जो आधुनिक जीवन की परिस्थितियों से इतना अधिक गम्भीर हो गए हैं। मनुष्य के सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन से जितना भी विकास हो जाए, उससे अमेरिका के लोगों को लाभ होगा।

मूल्य निर्धारण और समाज-वैज्ञानिक

यदि समाज-वैज्ञानिक ऐसा व्यक्ति समझा जाए जो राजनीति में अनुभवाधार की मात्रा कम करना चाहता हो (यहाँ अनुभवाधार शब्द वृहद् अर्थों में प्रयुक्त हुआ है), तो वह कई प्रकार से चिकित्सा-वैज्ञानिक के अनुरूप है। परन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं, सामाजिक आदर्शों और नैतिक विचारों का क्या होगा। कहा जा सकता है कि जहाँ तक मूल्य-निर्णय का सम्बन्ध है, विज्ञान तटस्थ है और इस प्रकार के निर्णय राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के मूल हैं।

किन्तु पहले अकसर कही जाने वाली वात पर विचार कर लिया जाए कि विज्ञान मूल्य-सम्बन्धी निर्णय के बारे में तटस्थ है। क्या यह वह तीन-चौथाई सत्य नहीं, जो अर्द्ध-सत्य के समान खतरनाक है? आइए पहले आज के चिकित्सा-विज्ञानों पर विचार करें। मानव रोगों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्वेषक और चिकित्सक लगभग अनजाने रूप से कुछ मूल्यों को स्वीकार करते हैं जिनसे एक ओर तो उनका कार्यक्षेत्र सीमित हो जाता है और दूसरी ओर उनके प्रयासों को प्रोत्साहन मिलता है। जब विज्ञान की तटस्थता घोषित की जाती है तो इस वात को भुला दिया जाता है। रोग के अध्ययन के लिए धन वही समाज बहाएगा जो जीवन को मृत्यु से श्रेष्ठ मानता हो और स्वास्थ्य को उच्च स्थान देता हो। आज हमारे चिकित्सक, शल्यकार और चिकित्सा-वैज्ञानिक जिस प्रकार काम करते हैं, वह काम तभी संभव होगा जब प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व इतनी प्रबलता से अनुभव किया जाएगा कि उसके जीवन को किसी भी मूल्य पर बचाना सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझा जाए। चिकित्सा का हमारा स्तर और इस स्तर को ऊँचा ले जाने की हमारी इच्छा मूल्य-निर्णयों के एक क्रम पर आधारित है। मैं वात साफ कर दूँ—मुझे इन मान्यताओं से मतभेद नहीं है। मैं तो केवल इस वात की ओर संकेत कर रहा हूँ कि ये मान्यताएँ चिकित्सा-विज्ञानों के क्षेत्र में होनेवाले सभी कामों की आधार हैं। और मैं यह इसलिए कर रहा हूँ

क्योंकि मानव व्यवहार और मानव सम्बन्धों की जाँच करनेवाले वैज्ञानिकों की भी यही अवस्था है।

आधुनिक औद्योगीकृत संसार में चिकित्सा क्षेत्र में काम करनेवालों और उनके साथियों की मान्यताएँ प्रायः स्वीकार कर ली गई हैं, यद्यपि व्यवहार में मानव जीवन का जो मूल्य आँका जाता है उसमें परिवर्तन होता है। हमारे अपूर्व समाज में मनोवैज्ञानिक, नृतत्व-वैज्ञानिक और समाज़-वैज्ञानिक के ठीक से काम करने के लिए आवश्यक मान्यताएँ मेरे विचार में उतनी ही विशिष्ट हैं जितना इस समाज का इतिहास स्वयं। जिस तरह के समाज में लोग काम करना चाहेंगे, उस समाज का प्रभाव भी उन पर पड़ेगा। कई स्थानों पर अंग्रेजी और अमरीकी रूपों में भी अन्तर हो सकता है। यद्यपि मूल एक ही होगा। सर्वाधिकारवादी राष्ट्र इन वैज्ञानिकों द्वारा विकसित विधियों को सर्वथा भिन्न उद्देश्यों के लिए उपयोग में लाएँगे और उनके उपयोग से स्वयं इन विज्ञानों के भावी विकास पर प्रभाव पड़ेगा। मनुष्य का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक बड़े शक्तिशाली उपकरण तैयार कर रहे हैं। इन उपकरणों की सहायता से कुछ प्रकार के व्यवहार और कुछ सामाजिक ढाँचे विकसित या विनष्ट किए जा सकते हैं। इसलिए इन लोगों के लिए आवश्यक है कि ये कई मामलों में अपने मस्तिष्कों में अपने मानदण्ड को निर्धारित कर लें। ठीक ऐसा ही बहुत पहले चिकित्सा व्यवसाय ने उन लोगों की समस्याओं का निर्णय कर लिया था जिनके ज्ञान पर रोगी के जीवन और मृत्यु निर्भर थे।

वैज्ञानिक और सरकार

चिकित्सा व्यवसाय की नैतिकता की भाँति विज्ञान की परम्पराएँ भी ऐसे सामाजिक संगठन की उपज हैं जिसका प्रसार अन्तर्राष्ट्रीय है और जो सभी राज्यों से स्वाधीन है। आज जब औद्योगीकृत राष्ट्र के अस्तित्व और वैज्ञानिक ज्ञान के उपयोग का इतना निकट सम्बन्ध है तो क्या यह स्वाधीनता सुरक्षित रखी जा सकती है? यह एक गम्भीर प्रश्न है, जिसका सन्तोषपूर्ण उत्तर तुरन्त नहीं दिया जा सकता। सार्वजनिक निधि से मिलनेवाली सभी सहायता को सन्देह की दृष्टि से देखनेवाले लोग इस प्रश्न पर निराशाजनक बहस करते रहने में ही आनन्द लेते हैं। जनसामान्य के डालरों के होने या न होने पर भी आज का वैज्ञानिक उस स्थिति से बच नहीं सकता जहाँ उसकी विशेषता का संगठित समाज के लिए अतीव महत्त्व है। हम इसे पसन्द करें या न करें, हम ऐसे युग

में रह रहे हैं जिसमें सरकार को वैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों को सरकार के बारे में अधिकाधिक अवगत होना पड़ेगा। राजनीतिज्ञ और अन्वेपक एक-दूसरे की अवहेलना नहीं कर सकते। आधुनिक युद्धकला के साथ विज्ञान का जो निकट सम्बन्ध हो गया है उसने राजनीतिज्ञ तथा प्राकृतिक वैज्ञानिक के दो सर्वथा विभिन्न व्यवसायों को पास-पास ला दिया है। इस अवस्था में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञान का भावी विकास बहुत हद तक राज्य के कार्यकारियों की कार्यवाहियों पर निर्भर है। और लोकतन्त्र में इसका अर्थ यह है कि लोकमत प्रमुख पार्ट अदा करेगा।

अमेरिका में विशुद्ध विज्ञान के अनुसन्धान की तीव्रता बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि जनता को अनुसन्धान की प्रगति से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण बातों के बारे में अधिक-से-अधिक ज्ञान हो। इस बात पर पिछले अध्यायों में काफी ज़ोर दिया जा चुका है। किन्तु विज्ञान और समाज के परस्पर प्रभाव के बारे में एक और उदाहरण उचित रहेगा। आज राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक के समक्ष जिस प्रकार की कठिन समस्याएँ आती हैं, उनमें गोपनीयता और सेंसरशिप की समस्याएँ सर्वाधिक उलझन-भरी हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् उन भौतिक शक्तियों और आणविक रसायनज्ञों की द्विविधा के बारे में बहुत चर्चा हो चुकी है जिनका किसी-न-किसी रूप में परमाणु शस्त्रों के निर्माण से सम्बन्ध था। नये सामरिक साज़ो-सामान के नमूने हमेशा गुप्त रखे जाते थे। इसका कारण स्पष्ट है। इसलिए, कहा जा सकता है परमाणु बम से सम्बन्धित हर बात को एकदम गुप्त रखा जाना चाहिए। फिर भी विज्ञान का विकास तभी हो सकता है जब कुछ भी गुप्त न हो। यह है वास्तविक द्विविधा। इस शताब्दी के छठवें दशक में भी प्रयोगशाला से युद्धक्षेत्र तक की श्रृंखला निरन्तर है तो कौन निर्णय करेगा कि यह विज्ञान है और इसलिए सार्वजनिक है तथा यह नये सामरिक साजोसामान के लिए मूलभूत है और इसलिए गुप्त है? इस समस्या को प्रस्तुत करने-मात्र से ही तनावों का पता चल जाता है।

यह ठीक है कि विज्ञान का शस्त्र निर्माण के साथ गठबंधन इस शताब्दी के पाँचवें दशक में शुरू हुआ है, किन्तु विज्ञान और गोपनीयता में समन्वय स्थापित करने की उलझन नई नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में रबड़ निर्माताओं ने जिन रसायनज्ञों को नौकरी दे रखी थी उनको इस बात की आज्ञा नहीं थी कि कम्पनी से बाहर किसी व्यक्ति से रबड़ की आधारभूत रासायनिकता के बारे में भी बात कर सकें। किन्तु कुछ वर्ष बाद यह हालत नहीं रही।

अमेरिकी रसायन सोसायटी का रवड़ विभाग ही वहुत आधारभूत समस्याओं को सुलझाने का फोरम बन गया। वहुत हद तक गोपनीयता का स्थान पेटेंट संरक्षण ने ले लिया। जब जर्मन विज्ञान अपने शिखर पर था तो एकाधिक वैज्ञानिक एक रासायनिक फर्म के परामर्शदाता थे। वह अपनी प्रयोगशाला में रंग या औषधि बनाने के जो नये तरीके निकालते थे वह पेटेंट करवा लिए जाते थे जिससे कम्पनी और प्रोफेसर दोनों को लाभ पहुँचता था। जब यह कार्यवाहियाँ चल रही होती थीं तो दैनिक सफलताओं की चर्चा थोड़े-से व्यक्तियों तक ही सीमित रहती थी। वोतलों के लेवल भी गुप्त भाषा में लिखे होते थे। इन अवस्थाओं में भी गोपनीयता थोड़े लोगों और थोड़े समय तक सीमित रही। किन्तु गोपनीयता के ऐसे प्रयासों से प्रयोगशाला का वातावरण विगड़ सकता है, इस वात की साक्षी कई लोगों ने दी है। इतिहास वताता है कि विज्ञान और गोपनीयता एक-दूसरे के शत्रु हैं।

यह खतरा बड़ा गम्भीर है कि यदि सर्वसाधारण ने खुले प्रकाशन और चर्चा का महत्त्व न समझा तो अमेरिका में विज्ञान का विकास वहुत हद तक रुक जाएगा। निश्चय ही यह आशा नहीं की जा सकती कि सशस्त्र युद्धविराम के दौरान राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति उत्तरदायी लोग अपनी सतर्कता कम कर दें। वे तो अनिवार्यतः गोपनीयता वनाए रखेंगे। इसीलिए मैं इस वात को महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि (व्यावहारिक अनुसंधान और विकास के अतिरिक्त) विशुद्ध विज्ञान के लिए सरकारी सहायता एक 'नेशनल साइंस फाउंडेशन' के द्वारा आनी चाहिए। यद्यपि इस मामले में डिफेन्स एस्टेब्लिशमेंट ने वहुत धैर्य दिखाया है और अधिकारियों की दूरदर्शिता प्रशंसनीय है, यह मूलतः असंगत वात है कि अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक अध्यवसाय के विकास और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की तैयारी का निकट सम्बन्ध हो।

परन्तु क्या युद्धोत्तरकाल में विज्ञान की प्रगति के सामने सबसे बड़ी अड़चन सामरिक गोपनीयता ही आई है? क्या 1950 में भी यह बात सत्य है कि विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक अध्यवसाय है? दुर्भाग्य से नहीं। विभाजित संसार में सबसे बड़े दुःख की वात है बौद्धिक और सांस्कृतिक कार्यों के प्रति दलगत और कट्टर सैद्धान्तिक प्रवृत्ति, जिसे सोवियत संघ और उसके प्रभाव-क्षेत्र के अन्य राष्ट्रों के शासकों ने बहुत स्पष्ट कर दिया है। इस प्रवृत्ति का अर्थ यह नहीं कि उन्हें विज्ञान की महत्ता से इन्कार है। वात इसके विपरीत है। पिछले दो दशकों में वहुत-से लोग क्रेमलिन की विज्ञान के प्रति दिलचस्पी से

प्रभावित हुए हैं। 1945 की गर्मियों में रशियन अकादेमी ऑफ़ साइंस के समारोह में भाग लेने के लिए विशेष आमन्त्रण पाकर जो वैज्ञानिक वहाँ गए थे उन्होंने इस बात पर बड़ा सन्तोष प्रकट किया कि वैज्ञानिकों के सम्मान समारोहों में स्तालिन की काफ़ी दिलचस्पी थी। तुरन्त एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि विज्ञान में सोवियत संघ के उच्चतम अधिकारियों की रुचि का प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने प्रौद्योगिकी के लिए आधुनिक विज्ञान की महत्ता को समझ लिया है। इस बात का महत्त्व तो है, किन्तु इसे एकमात्र या प्रमुख कारण मान लेना भी ग़लती है।

'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' एक सरकारी प्रकाशन है। इसमें लेखकों ने जिक्र किया है कि 1909 में प्रकाशित लेनिन की पुस्तक 'मैटीरियलिज़्म एण्ड एम्पीरियो-क्रिटिसिज़्म' का पार्टी के इतिहास में बहुत बड़ा पार्ट है। बोल्शेविक पार्टी के अधिकृत इतिहासकार आगे चलकर कहते हैं कि इस पुस्तक ने "सैद्धान्तिक कोष को अवलोकनवादियों और भगोड़ों के गुट से सुरक्षित रखा।' यह समझना बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि वह विवाद, जिसमें रूस के भावी शासक के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम का जिक्र है, वैज्ञानिक सत्य की प्रवृत्ति से सम्बन्धित था।

बताया जाता है कि चालीस या इससे कुछ अधिक वर्ष पूर्व भौतिकी के क्षेत्र में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के औचित्य और अर्थ के बारे में कुछ भ्रान्त सिद्धान्तों के कारण कम्युनिस्ट पार्टी का सारा भविष्य खतरे में पड़ गया था। क्या इस बात पर हैरानी हो सकती है कि एक समरूप राजनीतिक पार्टी, जो अपने इतिहास की व्याख्या इस प्रकार करती है, वैज्ञानिक सिद्धान्तों और उनकी व्याख्या को भी सरकारी योग्यता का क्षेत्र मानती रहेगी? जैसा कि उपर्युक्त इतिहास स्पष्ट रूप से कहता है कोई क्रान्तिकारी पार्टी ऐसे किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेगी जैसे 'विविधता में एकता का सिद्धान्त'। इसके विपरीत पार्टी की सफलता प्रारम्भ से ही कट्टर अनुसरण पर आधारित रही है और जो लोग मार्क्स-लेनिन के सिद्धान्तों के अनुसार 'समाज विकास के विज्ञान' को नहीं समझते थे या समझने से इन्कार करते थे उनको पार्टी से निकाल दिया जाता था।

इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि आज जो लोग पार्टी पर नियन्त्रण कर रहे हैं अपने पूर्वगामियों से कम दृढ़ हैं। वे वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अधिकृत ढाँचे में नहीं समाते, स्पष्टतः पाखण्ड हैं। एक बार इस बात का विश्वास हो जाए तो पूर्व प्रतिपादक सार्वजनिक रूप से

अपनी ग़लती मान लेंगे। पश्चिमी लोकतन्त्रों के बहुत-से लोगों के लिए यह समझना कठिन तो होगा, परन्तु चर्च के वफादार बेटों का अपने ग़लत विचारों को स्वीकार करके उनसे पीछे हट जाना इतिहास में कोई नई बात नहीं।

यह तथ्य है कि प्राणिविज्ञान में नये प्रायोगिक ज्ञान का आनुवंशिकता सम्बन्धी बृहद् साधारणीकरणों से निकट सम्बन्ध हो सकता है और इस प्रकार राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्तों पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए इस क्षेत्र में जो विवाद उठते हैं उनमें दिलचस्पी बढ़ जाती है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस वर्ष के अन्दर 'प्रावदा' ने कम-से-कम एक लेख छापा है जिसमें आधुनिक सैद्धान्तिक भौतिकी की आलोचना की गई है। पश्चिमी लोकतन्त्रों के 99 प्रतिशत राजनीतिज्ञों को जिन बातों में तनिक भी दिलचस्पी न होगी उन्हें वहाँ गम्भीर महत्त्व दिया गया है।

कहा जा सकता है कि प्रजनन-विज्ञान सम्बन्धी कम्युनिस्ट घोषणाओं से प्रतीत होता है कि अपेक्षाकृत अज्ञानी और निर्मम लोग पार्टी की नीति विज्ञान के क्षेत्र में निर्धारित कर रहे हैं। परन्तु क्या यह सभी अधिकारवादी व्यवस्थाओं की आन्तरिक विशेषता नहीं है कि प्रति वर्ष कुछ मनुष्य, (जो ग़लती कर सकते हैं) यह तय करें कि सत्य सिद्धान्त क्या है और क्या नहीं ? उनके निर्णय राजनीति से, जोकि प्रायः गन्दी और व्यक्तिगत हो सकती है, प्रभावित होते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के समर्थक सभी देशों में भौतिक विज्ञानों को उच्च महत्त्व देते हैं और वैज्ञानिक विधि के बारे में खूब बातें बनाते हैं। जब इस दर्शन का एक रूप पार्टी का अधिकृत सिद्धान्त बन जाता है तो ऐसी पार्टी में जहाँ विरोध सहन नहीं किया जाता, वैज्ञानिक विचार की स्वतन्त्रता स्वतः ही मिट जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विशाल सीमाओं के अन्तर्गत वैज्ञानिक खोज की सक्रिय सहायता नहीं की जाएगी और प्रौद्योगिकी का विकास नहीं होगा। परन्तु क्या ऐसे समाज में वास्तविक वैज्ञानिक स्वतन्त्रता हो सकती है, जहाँ दार्शनिक विचार का पार्टी के विचारों की अधिकृत व्याख्या के अनुकूल होना आवश्यक है ? कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास का अध्ययन करते समय यह प्रश्न अनिवार्यतः उठता है।

मई 1949 के प्रावदा में प्रकाशित एक लेख 'लेनिन तथा आधुनिक भौतिकी की दार्शनिक समस्याएँ' में सोवियत संघ की अकादेमी ऑफ़ साइंस के अध्यक्ष एस० आई० वावीलोव ने भौतिकी और राजनीति की समस्याओं को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है :

"समस्त सोवियत विज्ञान के साथ-साथ सोवियत भौतिकी भी बहुत पहले राज्य के जीवन में प्रविष्ट हुई। इसने अपनी सारी शक्तियाँ स्वदेश की सेवा और कम्युनिस्ट समाज के निर्माण के महान् कार्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगा दीं।

"सोवियत भौतिक-वैज्ञानिक अपना कार्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के आधार पर करते हैं, जिसे लेनिन और स्तालिन के प्रतिभापूर्ण कार्य ने एक ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया है। किन्तु हम इस बात की ओर से आँखें नहीं मूँद सकते कि हमारे भौतिक-वैज्ञानिकों में अभी भी कुछ आदर्शवादिता के अंश हैं, जिनको पूँजीवादी देशों से आनेवाले साहित्य के आलोचनाविहीन अवलोकन से अधिक बल मिलता है।

"हमारा प्रमुख काम यह है कि निर्मम आलोचना और आत्मालोचना द्वारा इन अवशेषों के विरुद्ध संघर्ष करें। इनका हानिकारक प्रभाव बहुत अधिक है। भौतिक-वैज्ञानिकों को इसके विरुद्ध सक्रियता से संघर्ष करना चाहिए।......"

प्राचीनतावादी कम्युनिस्ट स्थिति की सम्भवत: सबसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति मई 1950 में अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'नेचर' में प्रकाशित एक लेख में हुई है। यहाँ मास्को की 'अकादेमी ऑफ़ साइंस' के 'इन्स्टीट्यूट ऑफ़ जैनेटिक्स' के एक सदस्य ने जूलियन हक्सले की आलोचना का उत्तर दिया है। हक्सले का वक्तव्य था : "एक महान् वैज्ञानिक राष्ट्र ने विज्ञान के विश्वव्यापी और राष्ट्रीयता से ऊपर होने का गुण समाप्त कर दिया है।" इसका हवाला देते हुए रूसी वैज्ञानिक ने कहा है कि यह सत्य नहीं है। वह कहता है कि 'सोवियत विज्ञान ने कभी भी ये प्रतिक्रियावादी दावे स्वीकार नहीं किए। यह तो सदा इनके विरुद्ध लड़ता रहा है।' आगे चलकर वह कहता है कि "विज्ञान, और इसलिए सोवियत विज्ञान, दलगत विज्ञान है, श्रेणीगत विज्ञान है......"बुर्जुआ और उनके सिद्धान्तनिर्माता, चाहे वह प्राणिवैज्ञानिक हों चाहे न हों, सदा यह स्वीकार करने से घबराते रहे हैं कि विज्ञान दलगत होता है......विज्ञान के 'श्रेणियों से ऊपर' और 'राष्ट्रों से ऊपर' होने के बारे में यह जो शब्दों का बवण्डर है इससे हक्सले के निश्चित श्रेणीगत आदर्शों को शह मिलती है।"

1950 में जब हम रूसी वैज्ञानिकों के ऐसे वक्तव्य पढ़ते हैं तो लगता है कि हम विचार-विनिमय के किसी दूसरे संसार में पहुँच गए हैं। पार्टी नीति का अनुसरण करनेवाले के लिए विज्ञान वह विज्ञान नहीं है जिसका वर्णन मैंने किया है और परिभाषा दी है। स्वतन्त्र संसार के वैज्ञानिक जिन बातों को

निरपवाद स्वीकार करते हैं, उन सब को लौह-पर्दे के पीछे अस्वीकृत कर दिया जाता है और उनकी हँसी उड़ाई जाती है। इस अवस्था में दो संसारों के वैज्ञानिकों का कोई भाईचारा सम्भव नहीं। यदि कोई सहयोग या ज्ञान-विनिमय हो जाए तो इसे सौभाग्यशाली आकस्मिक घटना ही समझना चाहिए। संक्षेप में, कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी की आज्ञाओं के अनुसार सम्पूर्ण विज्ञान को एक नवीन सामाजिक घटना मानना चाहिए। यही नहीं कि मास्को में वैज्ञानिक लेखों पर सैनिक गोपनीयता की दृष्टि से सेंसरशिप है, बल्कि लेखकों के ऊपर कई प्रकार के सामाजिक दबाव पड़ते हैं।

यदि ऐसा है तो क्या हमें यह विश्वास छोड़ देना चाहिए कि विज्ञान का विकास एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य है? कदापि नहीं। कुछ समय के लिए हमें अनिच्छापूर्वक लौह-पर्दे के उस पार के वैज्ञानिकों को विशेष श्रेणी में रख देना चाहिए। हम लोगों की भाँति वे विज्ञान को राष्ट्रीय सीमाओं में बाँधा न जा सकने वाला नहीं समझते। किन्तु अस्थायी रूप से इन लोगों का साथ खोकर हमारे लिए इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है कि हम विज्ञान की अगोपनीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति पर ज़ोर दें। चाहे वैज्ञानिक ज्ञान और विचार एक ही दिशा में बहने लगें (अर्थात् स्वतन्त्र राष्ट्रों से रूस की ओर) तो भी बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम निराबद्ध अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान की परम्परा को बनाए रखें।

व्यापारिक फ़र्मों में जब प्रौद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा चल रही हो तो सबसे अधिक प्रगतिशील कम्पनी को ही विज्ञान की प्रगति से सबसे अधिक लाभ होता है। इसलिए वैज्ञानिक अनुसंधान की तीव्रता से अमेरिका को एक राष्ट्र की हैसियत से अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक लाभ होगा। व्यावहारिक अनुसंधान और इंजीनियरिंग विकास के लिए काम करनेवाले और उपकरण हमारे पास अपार हैं। हम विशुद्ध विज्ञान की प्रयोगशालाओं से आनेवाले नये सिद्धान्तों और नई खोज को स्वीकार करने और उनको भली भाँति उपयोग में लाकर उनका पूरा-पूरा लाभ उठाने को तत्पर हैं। इसलिए, दूसरे राष्ट्र चाहें जो कुछ करें और समय का तनाव चाहे जैसा हो, हमें विज्ञान का विकास जारी रखना चाहिए; और इसका अर्थ है खोज, विचार-विमर्श और प्रकाशन की स्वतन्त्रता को क़ायम रखना।